जैन मुनि के व्रतारोपण की त्रैकालिक उपयोगिता नव्ययुग के संदर्भ में

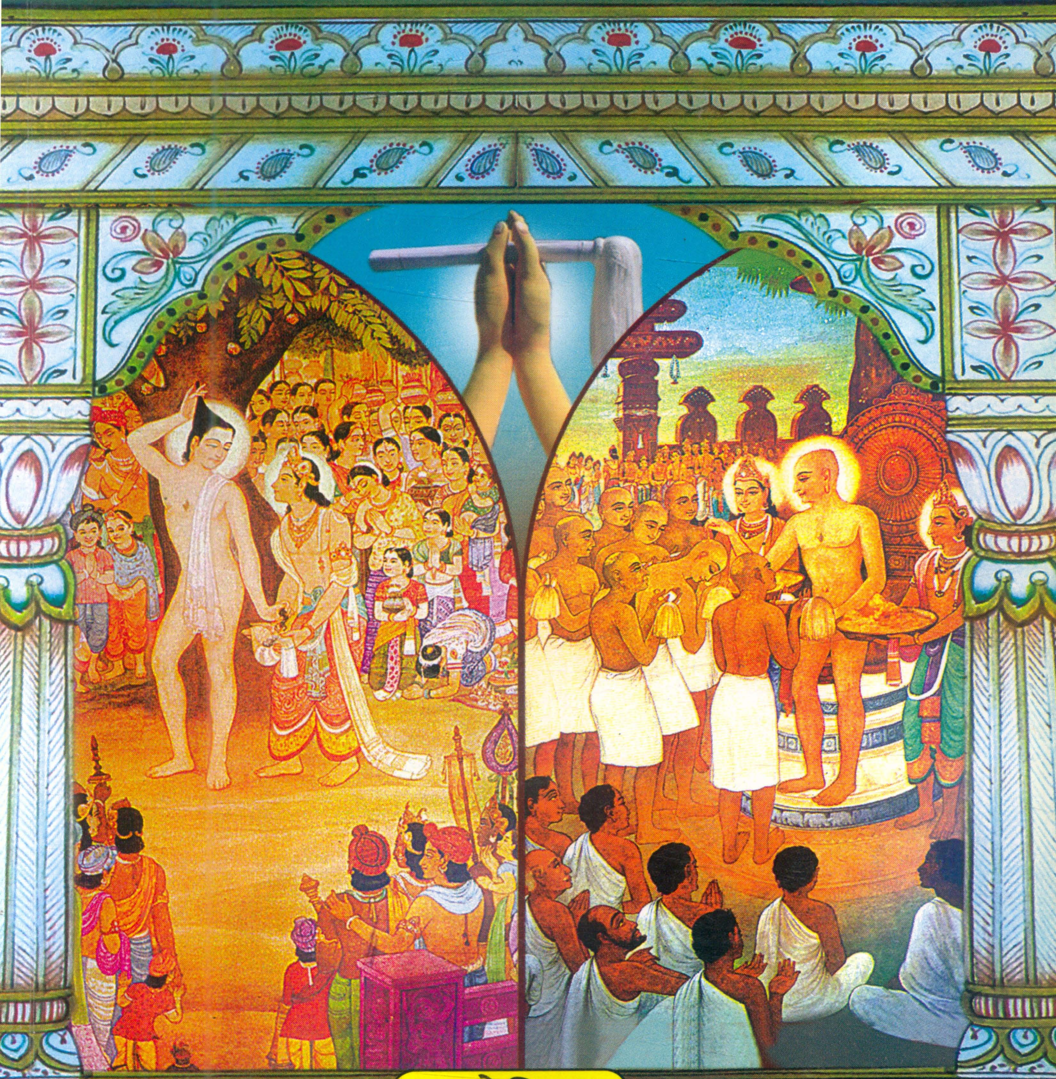

सम्बोधिका

पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

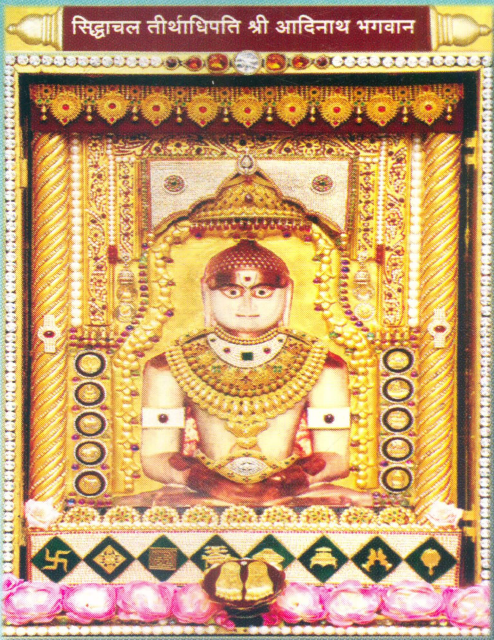
सिद्धाचल तीर्थाधिपति श्री आदिनाथ भगवान

श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी

श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)

श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)

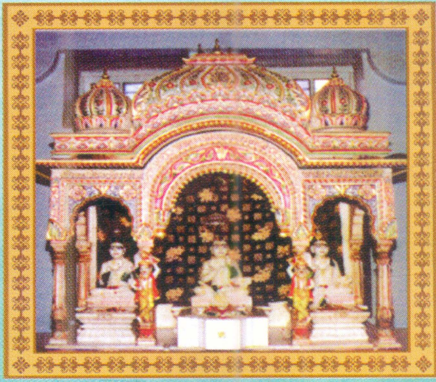
श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

जैन मुनि के व्रतारोपण की त्रैकालिक उपयोगिता

नव्य युग के संदर्भ में

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-4

2012-13

R.J. 241 / 2007

शोधार्थी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक

डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय

लाडनूं-341306 (राज.)

जैन मुनि के व्रतारोपण की त्रैकालिक उपयोगिता
नव्य युग के संदर्भ में

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-4

णाणस्स सारमायारो

स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

जैन मुनि के व्रतारोपण की त्रैकालिक उपयोगिता नव्य युग के संदर्भ में

कृपा दीप : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल दीप : उपाध्याय प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द दीप : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा दीप : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य दीप : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह दीप : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा. पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभाजी, सुयोग्या संयमप्रज्ञाजी आदि भगिनी मण्डल

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 100.00
(पुन: प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (IV)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला- दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

वन्दनार्पण

मैं एक अनगढ़ पत्थर थी
तुमने मेरा उद्धार किया।
ज्ञान हथोड़ा संयम छेनी से
मुझको एक आकार दिया।।

अपने हाथ बिछा धरती पर
मुश्किल घड़ियों में आधार दिया।
जीवन के प्रत्येक मोड़ पर
अविचल रहने का सद्बोध दिया।।

मोह माया बंधन से मुक्त कर
उन्मुक्त गगन का आस्वाद दिया।
सद्ज्ञानामृत का अभिसिञ्चन कर
मुक्ति रमणी का वरदान दिया।।

स्मृति लहरे उठती हर पल
मुझ मन आंगन गीला करती।
तेरा तुझको अर्पण करके
अश्रु वीणा चरणे धरती।।

ऐसी आत्मानन्दी, सजग प्रहरी, शास्त्र मर्मज्ञा,
कलिकाल में चतुर्थ आरे की प्रतिमूर्त्ति
प्रवर्त्तिनी महोदया पूज्य गुरुवर्य्या सज्जन श्रीजी म. सा. के
अनन्त आस्थामय पाणि युग्मों में
सर्वात्मना समर्पित।

सज्जन हृदयाभिलाषा

परिग्रह, परिवार एवं परिस्थिति के राग में
भौतिकता, भोग एवं भ्रान्तियों के चक्रव्यूह में
सत्ता, सम्पत्ति एवं सुन्दरता की चाह में
आज का मानव विस्मृत कर चुका है
अध्यात्म संस्कृति की सम्पदा को
मन मोहक संसार की असारता को
सुख एवं ऐश्वर्य की क्षण भंगुरता को
ऐसे में
मर्यादाओं का पुनः आह्वान हो
संयम मूल्यों की पहचान हो
स्वस्थ समाज का निर्माण हो
इसी आन्तरिक अभ्यर्थना के साथ
एक मौलिक चिन्तन...

हार्दिक अनुमोदन

जयपुर हाल मुंबई निवासी श्रेष्ठीवर्य

श्री गुलाबचन्दजी–शान्ता देवी की

मधुर स्मृति में

समाज समर्पित पुत्ररत्न

श्री नेमिचंद-सुशीला, रिखबचंद-प्रतिभा,

शीतल-चंचल, रमेश-कमलेश, सुनील-उर्मिला,

श्रीचंद, विनयचंद

पौत्र

अजित-निशा, हर्ष

प्रपौत्र

विहान झाड़चूर परिवार

श्रुतदान की परम्परा के पुण्य पुरुष
श्री रिखबचंदजी झाड़चूर, मुंबई

किसी भी व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधना दुष्कर है क्योंकि शब्द सीमित है और व्यक्तित्व की ऊँचाईयाँ अपरिमित होती है। अपरिमित को परिमित में बाँधना सागर को गागर में समाने का बाल प्रयास है। ऐसे अपरिमित व्यक्तित्व के धनी श्री रिखबचंदजी झाड़चूर का जन्म जौहरियों की नगरी जयपुर में सन् 1953 को हुआ। आपके पिता श्री गुलाबचंदजी झाड़चूर समाज के प्रतिष्ठित ज़ौहरी होने के साथ-साथ धर्मनिष्ठ आराधक थे। सेवा परायणा मातु श्री शान्ति देवी के द्वारा 11 भाई-बहिनों को धर्म संस्कारों की खुशबू से नवाजा गया। माता-पिता के संस्कारों का सिंचन करते हुए आप सभी भाई-बहिन अपने-अपने क्षेत्र में जैन धर्म की पताका फहरा रहे हैं।

रिखबचन्दजी ने अपना शैक्षणिक अध्ययन (M.Com., L.L.B.) पूर्ण करने के पश्चात मुम्बई आकर पिताजी के कारोबार को आगे बढ़ाया। आज मुम्बई या जयपुर ही नहीं अपितु सम्पूर्ण खरतरगच्छ समाज आपकी सरलता, दानवीरता एवं सामाजिक उत्थान के प्रयासों से परिचित है।

पिछले 10 वर्षों तक अखिल भारतीय खरतरगच्छ महासंघ की कार्यकारिणी सदस्य के रूप में रहने के बाद आप अभी अध्यक्ष पद की शोभा बढ़ा रहे हैं। आपके सामाजिक वर्चस्व के कारण नवनिर्मित तलेगाँव पार्श्वनाथ जिनालय के ट्रस्टी पद से आपको मनोनीत किया गया है।

जिन शासन के प्रति पूर्ण रूपेण समर्पित आपका जीवन एक महान प्रेरणा सूत्र है। व्यक्ति में छिपी हुई प्रतिभाओं को उजागर करने एवं जन चेतना को उत्साहित करने में आप सदैव अग्रणी रहते हैं। ज्योति संदेश वार्त्ता में प्रायोजित प्रश्नोत्तरी के पुरस्कार प्रायोजक का लाभ आप ही ले रहे हैं। श्रुत साधना में रत साधु-साध्वियों को अध्ययन सम्बन्धी सुविधाएँ उपलब्ध करवाने में आप सदा तत्पर रहते हैं इसी कारण आपको देखने मात्र से साधु-साध्वियों के हृदय में पितृवत् भाव उमड़ आते हैं। आज आप जिस मुकाम पर खड़े होकर सम्पूर्ण जैन

समाज के लिए प्रेरणा बन रहे हैं, वह कोई सामान्य स्थान नहीं है। कहते हैं–

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर।
महत् कर्म के लिए चाहिए
महत् प्रेरणा बल भी भीतर।।

गांभीर्य मूर्ति, स्वाध्याय प्रेमी, आपकी जीवन संगिनी श्रीमती प्रतिभाजी और आपका असीम पुण्य बल ही जिनशासन की महती प्रभावना में हेतुभूत बन रहा है। आपके सुपुत्र अजित एवं हर्ष झाड़चूर परिवार की सामाजिक एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठा को चार चाँद ही लगा रहे हैं।

गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. से झाड़चूर परिवार का जुड़ाव कई दशक पुराना है। स्वाध्याय निमग्ना साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी को आप खरतरगच्छ की श्रुत साम्राज्ञी मानते हैं और उनके प्रति विशेष श्रद्धान्वित भी हैं। मुम्बई चातुर्मास के बाद से ही आप उनके अध्ययन कार्य की बराबर जानकारी रखते हैं। आप जैसे श्रावकों की सद्भावनाओं से ही आज यह कार्य सफलता के शिखर पर पहुँच रहा है। आपके इसी प्रेरणास्पद व्यक्तित्व को सज्जनमणि ग्रन्थमाला सलाम करती है क्योंकि आपके व्यक्तित्व में–

उदारता के साथ सरलता, महानता के साथ लघुता, गांभीर्यता के साथ मधुरता, सम्पन्नता के साथ सहजता का अद्भुत समागम है। इसलिए समुद्र से सीमातीत एवं क्षितिज से कल्पनातीत तत्त्व को आप और निखारते हुए चरम व्यक्तित्व रूप निर्वाण पद को प्राप्त करें यही अंतर भावना।

●

सम्पादकीय

जैन धर्म निवृत्ति मूलक धर्म है। यहाँ तप-त्याग को जीवन का अभिन्न अंग माना गया है। इस निवृत्ति परक साधना को जीवन में कैसे जीया जाए? किस प्रकार इसे आचरण का आधार बनाया जाए? किस रूप में इनको अपनाया जाए? आदि का स्पष्ट उल्लेख जैन आगमों में प्राप्त होता है। जैन अनुयायियों के महाव्रत एवं अणुव्रत साधना का विधान आगम ग्रन्थों में निर्दिष्ट है। मुनि जीवन में महाव्रत साधना एवं गृहस्थ साधक के लिए अणुव्रत साधना के रूप में आज भी यह परम्परा आचरित है।

प्रस्तुत कृति में व्रतारोपण विधि की चर्चा की गई है और उसका सम्बन्ध मुनि जीवन में महाव्रतों के आरोपण से है। जैन परम्परा में मुनि जीवन की संयम यात्रा का प्रारम्भ सामायिक चारित्र से होता है। प्राचीन जैन आगमों में सम्यक चारित्र की साधना के पाँच स्तर माने हैं– १. सामायिक चारित्र २. छेदोपस्थापनीय चारित्र ३. सूक्ष्म संपराय चारित्र ४. परिहार विशुद्धि चारित्र ५. यथाख्यात चारित्र। ऐसा माना जाता है कि वर्तमान युग में परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात इन तीनों चारित्रों का पालन सम्भव नहीं है। प्रारम्भ के दो चारित्रों के साथ तो ऐसा संबंध है कि उनके बिना तो मुनि जीवन की साधना में प्रवेश ही नहीं पाया जा सकता, क्योंकि सामायिक की साधना से ही समत्व गुण का विकास संभव होता है और समता में रहना यही मोक्ष का अनन्तर कारण है। वर्तमान में इसे छोटी दीक्षा के नाम से भी जाना जाता है जबकि छेदोपस्थापनीय चारित्र बड़ी दीक्षा के नाम से प्रचलित है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र में महाव्रतों की साधना की जाती है। सामायिक चारित्र की साधना करने वाला साधक यद्यपि मुनि रूप में अपना जीवन यापन करता है किन्तु फिर भी उसे मुनि संघ का साधक नहीं माना जाता। वह एक Intern या Training लेने वाले विद्यार्थी की भाँति होता है जो सामर्थ्य एवं स्वेच्छा अनुसार महाव्रतों का स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकता है। सामायिक साधना यह महाव्रत साधना की पृष्ठाधार भूमि के रूप में कार्य करती है।

सामायिक चारित्र की साधना में जब साधक अपनी परिपूर्णता का अनुभव करता है और गुरु उसे अपनी साधना के योग्य समझ लेता है तो उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र दिया जाता है। यह छेदोपस्थापनीय चारित्र व्रतारोपण या महाव्रतारोपण के रूप में होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि मुनि जीवन के व्रतों

को महाव्रत एवं गृहस्थ के व्रतों को अणुव्रत कहा जाता है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह इन पाँच व्रतों का अपवाद रहित पूर्ण रूपेण पालन महाव्रत कहलाता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र के रूप में तीन करण एवं तीन योग द्वारा इन व्रतों का पालन करने की प्रतिज्ञा की जाती है। साधक के द्वारा इन महाव्रतों का अधिग्रहण ही व्रतारोपण कहलाता है। प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में इस विधि प्रक्रिया का क्रमिक वर्णन किया गया है। इसी के साथ महाव्रतों में दृढ़ता एवं आचरण शुद्धता के लिए पूर्व भूमिका रूप सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण विधि का उल्लेख है। तदनन्तर संयम जीवन सम्बन्धी विविध विधानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। साध्वीजी ने दीक्षा सम्बन्धी विविध पहलुओं एवं जन सामान्य में प्रसरित अनेक भ्रान्त मान्यताओं का भी इसमें निराकरण किया है।

गूढ़ अन्वेषी साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने आगमिक एवं परवर्ती ग्रन्थों के आधार पर इस प्रक्रिया का वर्णन किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया आज भी यथावत प्रचलित है, परन्तु उसमें निहित सूक्ष्म तथ्यों से प्रायः आज का जन जीवन अनभिज्ञ हैं। साध्वीजी ने आगमिक रहस्यों को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हुए युवा एवं भौतिकतावादी वर्ग को सम्यक समाधान दिया है। इस कृति में उद्घाटित रहस्यों के माध्यम से साधक वर्ग संयम साधना के सूक्ष्म तथ्यों से अवगत हो पाएं एवं उनकी आत्म रमणता में अनुरक्ति बढ़े तो ही इस कृति की सार्थकता होगी।

मैं साध्वीजी के इन प्रयासों की अंतःकरण पूर्वक अनुमोदना और अनुशंसा करता हूँ। इसी के साथ आशा करता हूँ कि सौम्यगुणाजी भविष्य में भी इसी प्रकार श्रुत सेवा में संलग्न रहेगी। आज के भोगवादी युग में जैन योग की विचारणा एक सम्यक मार्गदर्शक है परन्तु आवश्यकता है उसे समाज के संदर्भों में प्रस्तुत करने की। साध्वीजी अपनी ज्ञान रुचि, अनुवाद क्षमता एवं अनुभव के आधार पर जैन श्रुत साहित्य का नवीनीकरण कर समाज को एक नई दिशा प्रदान कर सकती है।

अंत में यही कामना करता हूँ कि साध्वीजी अपनी गुरुवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के मार्ग का अनुकरण करते हुए जैन श्रुत सागर के रत्नों से जैन समाज को समृद्ध करें।

यह कृति श्रमण संघ में निर्दोष आचरण की प्रक्रिया को सतत प्रवाहमान रखें, यही अंतर प्रार्थना।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

भारतीय वांगमय ऋषि-महर्षियों द्वारा रचित लक्षाधिक ग्रन्थों से शोभायमान है। प्रत्येक ग्रन्थ अपने आप में अनेक नवीन विषय एवं नव्य उन्मेष लिए हुए हैं। हर ग्रन्थ अनेकशः प्राकृतिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक रहस्यों से परिपूर्ण है। इन शास्त्रीय विषयों में एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है विधि-विधान। हमारे आचार-पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं उसे एक सम्यक दिशा देने का कार्य विधि-विधान ही करते हैं। विधि-विधान सांसारिक क्रिया-अनुष्ठानों को सम्पन्न करने का मार्ग दिग्दर्शित करते हैं।

जैन धर्म यद्यपि निवृत्तिमार्गी है जबकि विधि-विधान या क्रिया-अनुष्ठान प्रवृत्ति के सूचक हैं परंतु यथार्थतः जैन धर्म में विधि-विधानों का गुंफन निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने के लिए ही हुआ है। आगम युग से ही इस विषयक चर्चा अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होती है। जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा वर्तमान विधि-विधानों का पृष्ठाधार है। साध्वी सौम्यगुणाजी ने इस ग्रंथ के अनेक रहस्यों को उद्घाटित किया है।

साध्वी सौम्याजी जैन संघ का जाज्वल्यमान सितारा है। उनकी ज्ञान आभा से मात्र जिनशासन ही नहीं अपितु समस्त आर्य परम्पराएँ शोभित हो रही हैं। सम्पूर्ण विश्व उनके द्वारा प्रकट किए गए ज्ञान दीप से प्रकाशित हो रहा है। इन्हें देखकर प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की सहज स्मृति आ जाती है। सौम्याजी उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर अनेक नए आयाम श्रुत संवर्धन हेतु प्रस्तुत कर रही है।

साध्वीजी ने विधि-विधानों पर बहुपक्षीय शोध करके उसके विविध आयामों को प्रस्तुत किया है। इस शोध कार्य को 23 पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत कर उन्होंने जैन विधि-विधानों के समग्र पक्षों को जन सामान्य के लिए सहज ज्ञातव्य बनाया है।

जिज्ञासु वर्ग इसके माध्यम से मन में उद्वेलित विविध शंकाओं का समाधान कर पाएगा।

साध्वीजी इसी प्रकार श्रुत रत्नाकर के अमूल्य मोतियों की खोज

कर ज्ञान राशि को समृद्ध करती रहे एवं अपने ज्ञानालोक से सकल संघ को रोशन करें यही शुभाशंसा...

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोडा तीर्थ

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि विदुषी साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी ने डॉ. श्री सागरमलजी जैन के निर्देशन में 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' इस विषय पर 23 खण्डों में बृहदस्तरीय शोध कार्य (डी.लिट्) किया है। इस शोध प्रबन्ध में परंपरागत आचार आदि अनेक विषयों का प्रामाणिक परिचय देने का सुंदर प्रयास किया गया है।

जैन परम्परा में क्रिया-विधि आदि धार्मिक अनुष्ठान कर्म क्षय के हेतु से मोक्ष को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं।

साध्वीश्री ने योग मुद्राओं का मानसिक, शारीरिक, मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से क्या लाभ होता है? इसका उल्लेख भी बहुत अच्छी तरह से किया है।

साध्वी सौम्यगुणाजी ने निःसंदेह चिंतन की गहराई में जाकर इस शोध प्रबन्ध की रचना की है, जो अभिनंदन के योग्य है।

मुझे आशा है कि विद्वद गण इस शोध प्रबन्ध का सुंदर लाभ उठायेंगे।

मेरी साध्वीजी के प्रति शुभकामना है कि श्रुत साधना में और अभिवृद्धि प्राप्त करें।

आचार्य पद्मसागर सूरि

विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान सम्बन्धी विषयों पर शोध-प्रबन्ध लिख कर डी.लिट् उपाधि प्राप्त करके एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सौम्याजी ने पूर्व में विधिमार्गप्रपा का हिन्दी अनुवाद करके एक गुरुत्तर कार्य संपादित किया था। उस क्षेत्र में हुए अपने विशिष्ट अनुभवों को आगे बढ़ाते हुए उसी विषय को अपने शोध कार्य हेतु स्वीकृत किया तथा दत्त-चित्त से पुरुषार्थ कर विधि-विषयक गहनता से परिपूर्ण ग्रन्थराज का जो आलेखन किया है, वह प्रशंसनीय है।

हर गच्छ की अपनी एक अनूठी विधि-प्रक्रिया है, जो मूलतः

आगम, टीका और क्रमशः परम्परा से संचालित होती है। खरतरगच्छ के अपने विशिष्ट विधि विधान हैं... मर्यादाएँ हैं... क्रियाएँ हैं...। हर काल में जैनाचार्यों ने साध्वाचार की शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने का भगीरथ प्रयास किया है। विधिमार्गप्रपा, आचार दिनकर, समाचारी शतक, प्रश्नोत्तर चत्वारिंशत शतक, साधु विधि प्रकाश, जिनवल्लभसूरि समाचारी, जिनपतिसूरि समाचारी, षडावश्यक बालावबोध आदि अनेक ग्रन्थ उनके पुरुषार्थ को प्रकट कर रहे हैं।

साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने विधि विधान संबंधी बृहद् इतिहास की दिव्य झांकी के दर्शन कराते हुए गृहस्थ-श्रावक के सोलह संस्कार, व्रतग्रहण विधि, दीक्षा विधि, मुनि की दिनचर्या, आहार संहिता, योगोद्वहन विधि, पदारोहण विधि, आगम अध्ययन विधि, तप साधना विधि, प्रायश्चित्त विधि, पूजा विधि, प्रतिक्रमण विधि, प्रतिष्ठा विधि, मुद्रायोग आदि विभिन्न विषयों पर अपना चिंतन-विश्लेषण प्रस्तुत कर इन सभी विधि विधानों की मौलिकता और सार्थकता को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उजागर करने का अनूठा प्रयास किया है।

विशेष रूप से मुद्रायोग की चिकित्सा के क्षेत्र में जैन, बौद्ध और हिन्दु परम्पराओं का विश्लेषण करके मुद्राओं की विशिष्टता को उजागर किया है।

निश्चित ही इनका यह अनूठा पुरुषार्थ अभिनंदनीय है। मैं कामना करता हूँ कि संशोधन-विश्लेषण के क्षेत्र में वे खूब आगे बढ़ें और अपने गच्छ एवं गुरु के नाम को रोशन करते हुए ऊँचाईयों के नये सोपानों का आरोहण करें।

उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पयर्थि के साथ

प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि
भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी
योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

विदुषी आर्या साध्वीजी भगवंत श्री सौम्यगुणा श्रीजी सादर अनुवंदना सुखशाता !

आप सुखशाता में होंगे।

ज्ञान साधना की खूब अनुमोदना!

वर्तमान संदर्भ में जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध पढ़ा।

आनंद प्रस्तुति एवं संकलन अद्भुत है।

जिनशासन की सभी मंगलकारी विधि एवं विधानों का संकलन यह प्रबन्ध की विशेषता है।

विज्ञान-मनोविज्ञान एवं परा विज्ञान तक पहुँचने का यह शोध ग्रंथ पथ प्रदर्शक अवश्य बनेगा।

जिनवाणी के मूल तक पहुँचने हेतु विधि-विधान परम आलंबन है। यह शोध प्रबन्ध अनेक जीवों के लिए मार्गदर्शक बनेगा। सही मेहनत की अनुमोदना।

नयपद्म सागर

'जैन विधि विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' शोध

प्रबन्ध के सार का पल्लवग्राही निरीक्षण किया।

शक्ति की प्राप्ति और शक्ति की प्रसिद्धि जैसे आज के वातावरण में श्रुत सिंचन के लिए दीर्घ वर्षों तक किया गया अध्ययन स्तुत्य और अभिनंदनीय है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा विरोधी आधुनिकता के प्रवाह में बहे बिना श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग के अनुरूप होने वाली किसी भी प्रकार की श्रुत भक्ति स्व-पर कल्याणकारी होती है।

शोध प्रबन्ध का व्यवस्थित निरीक्षण कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है परन्तु उपरोक्त सिद्धान्त का पालन हुआ हो उस तरह की तमाम श्रुत भक्ति की हार्दिक अनुमोदना होती ही है।

आपके द्वारा की जा रही श्रुत सेवा सदा-सदा के लिए मार्गस्थ या मार्गानुसारी ही बनी रहे ऐसी एक मात्र अंतर की शुभाभिलाषा।

संयम बोधि विजय

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री, भद्रावती तीर्थ

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है

अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए धम्मो" कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों की परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा

साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

अपूर्व नाद

जैन धर्म शाश्वत धर्म है, महामानवों द्वारा उपदिष्ट धर्म है। इस धर्म संघ में प्राणी मात्र के उत्थान हेतु कई तरह के सद् अनुष्ठानों का प्रावधान है। इनके माध्यम से वैयक्तिक एवं सामाजिक उभय जगत को सुसंस्कारित किया जाता है।

दीक्षा– एक विशिष्ट कोटि का संस्कार है। इसके द्वारा साधक इन्द्रियजयी, मोहजयी होने का अभ्यास करता हुआ आत्मजयी बन जाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में आत्मजेता ही सबसे बड़ा विजेता है। संस्कार द्वारा चेतन ही नहीं, अचेतन द्रव्य भी अपने पूर्ण रूप में विकसित होकर मूल्यवान बन जाता है। जिस प्रकार खान से निकला लौहपिण्ड यन्त्रों से सुसंस्कृत होकर पूर्व से अधिक उपयोगी एवं मूल्यवान बन जाता है, उसी प्रकार जब व्यक्ति भौतिक संसाधनों को तिलांजलि देकर आत्म साधना में लीन होते हुए सुप्त संस्कारों के प्रकटीकरण का प्रयत्न करता है, तब उसका मूल्य स्वत: बढ़ जाता है। दीक्षा ऐसा ही एक अलौकिक उपक्रम है।

दीक्षित साधक पंच महाव्रतों का परिपालन करते हुए एवं लूंचन जैसे कष्ट साध्य मार्ग का अनुसरण कर संसार समुद्र से भी पार हो जाता है। समाहारत: संयम साधना का श्रेष्ठतम मार्ग यही है।

सुयोग्या सौम्यगुणाजी विगत कई वर्षों से विधि-विधानों के विविध पक्षों पर गहन अध्ययन कर रही हैं। उनके इसी मानसिक एवं वैचारिक मंथन के फलस्वरूप जो नवनीत उत्पन्न हुआ है वह इस पुस्तक श्रृंखला के माध्यम से जिज्ञासु वर्ग के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्होंने संयमपथ की महत्ता एवं महानता को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सुस्थापित करते हुए कई रोचक पहलुओं पर भी प्रकाश डाला है।साध्वी श्री की कार्यनिष्ठा एवं दीर्घ संयमानुभव ने इस पुस्तक में जीवंतता का सिंचन कर दिया है। आपका श्रम शीघ्र ही सफलता की मंजिल को प्राप्त करें,

यही मंगल कामना।

अभ्युदय कांक्षिणी
आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर

छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे-

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के

प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क, अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकशः वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो निःसन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णतः सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति आप सदैव सचेष्ट

रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मन:स्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकश: जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के स्वर्णिम पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकश: बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने

का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी

में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास

के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा।

मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुनः गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अतः कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था।

साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुन: कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना

पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अत: दो माह तक अध्ययन की गति पर पुन: ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अत: वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुन: कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी। गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु

अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता

का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें ।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें ।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है ।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है ।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी

म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी

के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंतत: उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक अनुशंसा

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रातःकालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

स्वकथ्य

श्रमण संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक है। अध्यात्म के धरातल पर ही जीवन का चरम विकास हो सकता है। निश्चय की अपेक्षा कहें तो अध्यात्म में रमण करना यही लक्ष्य की संसिद्धि है। मानव जीवन का लक्ष्य अविनाशी-शाश्वत सुख की प्राप्ति है। संसारी जीव असली सुख की पहचान नहीं कर पाता, वह इन्द्रियजन्य सुखों को वास्तविक सुख मान लेता है, जबकि वैराग्यवान, संयममार्ग पर आरूढ़ आत्मा सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर जड़-चेतन का विभेद करते हुए आत्म श्रेयस के मार्ग पर अविराम गति से प्रवर्द्धमान रहती है।

रत्नत्रय की साधना ही श्रेयस प्राप्ति का एकमेव मार्ग है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अपनी समग्रता में इस रत्नत्रय मार्ग का निर्माण करते हैं। अध्यात्म संस्कृति में संसार की प्रत्येक मानवीय सत्ता को रत्नत्रय का अवलंबन लेकर निर्वाण पद प्राप्ति का समानाधिकार है। यहाँ किसी जाति विशेष का प्रतिबन्धन नहीं है। फिर भी अयोग्य पुरुष के लिए चारित्र दान का निषेध किया गया है। सामान्यतः प्राणी किसी जाति-धर्म में पैदा होने से छोटा-बड़ा नहीं होता, वह तो अपने अच्छे-बुरे आचरण आदि से ही महान एवं क्षुद्र बनता है। रत्नत्रय रूप आचरण ही मानव को सफलता की प्राप्ति करवाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि लक्ष्य संप्राप्ति में त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यों है? वस्तुतः इस विधान के पीछे पूर्ववर्ती आचार्यों एवं ऋषि मनीषियों की मनोवैज्ञानिक समझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये हैं– ज्ञान, भाव और संकल्प। इन तीनों पक्षों के परिष्कार के लिए त्रिविध साधना पथ का विधान किया गया है, क्योंकि चेतना के इन पक्षों के विशुद्धिकरण से ही जीवन में साध्य प्राप्ति सम्भव है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक् बनाने एवं उसके सम्पूर्ण विकास के लिए सम्यक्दर्शन की साधना का विधान किया गया है। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिए सम्यग्ज्ञान का और संकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यक्चारित्र का विधान है। इस प्रकार त्रिविध साधना मार्ग की प्ररूपणा के पीछे जैनाचार्यों की एक गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो अन्य दर्शनों में भी आध्यात्मिक विकास हेतु त्रिविध साधना मार्ग का ही प्रतिपादन मिलता है। जैसे- बौद्ध दर्शन में शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में तथा गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग के रूप में त्रिविध साधना मार्ग के उल्लेख हैं। पाश्चात्य परम्परा (साइकोलाजी एण्ड मोरल्स-पृ. 180, उद्धृत चरणानुयोग प्रस्तावना पृ. 12) में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं- 1. स्वयं को जानो 2. स्वयं को स्वीकार करो 3. स्वयं ही बन जाओ। पाश्चात्य चिन्तन के ये तीन आदेश जैन परम्परा के त्रिविध साधनामार्ग के समकक्ष ही हैं। आत्मज्ञान में सम्यक ज्ञान का तत्त्व, आत्म स्वीकृति में सम्यक श्रद्धा का तत्त्व और आत्म निर्माण में सम्यक चारित्र का तत्त्व समाहित है।

इस प्रकार त्रिविध साधना मार्ग के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ ही नहीं, पाश्चात्य विचारक भी एकमत हैं अत: आत्म साधना की पूर्णता त्रिविध साधना पथ के सदाचरण में ही सम्भव है। आज के प्रगतिवादी संसाधनजन्य युग में जहाँ आए दिन नित नए साधनों का आविष्कार हो रहा है ऐसी स्थिति में जिनधर्म उपदिष्ट त्याग एवं निवृत्तिमय संयम मार्ग कितना उपादेय, प्रासंगिक एवं लोक व्यवहार में आचरणीय है, यह एक मननीय विषय है? जब तक जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है शोक, चिन्ता आदि समस्याएँ तो कदम-कदम पर आती रहेंगी। उनमें बहिरात्मा व्याकुल होकर नये कर्मों का बंध कर लेती है जबकि दीक्षा अंगीकार करने वाला साधक कष्टों को स्वीकार करता है तथा विभिन्न परीषहों को सहन करता हुआ स्वयं में समत्व वृत्ति का पोषण करता है।

वर्तमान में वैयक्तिक स्तर से लेकर राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय स्तर तक जितनी आपदाओं एवं समस्याओं का सामना कर रहे हैं उसका मुख्य कारण पदार्थों और क्षेत्रों का अति उपयोग एवं अनियंत्रण है। संयम और नियंत्रण यह व्यवस्था का मूल होता है। आज की भोगवादी संस्कृति में 'नियंत्रण' शब्द प्राय: लुप्त हो चुका है। अब तो जहाँ-तहाँ अभिवृद्धि पर ही बल दिया जा रहा है जिसके दुष्प्रभाव हम सभी के समक्ष स्पष्ट हैं।

'संयम मार्ग कष्टदायक है' ऐसा कथन भी लोक प्रवाह के विरुद्ध है। क्योंकि चेतना के अंतिम लक्ष्य सिद्धि में यही मार्ग साध्य है। वर्तमान परिस्थितियों में संयमी जीवन के कुछ नियम अवश्य दु:साध्य या लोक व्यवहार

विरुद्ध प्रतिभासित होते हैं परन्तु देश-काल के अनुसार समयज्ञ गीतार्थ गुरुओं द्वारा उनमें परिवर्तन होता रहा है और उन नियमों के पीछे कल्याण एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की भावना इस प्रकार समाहित है कि साधकों को स्वत: आत्मिक आनंद की आन्तरिक अनुभूति हो जाती है।

कुछ लोग बाल दीक्षा, लूंचन, भिक्षाटन आदि नियमों का वर्तमान समय को देखते हुए विरोध करते हैं। किसी अपेक्षा वे सही हैं किन्तु इस बौद्धिक युग में जहाँ आठ-दस वर्ष का बालक कम्प्यूटर, मोबाईल और इंटरनेट के माध्यम से देश-विदेश की जानकारी रखता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई बालक स्वेच्छा से संयम मार्ग पर प्रवृत्त हो तो उसे दीक्षित करने में क्या हर्ज और उसमें भी गुरु योग्य आत्मा को ही दीक्षित करते हैं। कई लोग कहते हैं कि जिन्होंने सुख भोगा ही नहीं वे उसका त्याग करें तो क्या श्रेष्ठता? अरे सुज्ञजनों! आत्मा में तो भोग के संस्कार अनादिकाल से रहे हुए हैं फिर सागर का पानी जिस प्रकार प्यास बुझाने में सक्षम नहीं है वैसे ही सांसारिक सुख कभी तृप्ति देने वाले नहीं है। कुछ लोगों का कहना है कि संयम मार्ग पर आरूढ़ बालक के मन में सांसारिक वासना के भाव उत्पन्न हो जाये तो? इसका जवाब यह है कि मन तो चंचल है। उसको वश में रखना चाहें तो रखा जा सकता है। प्रव्रज्या तो वैसे भी मन नियंत्रण की ही साधना है।

संयमी जीवन का पालन करते हुए विहार आदि में बढ़ते एक्सीडेंट तथा त्वरित साधनों के युग में कई लोग साधु-साध्वियों द्वारा वाहन प्रयोग किए जाने का पक्ष रखते हैं तो कुछ शासन प्रभावना हेतु मोबाईल, कम्प्यूटर आदि के प्रयोग की सलाह देते हैं। किसी अपेक्षा से उनके सुझाव सही हो सकते हैं, परन्तु संयमी जीवन का मुख्य ध्येय आत्म कल्याण है। उसके पश्चात समाज कल्याण की प्रधानता है। जहाँ तक शासन सेवा आदि का सवाल है तो जैसे तेरापंथ में श्रमण-श्रमणी की परम्परा है जिन्हें कुछ विशेष छूट होती है, वैसा अपवाद मार्ग निकाला जा सकता है।

कुछ महानुभाव Laptop & Mobile के विषय में यह तर्क भी देते हैं कि समाचार संप्रेषण आदि के कार्य आप किसी ओर से करवाते हो तो उसमें समय की बर्बादी, राशि खर्च एवं बौद्धिक ऊर्जा का अधिक व्यय होता है और दोष भी उतना ही लगता है तब क्यों न साधु-साध्वियों को स्वयं ही यह सब कर लेना चाहिए। उनसे कहना है कि आपके मत समर्थन में क्रियात्मक दोष के

परिणाम की अपेक्षा मानसिक एवं भावनात्मक पतन के अवसर अधिक रहते हैं अत: आध्यात्मिक उत्कर्ष की अपेक्षा से यह सब हितकारी नहीं है।

इसी तरह के कई प्रश्नों का समाधान इस ग्रन्थ में किया गया है जिससे संयम धर्म के प्रति बढ़ती उपेक्षा दृष्टि एवं अज्ञानता का निराकरण किया जा सकता है।

वस्तुत: आध्यात्मिक विकास एवं मोक्ष फल की प्राप्ति हेतु सदाचार का सर्वोपरि स्थान है। सदाचारवान व्यक्ति ही अक्षुण्ण सुख की सृष्टि करते हैं।

प्रस्तुत कृति में सदाचार युक्त जीवन में प्रवेश करने से सम्बन्धित विधियों-उपविधियों का मार्मिक विवेचन किया गया है जो सात अध्यायों में निम्न रीति से विभाजित है–

प्रथम अध्याय में ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण विधि का अनेक दृष्टियों से विचार किया है। आचार का मूल ब्रह्मचर्य है इसलिए सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण की विधि को स्थान दिया है।

दूसरे अध्याय में क्षुल्लकत्व दीक्षा की पारम्परिक अवधारणा को प्रस्तुत किया गया है। यदि गृहस्थ व्रती को प्रव्रज्या मार्ग पर आरूढ़ होना हो तो ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार के पश्चात क्षुल्लक प्रव्रज्या ग्रहण करनी चाहिए। यह प्रव्रज्या के पूर्व का साधना काल है। इसके माध्यम से मुनि दीक्षा हेतु परिपक्व बनाया जाता है।

श्वेताम्बर मतानुसार प्रव्रज्या इच्छुक को सर्वप्रथम तीन वर्ष के लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करना चाहिए। फिर तीन वर्ष के लिए क्षुल्लक दीक्षा धारण करनी चाहिए। उसके पश्चात यावज्जीवन के लिए सामायिक स्वीकार करके पंच महाव्रत ग्रहण करने चाहिए। यह क्रम व्रताभ्यास एवं निर्दोष आचरण को लक्ष्य में रखते हुए बतलाया गया है।

तृतीय अध्याय में नन्दि रचना विधि का मौलिक निरूपण किया गया है क्योंकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में दीक्षा, बड़ी दीक्षा, उपधान, पदारोहण जैसे व्रतादि अनुष्ठान अरिहंत परमात्मा की अनुपस्थिति में नन्दिरचना के समक्ष किए जाते हैं। इसलिए नन्दिरचना विधि को तृतीय क्रम पर रखा गया है।

प्रस्तुत शोध का **चतुर्थ अध्याय** दीक्षा अंगीकार करने से सम्बन्धित है। सदाचार युक्त जीवन जीते हुए अनासक्ति के अभ्यास एवं सांसारिक प्रपंचों से निवृत्त होने के लिए दीक्षा आवश्यक है। बाह्य जगत से हटकर एवं अन्तर जगत

के द्रष्टा बनकर ही सदाचार का अनुसरण किया जा सकता है अतः इसे चतुर्थ क्रम पर रखा गया है।

इस अध्याय में प्रव्रज्या के संदर्भ में कई नवीन पहलुओं को उजागर करते हुए शास्त्रीय विमर्श किया गया है।

पाँचवें अध्याय में मण्डलीतप विधि की तात्त्विक विचारणा की गई है। जैन धर्म की कुछ परम्पराओं में मण्डली के सात दिन के योग करवाने के पश्चात् ही नव दीक्षित मुनि को सामूहिक मण्डली में प्रवेश दिया जाता है। इससे पूर्व नवदीक्षित साधु-साध्वी प्रतिक्रमण, आहार, स्वाध्याय आदि समुदाय में नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से मण्डलीतप विधि को पांचवाँ स्थान दिया गया है।

छठवें अध्याय में केश लोच की आगमिक विधि बतलाते हुए उसके अपवाद बताए गए हैं। इसी क्रम में केश लुंचन आवश्यक क्यों, केश लुंचन न करने से लगने वाले दोष, मुनि किन स्थितियों में लोच करवाए ऐसे अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

केशलोच मुनि जीवन का अपरिहार्य अंग है। दीक्षा केश लोच पूर्वक होती है। इसके द्वारा प्रव्रजित या उपस्थापित साधक कष्ट सहिष्णु एवं आत्माभिमुखी बनता है।

इस शोध खण्ड के **सातवें अध्याय** में उपस्थापना विधि का रहस्यमयी अन्वेषण प्रस्तुत किया है।

इस तरह प्रव्रज्या सदाचार समन्वित प्रक्रिया है। सम्यक चारित्र का आधार है। धर्म का केन्द्र स्थल है। कहा भी गया है– 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र निर्माण निश्चय ही धर्म है। यहाँ उपस्थापना यानी पंचमहाव्रत का आरोपण चारित्र धर्म का द्वितीय सोपान है।

इन अनुष्ठान के द्वारा नूतन मुनि को यथोक्त तपोनुष्ठान करवाकर उसे साधुओं की मंडली में प्रवेश दिया जाता है तथा पाँच महाव्रतों पर स्थापित करके श्रमण-श्रमणी संघ का स्थायी सदस्य बनाते हैं।

पाँच महाव्रतों का निर्दोष परिपालन मोक्ष का अनन्तर कारण है। इसी उद्देश्य से यह विधि अन्तिम चरण पर कही गई है।

समाहारतः सामायिक आदि व्रतों का स्वीकार और केशलूंचन आदि क्रियाएँ चेतनात्मक विकास के हेतुभूत की जाती हैं, जिसका परम लक्ष्य मुक्ति मार्ग का वरण करना है।

अंततः यही भावना करती हूँ कि इस कृति के माध्यम से

श्वास-श्वास में ब्रह्मनाद का गुंजन हो,
रोम-रोम में संयम रस का सिंचन हो,
संयम क्रियाओं के प्रति अहोभाव वर्धन हो,
अन्तस् में जिनवाणी आलोक का प्रकटन हो,
महाजन पथ पर भवि जीवों का अनुगमन हो...
जिससे
युवा वर्ग में जिन धर्म अनुराग जगे,
समाज में सदाचार के दीप जले,
श्रमण साधना को उचित सम्मान मिले,
कर्म श्रृंखला को पूर्ण विराम मिले...

जिनवाणी का विस्तार करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढार्थ को न समझा हो, अपने मत को रखने में जानते-अजानते जिनवाणी का कटाक्ष किया हो, शब्द संयोजना गूढ़ भावों को समझाने में समर्थ न हो अथवा कुछ भी जिनाज्ञा के विरुद्ध लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोग पूर्वक मिच्छामि दुक्कडम्।

●

वन्दना की झंकार

जैन विधि-विधानों से सम्बन्धित एक बृहद्स्तरीय अन्वेषण आज पूर्णाहुति की प्रतीक्षित अरूणिम वेला पर है। जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष संबल इस विराट् विषय के प्रतिपादन में आधार स्तंभ बना उन सभी उपकारी जनों की अभिवन्दना-अनुमोदना करने के लिए मन तरंगित हो रहा है। यद्यपि उन्हें पूर्णत: अभिव्यक्ति देना असंभव है फिर भी सामर्थ्य जुटाती हुई करबद्ध होकर सर्वप्रथम, जिनके दिव्य ज्ञान के आलोक ने भव्य जीवों के हृदयान्धकार को दूर किया, जिनकी पैंतीस गुणयुक्त वाणी ने जीव जगत का उद्धार किया, जिनके रोम-रोम से निर्झरित करूणा भाव ने समस्त जीवराशि को अभयदान दिया तथा मोक्ष मार्ग पर आरोहण करने हेतु सम्यक चारित्र का महादान दिया, ऐसे भवो भव उपकारी सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा के चरण सरोजों में अनन्त-अनन्त वंदना करती हूँ।

जिनके स्मरण मात्र से दु:साध्य कार्य सरल हो जाता है ऐसे साधना सहायक, सिद्धि प्रदायक श्री सिद्धचक्र को आत्मस्थ वंदन।

चिन्तामणि रत्न की भाँति हर चिन्तित स्वप्न को साकार करने वाले, कामधेनु की भाँति हर अभिलाषा को पूर्ण करने वाले एवं जिनकी वरद छाँह में जिनशासन देदीप्यमान हो रहा है ऐसे क्रान्ति और शान्ति के प्रतीक चारों दादा गुरूदेव तथा सकल श्रुतधर आचार्यों के चरणारविन्द में भावभीनी वन्दना।

प्रबल पुण्य के स्वामी, सरलहृदयी, शासन उद्धारक, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा. के पवित्र चरणों में श्रद्धा भरी वंदना। जिन्होंने सदा अपनी कृपावृष्टि एवं प्रेरणादृष्टि से इस शोध यात्रा को लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु प्रोत्साहित किया।

जिनके प्रज्ञाशील व्यक्तित्व एवं सृजनशील कर्तृत्व ने जैन समाज में अभिनव चेतना का पल्लवन किया, जिनकी अन्तस् भावना ने मेरी अध्ययन रुचि को जीवन्त रखा ऐसे उपाध्याय भगवन्त पूज्य गुरुदेव श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के चरण नलिनों में कोटिश: वन्दन।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहिल व्यक्तित्व के धनी, गुण गरिमा से मंडित प.पू. आचार्य पद्मसागरसूरीश्वरजी म.सा. की, जिन्होंने कोबा लाइब्रेरी के माध्यम से दुष्प्राप्य ग्रन्थों को उपलब्ध करवाया तथा सहृदयता एवं उदारता के साथ मेरी शंकाओं का समाधान कर प्रगति पाथेय प्रदान किया। उन्हीं के निश्रावर्ती मनोज्ञ स्वभावी, गणिवर्य्य श्री प्रशांतसागरजी म.सा. की भी मैं ऋणी हूँ जिन्होंने निस्वार्थ भाव से सदा सहयोग करते हुए मुझे उत्साहित रखा।

मैं कृतज्ञ हूँ सरस्वती साधना पथ प्रदीप, प.पू. ज्येष्ठ भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने इस शोध कार्य की मूल्यवत्ता का आकलन करते हुए मेरी अंतश्चेतना को जागृत रखा।

मैं सदैव उपकृत रहूंगी प्रवचन प्रभावक, शास्त्र वेत्ता, सन्मार्ग प्रणेता प.पू. आचार्य श्री कीर्तियश सूरीश्वरजी म.सा एवं आगम मर्मज्ञ, संयमोत्कर्षी प.पू. रत्नयश विजयजी म.सा के प्रति, जिन्होंने नवीन ग्रन्थों की जानकारी देने के साथ-साथ शोध कार्य का प्रणयन करते हुए इसे विबुध जन ग्राह्य बनाकर पूर्णता प्रदान की।

मैं आस्था प्रणत हूँ जगवल्लभ प.पू. आचार्य श्री राजयश सूरीश्वरजी म.सा एवं वात्सल्य मूर्ति प.पू. बहन महाराज वाचंयमा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने समय-समय पर अपने अनुभव ज्ञान द्वारा मेरी दुविधाओं का निवारण कर इस कार्य को भव्यता प्रदान की।

मैं नतमस्तक हूँ समन्वय साधक, भक्त सम्मोहक, साहित्य उद्धारक, अचल गच्छाधिपति प.पू. आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करके मेरे कार्य को आगे बढ़ाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के प्रेरणा पुरुष, अनेक ग्रन्थों के सृजनहार, कुशल अनुशास्ता, साहित्य मनीषी आचार्य श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञजी के चरणों में, जिनके सृजनात्मक कार्यों ने इस साफल्य में आधार भूमि प्रदान की।

इसी श्रृंखला में श्रद्धानत हूँ त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति, पुण्यपुंज प.पू. आचार्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर संभव स्व सामाचारी विषयक तथ्यों से अवगत करवाते हुए इस शोध को सुलभ बनाया।

मैं श्रद्धावनत हूँ विश्व प्रसिद्ध, प्रवचन प्रभावक, क्रान्तिकारी सन्त प्रवर श्री तरुणसागरजी म.सा के प्रति, जिन्होंने यथोचित सुझाव देकर रहस्य अन्वेषण में सहायता प्रदान की।

मैं आभारी हूँ मृदुल स्वभावी प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं गूढ़ स्वाध्यायी प. पू. सम्यक्रत्नसागरजी म.सा. की जिन्होंने सदैव मेरा उत्साह वर्धन किया।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में अन्तर्हृदय से उपकृत हूँ महत्तरा पद विभूषिता पू. विनीता श्रीजी म.सा., प्रवर्त्तिनी प्रवरा पू. चन्द्रप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पू. चन्द्रकला श्रीजी म.सा., मरूधर ज्योति पू. मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पू. हेमप्रभा श्रीजी म.सा. एवं अन्य सभी समादृत साध्वी मंडल के प्रति, जिनके अन्तर मन की मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाया तथा आत्मीयता प्रदान कर सम्यक् ज्ञान के अर्जन को प्रवर्द्धमान रखा।

जिनकी मृदुता, दृढ़ता, गंभीरता, क्रियानिष्ठता एवं अनुभव प्रौढ़ता ने सुज्ञजनों को सन्मार्ग प्रदान किया, जिनका निश्छल व्यवहार **'जहा अंतो तहा बहिं'** का जीवन्त उदाहरण था, जो पंचम आरे में चौथे आरे की साक्षात प्रतिमूर्ति थी, ऐसी श्रद्धालोक की देवता, वात्सल्य वारिधि, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा के पावन पद्मों में सर्वात्मना वंदन करती हूँ।

मैं उऋण भावों से कृतज्ञ हूँ जप एवं ध्यान की निर्मल ज्योति से प्रकाशमान तथा चारित्र एवं तप की साधना से दीप्तिमान सज्जनमणि प.पू. गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा के प्रति, जिन्होंने मुझ जैसे अनघड़ पत्थर को साकार रूप प्रदान किया।

मैं अन्तर्हृदय से आभारी हूँ मेरे शोध कार्य की प्रारंभकर्त्ता, अनन्य गुरू समर्पिता, ज्येष्ठ गुरू भगिनी पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा. तथा सेवाभावी पू. दिव्य दर्शना श्रीजी म.सा., स्वनिमग्ना पू. तत्त्वदर्शना श्रीजी म.सा., दृढ़ मनोबली पू. सम्यग्दर्शना श्रीजी म.सा., स्मित वदना पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., मितभाषी पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., समन्वय स्वभावी पू. शीलगुणाजी मृदु भाषिणी साध्वी कनकप्रभाजी, कोमल हृदयी श्रुतदर्शनाजी प्रसन्न स्वभावी साध्वी संयमप्रज्ञाजी आदि समस्त गुरु भगिनि मण्डल की, जिन्होंने सामाजिक दायित्वों से निवृत्त रखते हुए सद्भावों की सुगन्ध से मेरे मन को तरोताजा रखा।

मेरी शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर पहुँचाने में अनन्य सहयोगिनी, सहज स्वभावी **स्थितप्रज्ञा जी** एवं विनम्रशीला **संवेगप्रज्ञा जी** तथा इसी के साथ अल्प भाषिणी **सुश्री मोनिका बैराठी** एवं शान्त स्वभावी **सुश्री सीमा छाजेड़** को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ।

मैं अन्तस्थ भावों से उपकृत हूँ श्रुत समाज के गौरव पुरुष, ज्ञान पिपासुओं के लिए सद्ज्ञान प्रपा के समान, आदरणीय डॉ. सागरमलजी के प्रति, जिनका सफल निर्देशन इस शोध कार्य का मूलाधार है।

इस बृहद् शोध के कार्य काल में हर तरह की सेवाओं के लिए तत्पर, उदारहृदयी श्रीमती मंजुजी सुनीलजी बोथरा (रायपुर) के भक्तिभाव की अनुशंसा करती हूँ।

जिन्होंने दूरस्थ रहकर भी इस ज्ञान यज्ञ को निर्बाध रूप से प्रवाहमान बनाए रखने में यथोचित सेवाएँ प्रदान की, ऐसी श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मरण की इस श्रृंखला में मैं ऋणी हूँ कोलकाता निवासी, अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी शकुंतलाजी मुणोत की, जिन्होंने ढ़ाई साल के कोलकाता प्रवास में भ्राता तुल्य स्नेह एवं सहयोग प्रदान करते हुए अपनी सेवाएँ अनवरत प्रदान की। श्री खेमचंदजी किरणजी बांठिया की अविस्मरणीय सेवाएँ भी इस शोध यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहयोगी बनी।

सहयोग की इस श्रृंखला में मैं आभारी हूँ, टाटा निवासी श्री जिनेन्द्रजी नीलमजी बैद की, जिनके अथक प्रयासों से मुद्राओं का रेखांकन संभव हो पाया।

अनुमोदना की इस कड़ी में कोलकाता निवासी श्री कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, कमलचंदजी धांधिया, विमलचन्दजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा, अजयजी बोथरा, महेन्द्रजी नाहटा, पन्नालाल दूगड़, निर्मलजी कोचर आदि की सेवाओं को विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

बनारस निवासी श्री अश्विनभाई शाह, ललितजी भंसाली, कीर्ति भाई ध्रुव दिव्येशजी शाह, राहुलजी गांधी आदि भी साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अपनी आत्मियता एवं नि:स्वार्थ सेवाएँ बनारस प्रवास के बाद भी बनाए रखी।

इसी कड़ी में *बनारस सेन्ट्रल लाइब्रेरी के मुख्य लाइब्रेरियन श्री संजयजी* सर्राफ एवं श्री विवेकानन्दजी जैन की भी मैं अत्यंत आभारी हूँ कि उन्होंने

पुस्तकें उपलब्ध करवाने में अपना अनन्य सहयोग दिया।

इसी श्रृंखला में श्री कोलकाता संघ, मुंबई संघ, जयपुर संघ, मालेगाँव संघ, अहमदाबाद संघ, बनारस संघ, शाजापुर संघ, टाटा संघ के पदाधिकारियों एवं धर्म समर्पित सदस्यों ने स्थानीय सेवाएँ प्रदान कर इस शोध यात्रा को सरल एवं सुगम बनाया अत: उन सभी को साधुवाद देती हूँ।

इस शोध कार्य को प्रामाणिक बनाने में कोबा लाइब्रेरी (अहमदाबाद) एवं वहाँ के सदस्यगण मनोज भाई, केतन भाई, अरूणजी आदि, एल. डी. इन्स्टीट्यूट (अहमदाबाद), प्राच्य विद्यापीठ (शाजापुर), पार्श्वनाथ शोध संस्थान (वाराणसी) एवं लाइब्रेरियन ओमप्रकाश सिंह तथा संस्थान अधिकारियों ने यथेच्छित पुस्तकों के आदान-प्रदान में जो सहयोग दिया, उसके लिए मैं उनकी सदैव आभारी रहूंगी।

प्रस्तुत कार्य को जन समुदाय के लिए उपयोगी बनाने में जिनकी पुण्यराशि संबल बनी है उन समस्त श्रुतप्रेमी लाभार्थी परिवार की उन्मुक्त कण्ठ से अनुमोदना करती हूँ।

इन शोध कृतियों को कम्प्यूटराईज्ड, संशोधन एवं सेटिंग करने में अनन्य सहयोगी विमलचन्द्र मिश्रा (वाराणसी) का अत्यन्त आभार मानती हूँ। आपके विनम्र, सुशील एवं सज्जन स्वभाव ने मुझे अनेक बार के प्रूफ संशोधन की चिन्ताओं से सदैव मुक्त रखा। स्वयं के कारोबार को संभालते हुए आपने इस बृहद् कार्य को जिस निष्ठा के साथ पूर्ण किया है यह सामान्य व्यक्ति के लिए नामुमकिन है।

इसी श्रृंखला में शांत स्वभावी श्री रंजनजी, रोहितजी कोठारी (कोलकाता) भी धन्यवाद के पात्र हैं। सम्पूर्ण पुस्तकों के प्रकाशन एवं कॅवर डिजाइनिंग में अप्रमत्त होकर अंतरमन से सहयोग दिया। शोध प्रबंध की सम्पूर्ण कॉपी बनाने का लाभ लेकर आप श्रुत संवर्धन में भी परम हेतुभूत बने हैं।

23 खण्डों को आकर्षक एवं चित्तरंजक कॅवर से नयनरम्य बनाने के लिए कॅवर डिजाईनर शंभु भट्टाचार्य की भी मैं तहेदिल से आभारी हूँ।

इसे संयोग कहूँ या विधि की विचित्रता? मेरी प्रथम शोध यात्रा की संकल्पना लगभग 17 वर्ष पूर्व जहाँ से प्रारम्भ हुई वहीं पर उसकी चरम पूर्णाहुति भी हो रही है। श्री जिनरंगसूरि पौशाल (कोलकाता) अध्ययन योग्य सर्वश्रेष्ठ

स्थान है। यहाँ के शान्त-प्रशान्त परमाणु मनोयोग को अध्ययन के प्रति जोड़ने में अत्यन्त सहायक बने हैं। इसी के साथ मैं साधुवाद देती हूँ श्रीजिनरंगसूरि पौशाल, कोलकाता के ट्रस्टी श्री कमलचंदजी धांधिया, कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, मणिलालजी दूसाज आदि समस्त भूतपूर्व एवं वर्तमान ट्रस्टियों को, जिन्होंने अध्ययन एवं स्थान की महत्त्वपूर्ण सुविधा के साथ कम्पोजिंग में भी पूर्ण रूप से अर्थ सहयोग दिया। इन्हीं की पितृवत छत्र-छाया में यह शोध कार्य शिखर तक पहुँच पाया है। इस अवधि के दौरान ग्रन्थ आदि की आवश्यक सुविधाओं हेतु शाजापुर, बनारस आदि शोध संस्थानों में प्रवास रहा। उन दिनों से ही जौहरी संघ के पदाधिकारी गण कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दूसाज, विमलचन्दजी महमवाल आदि बार-बार निवेदन करते रहे कि आप पूर्वी क्षेत्र की तरफ एक बार फिर से पधारिए। हम आपके अध्ययन की पूर्ण व्यवस्था करेंगे। उन्हीं की सद्भावनाओं के फलस्वरूप शायद इस कार्य का अंतिम प्रणयन यहाँ हो रहा है। इसी के साथ शोध प्रतियों के मुद्रण कार्य में भी श्री जिनरंगसूरि पौशाल ट्रस्टियों का हार्दिक सहयोग रहा है।

अन्ततः यही कहूँगी–

प्रभु वीर वाणी उद्यान की, सौरभ से महकी जो कृति।
जड़ वक्र बुद्धि से जो मैंने, की हो इसकी विकृति।
अविनय, अवज्ञा, आशातना, यदि हुई हो श्रुत की वंचना।
मिच्छामि दुक्कडम् देती हूँ, स्वीकार हो मुझ प्रार्थना।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरूवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी-

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरू बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुभूति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण विधि का मार्मिक विश्लेषण 1-11

1. ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ 2. आधुनिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य व्रत की उपादेयता 3. ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का अधिकारी कौन? 4. ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाने का अधिकारी कौन? 5. ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण हेतु मुहूर्त्त विचार 6. ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण की मूल विधि 7. तुलनात्मक विवेचन 8. उपसंहार।

अध्याय-2 : क्षुल्लकत्व ग्रहण विधि की पारम्परिक अवधारणा 12-22

1. क्षुल्लक के विभिन्न अर्थों की मीमांसा 2. क्षुल्लकत्व दीक्षा ग्रहण एवं उसे प्रदान करने का अधिकार किसे? 3. क्षुल्लकत्व दीक्षा हेतु काल विचार 4. क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की प्रामाणिक विधि 5. तुलनात्मक विवेचन 6. उपसंहार।

अध्याय-3 : नन्दिरचना विधि का मौलिक अनुसंधान 23-46

1. नन्दिरचना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं स्वरूप 2. नन्दिरचना की आवश्यकता क्यों? 3. नन्दिरचना का अधिकारी कौन? 4. नन्दिरचना के लिए शुभ मुहूर्त्त का विचार 5. नन्दिरचना के लिए आवश्यक सामग्री 6. नन्दिरचना विधि का ऐतिहासिक विकास क्रम 7. समवसरण : एक परिचय 8. नन्दिरचना की प्रचलित विधि 9. नन्दिरचना सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन 10. आधुनिक सन्दर्भों में नन्दिरचना विधि की प्रासंगिकता 11. तुलनात्मक अध्ययन 12. उपसंहार।

अध्याय-4 : प्रव्रज्या विधि की शास्त्रीय विचारणा 47-124

1. प्रव्रज्या एवं दीक्षा शब्द के अर्थ 2. प्रव्रज्या संस्कार की आवश्यकता क्यों? 3. प्रव्रज्या के प्रकार 4. दीक्षादाता गुरु की योग्यताएँ एवं लक्षण 5. दीक्षादाता गुरु की योग्यता के विषय में अपवाद 6. दीक्षाग्राही की योग्यताएँ 7. दीक्षा के लिए अयोग्य कौन? • दीक्षा अयोग्य पुरुष • दीक्षा अयोग्य नारी

• दीक्षा अयोग्य नपुंसक 8. नपुंसक को दीक्षा क्यों नहीं? 9. दीक्षा अयोग्य विकलांग 10. प्रव्रज्या ग्रहण के विभिन्न कारण 11. बाल दीक्षा की प्रासंगिकता कितनी और क्यों? • बाल दीक्षा शास्त्रीय सम्मत कैसे? • बाल दीक्षा के सम्बन्ध में पूर्व और उत्तरपक्ष • बाल दीक्षा की उपादेयता।

12. मुनि दीक्षा के उपदेश की प्राथमिकता क्यों? 13. दीक्षार्थी की शुभाशुभ गति जानने के उपाय 14. दीक्षार्थी की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय की विधि 15. दीक्षित को संयम पर्याय के अनुसार सुखानुभूति 16. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दीक्षा संस्कार की उपयोगिता 17. दीक्षा के लाभ 18. दीक्षा के लिए अनुमति आवश्यक क्यों? 19. दीक्षा के योग्य शुभ दिन 20. दीक्षा दिन की आवश्यक सामग्री 21. दीक्षार्थी साधु के उपकरण 22. दीक्षार्थी साध्वी के उपकरण 23. दीक्षा (संन्यास) अवधारणा की ऐतिहासिक विकास-यात्रा 24. जैन परम्पराओं में प्रचलित दीक्षा विधि • दीक्षा दिन से पूर्व दिन की विधि • दीक्षा दिन की विधि 25. दीक्षा सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य • रजोहरण का उपयोग किसलिए? • चोटीग्रहण क्यों? • वेश परिवर्तन की आवश्यकता किस दृष्टि से? • नया नामकरण क्यों किया जाए? • आत्मरक्षा का विधान किसलिए? • समवशरण की पूजा क्यों करें? • दीक्षाअनुष्ठान करना आवश्यक क्यों? • प्रदक्षिणा क्यों दी जाए? • 'नमो खमासमणाणं हत्थेणं' वाक्य का प्रयोग किस अभिप्राय से? • तीन बार चोटी ग्रहण क्यों? • ओढी में पान एवं पूंगीफल (सुपारी) का निक्षेप क्यों? • ओढ़ी के दोनों ओर तलवार किस प्रयोजन से रखी जाए? • दीक्षामण्डप में परिवारजनों की अनुमति आवश्यक क्यों? • अनामिका अंगुली एवं मुखवस्त्रिका का परस्पर संबंध 26. तुलनात्मक अध्ययन 27. उपसंहार।

अध्याय-5 : मण्डली तप विधि की तात्त्विक विमर्शना 125-140

1. मण्डली का अर्थ एवं उसके प्रकार 2. मण्डली तप की आवश्यकता कब से और क्यों? 3. विविध सन्दर्भो में मण्डली तपोनुष्ठान की प्रासंगिकता 4. मण्डली योगतप विधि 5. तुलनात्मक विवेचन 6. उपसंहार।

अध्याय-6 : केशलोच विधि की आगमिक अवधारणा 141-157

1. केश लोच का शाब्दिक अर्थ 2. केशलुंचन की आवश्यकता क्यों? 3. विविध दृष्टियों से केशलोच की प्रासंगिकता : 4. केशलुंचन के प्रकार 5. केशलुंचन के अधिकारी कौन? 6. केशलुंचन की काल मर्यादा 7. केशलुंचन से होने वाले लाभ 8. केशलुंचन न करने से लगने वाले दोष 9. केशलुंचन करने-करवाने वाले मुनि की आवश्यक योग्यताएँ 10. केशलुंचन के लिए शुभ दिन 11. मुनि कब, किन स्थितियों में लोच करवाएं? 12. केशलोच विधि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि 13. लोचकरण-विधि • केशलोच से पूर्व करने योग्य विधि • केशलोच के पश्चात करने योग्य विधि 14. तुलनात्मक अध्ययन 15. उपसंहार।

अध्याय-7 : उपस्थापना (पंचमहाव्रत आरोपण) विधि का रहस्यमयी अन्वेषण 158-267

1. उपस्थापना का अर्थ एवं उसके एकार्थवाची 2. उपस्थापना के प्रकार 3. संयम एवं चारित्र में भेद 4. उपस्थापना व्रतारोपण की आवश्यकता क्यों? 5. उपस्थापना चारित्र की प्राप्ति का हेतु 6. उपस्थापना चारित्र में स्थिर रहने के उपाय 7. उपस्थापना चारित्र का महत्त्व 8. उपस्थापना प्रदान करने का अधिकारी कौन? 9. उपस्थापना के योग्य कौन? 10. उपस्थापना के अयोग्य कौन? 11. अयोग्य की उपस्थापना करने से लगने वाले दोष 12. उपस्थापना चारित्र कब दिया जाए? 13. उपस्थापना व्रतारोपण के लिए मुहूर्त्त विचार 14. उपस्थापना के लिए प्रयुक्त सामग्री 15. उपस्थापना (छेदोपस्थापनीय) चारित्र का फल 16. वयादि की अपेक्षा-उपस्थापना का क्रम 17. उपस्थापित शिष्य का अध्ययन क्रम 18. पाँच महाव्रत एवं छठा रात्रिभोजनविरमणव्रत एक अनुशीलन

(i) अहिंसा महाव्रत का स्वरूप • अहिंसा महाव्रत की उपादेयता • अहिंसा महाव्रत के अपवाद • अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

(ii) सत्य महाव्रत का स्वरूप • सत्य महाव्रत का वैशिष्ट्य • भाषा के प्रकार • असत्य बोलने के कारण • सत्य महाव्रत की उपादेयता • सत्य महाव्रत

के अपवाद • सत्य महाव्रत की भावनाएँ • सत्य महाव्रत के अतिचार

(iii) अचौर्य महाव्रत का स्वरूप चोरी का अर्थ एवं उसके प्रकार • अचौर्य महाव्रत का माहात्म्य • अचौर्य महाव्रत की उपयोगिता • अस्तेय महाव्रत के अपवाद • अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ • अचौर्य महाव्रत के अतिचार

(iv) ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप • ब्रह्मचर्य का सामान्य एवं विशिष्ट अर्थ • ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा • ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा के उपाय • ब्रह्मचर्य के विघातक तत्त्व • ब्रह्मचर्य के सहायक तत्त्व • ब्रह्मचर्य की आराधना का फल • ब्रह्मचर्य महाव्रत की उपादेयता • ब्रह्मचर्य व्रत के अपवाद • ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ • ब्रह्मचर्य महाव्रत के अतिचार

(v) अपरिग्रह महाव्रत का स्वरूप • परिग्रह के प्रकार • अपरिग्रह महाव्रत की आराधना का फल • अपरिग्रह महाव्रत की उपादेयता • अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ • अपरिग्रह महाव्रत के अतिचार

(vi) रात्रिभोजन-विरमणव्रत का स्वरूप • रात्रिभोजन विरमण व्रत की उपादेयता • आगम एवं आगमिक व्याख्या ग्रन्थों की दृष्टि से • प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों की दृष्टि से • जैनेतर ग्रन्थों की दृष्टि से • आध्यात्मिक लाभ की दृष्टि से • यौगिक विकास की दृष्टि से • अहिंसा लाभ की दृष्टि से • वैज्ञानिक दृष्टिकोण से • प्रकृति और पर्यावरण की दृष्टि से • पारिवारिक लाभ की दृष्टि से • स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से • चिकित्सा की दृष्टि से • रात्रि में भोजन पकाने सम्बन्धी दोष • रात्रि में खाने सम्बन्धी दोष • सर्वसामान्य दृष्टि से।

19. उपस्थापना व्रतारोपण विधि का ऐतिहासिक विकास क्रम 20. उपस्थापना योग्य शिष्य की परीक्षा विधि 21. उपस्थापना की मौलिक विधि 22. उपस्थापना व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य • दिग्बन्ध क्यों? • गजदन्त मुद्रा में महाव्रतों का स्वीकार क्यों किया जाए? 23. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थापना संस्कार की प्रासंगिकता 24. तुलनात्मक अध्ययन 25. उपसंहार।

सहायक ग्रन्थ सूची 268-278

अध्याय-1

ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण विधि का मार्मिक विश्लेषण

भारतीय धर्मों में ब्रह्मचर्य का सर्वोत्तम स्थान है। ब्रह्मचर्य साधना का मेरुदण्ड है। आध्यात्मिक शक्ति के ऊर्ध्वीकरण का श्रेष्ठतम उपाय है। पूर्वाचार्यों द्वारा उपदिष्ट साधनाएँ जैसे– तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान, परीषहजय, कषायजय, उपसर्गसहन आदि ब्रह्मचर्य रूपी सूर्य के इर्द-गिर्द घूमने वाले ग्रह-नक्षत्रों के समान हैं। यदि ब्रह्मचर्य सुदृढ़ एवं प्रशस्त हो तो सभी साधनाएँ सफल होती हैं, अन्यथा शारीरिक दण्डन मात्र रह जाती हैं।

ब्रह्मचर्य सभी व्रतों में अत्यन्त दुष्कर है। आगमों में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, कर्मों में मोहनीय कर्म एवं गुप्ति में मनोगुप्ति की साधना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना दुष्कर है। सभी प्रकार की तप साधना में ब्रह्मचर्य सर्वश्रेष्ठ है।

ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ

ब्रह्म + चर्या इन दो पदों के संयोग से ब्रह्मचर्य शब्द निर्मित है। ब्रह्म का अर्थ है - आत्मा और चर्या का अर्थ है– रमण करना अर्थात आत्म स्वभाव में रमण करना अथवा स्व स्वरूप में अवस्थित होना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के लिए मैथुनविरति, मैथुनसंज्ञा से विरक्ति, इन्द्रिय और मन का संयम, आत्म रमणता, विषय विराग आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जा सकता हैं।

आधुनिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य व्रत की उपादेयता

भारतीय संस्कृति की विराटता, उच्चता एवं उदात्तता का एक कारण उसकी चारित्रिक पवित्रता एवं ब्रह्मपालन की तेजस्विता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है विषय-वासना से सर्वथा विरक्त हो जाना। ब्रह्मचर्य का मनोवैज्ञानिक प्रभाव देखें तो स्पष्ट होता है कि विषय-वासना जीवन को पतनोन्मुखी बनाती है तथा शारीरिक शक्ति, वैचारिक सहिष्णुता एवं मानसिक सन्तुलन को गड़बड़ करती

है, वहाँ ब्रह्मचर्य पालन के द्वारा यह सब सन्तुलित रहते हैं। ब्रह्मचर्य की साधना से अहिंसा,सत्य आदि सभी व्रतों को साधा जा सकता है। जहाँ साधु-साध्वी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं वहीं श्रावक के लिए भी मात्र स्वपत्नी में अपनी वासनाओं को सीमित करने से वीर्य शक्ति की हानि नहीं होती। इससे प्रमाद, कषाय एवं लोलुपता आदि कम होते हैं।

यदि वैयक्तिक स्तर पर ब्रह्मचर्य पालन के सुपरिणामों को देखा जाए तो इसके द्वारा चैतसिक प्रवृत्तियों एवं कायिक चेष्टाओं को संयमित किया जा सकता है। ब्रह्मचर्य पालन से आन्तरिक शक्तियाँ विकासोन्मुखी बनती हैं। जैसे विद्यार्थी जीवन में बुद्धि एवं शक्ति का जो पराक्रम होता है, वह दाम्पत्य जीवन में नहीं रहता। स्वामी विवेकानन्द अपनी कुशाग्र बुद्धि का कारण ब्रह्मचर्य को ही मानते थे। विषय-वासना नियन्त्रित होने पर व्यक्ति का मन बाहर नहीं भटकता। जब गृहस्थ अपनी विषय-वासना को नियन्त्रित कर लेता है तो उसका जीवन सुख शान्तिपूर्ण एवं दाम्पत्य जीवन में कलह-द्वेष आदि उत्पन्न नहीं होता। इससे मैथुन प्रवृत्ति के दौरान होने वाली लाखों सम्मूर्च्छिम जीवों की हिंसा के दोष से भी बचते हैं। ब्रह्मचारी की वाणी सन्तुलित होने से उसे वचन सिद्धि भी प्राप्त होती है।

यदि सामाजिक सन्दर्भ में ब्रह्मचर्य की श्रेष्ठता का परिशीलन करें तो हमारे भारतीय समाज और संस्कृति की आधारशिला ब्रह्मचर्य ही है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसका जैसा आचरण हो, वह उस तरह का उपदेश दें तो श्रोताओं पर अधिक प्रभावी होता है इसीलिए ब्रह्मचारी के उपदेश से समाज संयमित एवं मर्यादित बनता है।

यदि ब्रह्मचर्य का प्रभाव प्रबन्धन के क्षेत्र में देखें तो समाज प्रबन्धन, क्रोध प्रबन्धन, काम-वासना प्रबन्धन आदि के क्षेत्रों में यह व्रत बहुपयोगी है। ब्रह्मचर्य के द्वारा व्यक्तिगत जीवन में सुप्त शक्तियां जागृत होती हैं, बाह्य प्रवाह आन्तरिक बनकर ऊर्ध्वारोहित होता है जिससे व्यक्ति आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत् दोनों में प्रगति करता है। इसी के साथ मैथुन क्रिया एवं उसके विकल्पों में व्यर्थ जाने वाले समय की भी बचत होती है।

सामाजिक स्तर पर ब्रह्मचर्य पालन या मैथुन विरमण के माध्यम से समाज को एक सही दिशा दिखायी जा सकती है। इस युग में संस्कृति को धूमिल कर रही दुष्प्रवृत्तियाँ जैसे अत्याचार, भ्रष्टाचार, बलात्कार, स्वेच्छाचार आदि से

समाज को बचाया जा सकता है। परिणामतः समाज शक्ति का प्रयोग सृजनात्मक कार्यों में होता है और यही समाज प्रबन्धन का मुख्य लक्ष्य है।

ब्रह्मचर्य का मनस् केन्द्र पर अमिट प्रभाव पड़ता है जिससे मन सन्तुलित एवं कषाय नियन्त्रित होता है। ब्रह्मचारी को शीघ्र आवेश नहीं आता, क्योंकि उसकी कामोत्तेजक ग्रन्थियाँ शिथिल हो जाती है। कुण्डलिनी जागरण में भी ब्रह्मचर्य साधना उपयोगी है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य वासना प्रबन्धन का एक मुख्य घटक है।

यदि ब्रह्मचर्य की उपादेयता वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में देखी जाए तो ब्रह्मचर्य प्रत्येक क्षेत्र की समस्याओं में उपयोगी सिद्ध होता है। इससे व्यक्तिगत समस्याएँ जैसे कि तनाव, काम-वासना पर अनियन्त्रण, मन की संकीर्णता, प्रमाद, आलस्य, अनिद्रा, अतिनिद्रा आदि को नियन्त्रित किया जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा हमारी काफी शक्ति (Energy) का अपव्यय होने से बच जाता है तथा जीवन में समस्याएँ एवं तनाव उत्पन्न नहीं होते। अब्रह्म हमेशा विनाश का ही कारण रहा है। इतिहास के पन्नों को देखें तो रावण और कौरवों के विनाश का प्रमुख कारण यही था। अतः ब्रह्मचर्य पालन से विनाश को रोका जा सकता है। आज बढ़ते पारिवारिक तनाव, क्लेश, तलाक आदि का एक मुख्य कारण विषय लोलुपता है। समाज में बढ़ रही एड्स की बीमारी, सेक्स क्राइम, नित बढ़ रहे गर्भपात एवं लड़कियों के द्वारा की जा रही आत्महत्याएँ, बलात्कार जैसी समस्याओं के निवारण में मैथुन नियन्त्रण अत्यन्त उपयोगी है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यव्रत की प्रासंगिकता अनेक दृष्टियों से सुसिद्ध है।

ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का अधिकारी कौन?

ब्रह्मचर्य दुष्पालनीय एवं कठिन व्रत है। सामान्यतया रणभूमि में तीक्ष्ण खड्ग को धारण करने वाले तो अनेक हो सकते हैं, परन्तु विषयों में अनासक्त एवं धीर-गम्भीर पुरुष विरले ही होते हैं। सिंह के शक्तित्व का मर्दन करने वाले तथा हाथियों के मद को गलित करने वाले अनेक हो सकते हैं, किन्तु कन्दर्प एवं दर्प को नष्ट करने वाले सत्पुरुष विरले ही होते हैं। ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने वाले साधक के लिए कुछ योग्यताएँ अपेक्षित मानी गयी हैं।

आचारदिनकर में ब्रह्मचर्य व्रताधिकारी के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जो विशुद्ध सम्यक्त्वव्रत पूर्वक बारहव्रतों का पालन करने वाला हो, चैत्य

एवं जिनबिम्ब का निर्माण कराने वाला हो, जिनागम एवं चतुर्विध संघ की सेवा हेतु प्रचुर धन का व्यय करने वाला हो, जिसकी भोगाभिलाषा समाप्त हो गयी हो, उत्कृष्ट वैराग्य भावना से अधिवासित हो, गृहस्थ के तीनों मनोरथों को धारण करने वाला हो, उपशान्त स्वभावी हो, कुल की वृद्धाओं, पुत्र, पत्नी, स्वामी आदि के द्वारा अनुज्ञा प्राप्त एवं प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो, वही श्रावक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने योग्य होता है।[1]

ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने हेतु किन योग्यताओं का होना आवश्यक है? इससे सम्बन्धित सर्वप्रथम उल्लेख आचारदिनकर में प्राप्त होता है। इससे पूर्ववर्ती या परवर्ती अन्य ग्रन्थों में यह चर्चा लगभग नहीं है।

ब्रह्मचर्य व्रत दिलवाने का अधिकारी कौन?

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार यह व्रतारोपण संस्कार पंचमहाव्रतधारी मुनि द्वारा करवाया जाता है। दिगम्बर-परम्परा में इस व्रत का ग्रहण मुनि अथवा भट्टारक द्वारा करवाया जाता है।

हमें यह चर्चा श्वेताम्बर के आचारदिनकर एवं दिगम्बर के आदिपुराण में उपलब्ध होती है।

ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण हेतु मुहूर्त्त विचार

आचार्य वर्धमानसूरि के निर्देशानुसार प्रव्रज्या के लिए जो मुहूर्त्त श्रेष्ठ माने गये हैं उन्हीं मुहूर्त्तों में ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करना चाहिए।[2] इस विषयक स्पष्ट वर्णन अध्याय-4 में किया गया है। इसके अतिरिक्त यह चर्चा पढ़ने में नहीं आई है।

ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण की विधि

आचारदिनकर में ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण की निम्न विधि प्रवेदित है[3] –

• सर्वप्रथम व्रतग्रहण के शुभ दिन व्रत इच्छुक अपने घर पर शान्तिक-पौष्टिक कर्म करें। फिर गुरुपूजा एवं संघपूजा करें। उस दिन शिखासूत्र को धारण कर शिर मुण्डन करें। फिर निर्दिष्ट मुहूर्त्त के आने पर व्रतग्राही श्रावक या श्राविका विवाह उत्सव की भाँति उत्तम सवारी पर आरूढ़ होकर गुरु के समीप जाएं।

• जिस स्थान पर व्रत दिलवाया जा रहा हो, वहाँ नन्दीरचना करें। फिर गुरु भगवन्त नन्दी के समक्ष व्रतग्राही को सम्यक्त्व एवं देशविरति चारित्र का आरोपण करवायें। चैत्यवन्दन, दण्डक उच्चारण, खमासमण आदि क्रियाएँ

सम्यक्त्वसामायिक एवं गृहस्थ के व्रतारोपण की भांति ही करवायें। यह विधि तीसरे खण्ड के अध्याय 2-3 में उल्लिखित हैं।

• पूर्व क्रिया से निवृत्त होने के पश्चात गुरु श्रावक को व्रतदान दिलवाने के निमित्त तीन बार नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करें। तदनन्तर तीन बार निम्न दण्डक बोलकर प्रत्याख्यान करवाएँ। उस समय व्रतग्राही श्रावक भी अर्धावनत मुद्रा में स्थित होकर तीन बार नमस्कारमन्त्र के स्मरणपूर्वक व्रतदण्डक को ग्रहण करें।

ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण का पाठ निम्न है–

"करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि आपाणं वोसिरामि। सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

अर्थ– हे भगवन्! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ, अत: पापजन्य प्रवृत्ति का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता हूँ। जब तक मैं इस नियम का पालन करता रहूँगा, तब तक मन, वाणी और शरीर - इन तीन योगों से पाप व्यापार को न करूँगा, न कराऊँगा। हे भगवन्! पूर्वकृत पापजन्य प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, उसकी भर्त्सना करता हूँ एवं उसके प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग करता हूँ। पुन: इस नियम का पालन करते हुए सर्व प्रकार से मैथुन का त्याग करता हूँ। जब तक इस नियम का पालन करता रहूंगा तब तक मन, वचन और काया– इन तीन योगों से न स्वयं मैथुन सेवन करूँगा, न किसी अन्य से मैथुन सेवन कराऊँगा। हे भगवन्! पूर्वकृत मैथुन संज्ञक प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, उसकी गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग करता हूँ।

इस प्रकार व्रत दिलवाने के पश्चात 'नित्थारग पारगा होहि'– संसार सागर से पार होओ यह कहते हुए गुरु एवं उपस्थित संघ व्रतग्राही के मस्तक पर वासचूर्ण का क्षेपण करें।

• तत्पश्चात गुरु आसन पर बैठकर ब्रह्मचर्य व्रतधारी श्रावक को सम्यक् शिक्षण दें। जैसे इस व्रत का पालन करते हुए स्त्रीकथा नहीं करना, नपुंसक,

वेश्या आदि के संयोगिक स्थान पर नहीं रहना, परित्यक्त कामभोगों का स्मरण नहीं करना, स्त्रियों या पुरुषों के अंगोपांग रागपूर्वक नहीं देखना, शरीर की विभूषा नहीं करना, विवाह आदि के उद्देश्य से निर्मित भोजन का सेवन नहीं करना, स्त्रियों से रागभावपूर्वक बातचीत नहीं करना, किसी अन्य का उपहास या निन्दा जैसी प्रवृत्तियों से सदैव दूर रहना, सदाकाल स्वाध्याय में निरत रहना, अल्प बोलना, तीन वर्ष तक त्रिकाल परमात्मा की पूजा करना, उभय सन्ध्याओं में आवश्यक क्रिया करना आदि।

- उपदेश देने के पश्चात पुनः गुरु भगवन्त व्रतधारी के मस्तक पर वासचूर्ण का निक्षेपण करें।
- व्रतधारी लंगोटी एवं उत्तरीय वस्त्र धारण करते हुए गुरोपदेश के अनुसार तीन वर्ष पर्यन्त इस व्रत का अनुपालन करें।

तुलनात्मक विवेचन

यदि पूर्वोक्त विधि का ऐतिहासिक या तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर-साहित्य में यह विधि आचारदिनकर में उल्लिखित है।

सामान्यतया ब्रह्मचर्यव्रत सार्वकालिक होने से इस व्रतग्रहण की परम्परा जिनशासन में दीर्घकाल से प्रवर्त्तमान रही है। इतिहास के पृष्ठों पर इस व्रत को स्वीकार करने के अनेकों उदाहरण अंकित हैं। स्थानांगसूत्र[4] और समवायांगसूत्र[5] में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु नौ गुप्तियों का उल्लेख किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य के संरक्षणार्थ दस समाधिस्थान बताये गये हैं।[6] दस समाधिस्थान और नौ गुप्तियों के नामों में लगभग समानता है। तुलना की दृष्टि से दस समाधिस्थान निम्न हैं –

1. ब्रह्मचारी स्त्री- पशु- नपुंसक से युक्त शयन और आसन का सेवन न करे।
2. स्त्रीकथा न करे।
3. स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।
4. स्त्रियों के मनोहर अंगों को रागभाव पूर्वक न देखे।
5. दीवार आदि की ओट में स्त्रियों के कामोत्पादक शब्द न सुने।
6. पूर्वावस्थाकृत कामभोगों का स्मरण न करे।

7. स्वादिष्ट पौष्टिक आहार न करे।
8. मात्रा से अधिक आहार- पानी का सेवन न करे।
9. शरीर की विभूषा (शृङ्गार) न करे और
10. पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्त न बने।

दसवाँ समाधिस्थान ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों में आठवें क्रम पर है। इसके नवमें स्थान पर नौवीं गुप्ति-साता और सुख में प्रतिबद्ध नहीं होना है तथा पांचवें समाधिस्थान का नौ गुप्तियों में अभाव है।

दिगम्बर परम्परा के मूलाचार में भी शीलविराधना के दस कारणों का उल्लेख मिलता है, जो उत्तराध्ययनसूत्र में वर्णित दस समाधिस्थान से किञ्चित् साम्य और किञ्चित् वैभिन्य रखता है। स्पष्टीकरण हेतु उनके नाम ये हैं– 1. स्त्री संसर्ग 2. प्रणीतरस भोजन 3. गन्धमाल्यसंस्पर्श 4. शयनासनगृद्धि 5. भूषणमण्डन 6. गीतवाद्यादि की अभिलाषा 7. अर्थ सम्प्रयोजन 8. कुशीलसंसर्ग 9. राजसेवा और 10. रात्रिसंचरण।[7] अनगारधर्मामृत में भी प्रकारान्तर से शील रक्षा के दस नियम बताये गये हैं।[8]

इस प्रकार आगमिक एवं आगमेतर साहित्य में ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक निर्देशों का विवरण स्पष्टत: उपलब्ध होता है। किन्तु किसी गृहस्थ को पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार करना हो, तो उसकी समुचित विधि आचारदिनकर में उपलब्ध होती है। यद्यपि श्रावक के बारह व्रतों में स्वपत्नीसन्तोषव्रत के रूप में ब्रह्मचर्यव्रत का आंशिक समावेश हो ही जाता है। इसमें वह स्वपत्नी को छोड़कर शेष स्त्रियों से यौन सम्बन्ध का परित्याग करता है जबकि प्रस्तुत व्रत में वह स्वपत्नी के साथ भी यौन सम्बन्धों का परित्याग कर देता है, अत: इसकी विधि पृथक रूप से कही गयी है।

यह व्रतारोपण संस्कार वर्तमान परम्परा में भी प्रवर्तित है, किन्तु आचार्य वर्धमानसूरि ने ब्रह्मचारी के लिए जिन नियमों का उल्लेख किया है, उनमें से कुछ वर्तमान समाचारी में प्रचलित नहीं हैं। आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने वाला गृहस्थ तीन वर्ष तक लंगोटी, उत्तरीय एवं शिखा धारण करके रहे। जबकि वर्तमान में इस व्रत को प्राय: यावज्जीवन के लिए स्वीकार करते हैं। साथ ही लंगोटी एवं शिखा धारण आदि की भी परम्परा नहीं देखी जाती है। सामान्यत: इस व्रत प्रतिज्ञा के पश्चात साधक अधिक से अधिक धर्माराधना करता हुआ सात्विक जीवनयापन करता है। इस प्रकार

वर्तमान सामाचारी में प्रचलित विधि, आचारदिनकर में वर्णित ब्रह्मचर्यव्रत पालन विधि से किञ्चित् भिन्न है।

यदि दिगम्बर-परम्परा में इस व्रतारोपण विधि का स्वरूप देखा जाये तो सागारधर्मामृत में पाँच प्रकार के ब्रह्मचारियों का उल्लेख मिलता है 1. उपनयन, 2. अवलम्ब, 3. अदीक्षा, 4. गूढ़ और 5. नैष्ठिक।[9] इनमें नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त के लिए इस व्रत को ग्रहण करता है, किन्तु उसके द्वारा यह व्रत किस विधिपूर्वक ग्रहण किया जाए, यह उल्लेख उसमें नहीं है।

यदि वैदिक-परम्परा की दृष्टि से इस संस्कार विधि का अवलोकन करें तो वहाँ ब्रह्मचारी के दो प्रकार प्राप्त होते हैं- 1. उपकुर्वाण और 2. नैष्ठिक। धर्मशास्त्र के अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी यावज्जीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है। इस सम्बन्ध में यह भी सूचना प्राप्त होती है कि वह सदाकाल समिधा, वेदाध्ययन, भिक्षा, भूमिशयन एवं आत्मसंयम में प्रवृत्त रहता है। संस्कारप्रकाश के मत से नैष्ठिक ब्रह्मचारी व्रतच्युत हो जाये तो उसे व्रतच्युत उपकुर्वाण ब्रह्मचारी की अपेक्षा दुगुना प्रायश्चित्त देना चाहिए।[10] स्मृतियों में ब्रह्मचर्यरक्षा के लिए स्मरण, कीर्तन, क्रीड़ा, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति- इन अष्ट मैथुनांगों से दूर रहने का विधान है।[11]

यदि बौद्ध-परम्परा में इस स्वरूप को देखा जाए तो वहाँ इस व्रत-विधि का अभाव ही है। यद्यपि शीलरक्षा के कतिपय नियम निश्चित रूप से बतलाये गये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं वैदिक इन तीनों परम्पराओं में यह व्रत संस्कार यावज्जीवन के लिए स्वीकार किया जाता है। आचारदिनकर में तीन वर्ष की मर्यादा का जो उल्लेख है वह क्षुल्लकत्व, प्रव्रज्या आदि व्रत की अपेक्षा से है। आशय यह है कि जो साधक न्यूनतम तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य जैसे दुष्कर व्रत का पालन करने में सफल हो जाये वह इससे भी श्रेष्ठतर क्षुल्लक भूमिका पर आरूढ़ हो सकता है। इसी अपेक्षा से ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि कही गयी है। दूसरे, तीनों परम्पराओं में ब्रह्मचारी के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करना आवश्यक माना गया है। इस दृष्टि से तीनों में समानता है।

उपसंहार

देव, गुरु और आत्मा की साक्षीपूर्वक इन्द्रियों और मन को संयमित करने का संकल्प करते हुए आत्म स्वरूप में स्थित हो जाना परमार्थतः ब्रह्मचर्यव्रत है।

इस व्रत का ग्रहण ब्रह्मचर्य जैसे दुष्कर व्रत का सम्यक् अभ्यास करते हुए सर्वविरति धर्म में प्रवेश पाने के उद्देश्य से किया जाता है। अतः इस व्रत में अभ्यस्त हुआ साधक ही पंचमहाव्रतों का निर्दोष पालन करने में सक्षम बनता है। इसे प्रव्रज्या ग्रहण का प्रशिक्षण या परीक्षण काल भी कह सकते हैं। आचार्य वर्धमानसूरि के मतानुसार प्रव्रज्या के लिए उत्सुक गृहस्थ को कुछ काल के लिए ब्रह्मचर्यव्रत अवश्य अंगीकार करना चाहिए, तत्पश्चात प्रव्रज्या मार्ग पर आरूढ़ होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आचार्य वर्धमानसूरि का यह अभिमत निःसन्देह अनुसरणीय है। वर्तमान में इस व्रत के पीछे प्रव्रज्या ग्रहण का मनोरथ नहीं देखा जाता। प्रायः भोगविलास एवं ऐन्द्रिक सुख का परित्याग करने के लिए यह व्रत स्वीकार किया जाता है।

सामान्यतया ब्रह्मचर्य व्रतग्रहण की काल की अपेक्षा दो कोटियाँ हैं – 1. नियतकाल और 2. जीवनपर्यन्त। साधक की इच्छानुसार यह व्रत निश्चित अवधि के लिए और यावज्जीवन के लिए द्विविध प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है। सामान्यतः विद्याध्ययन एवं उपनयन काल में बालक को ब्रह्मचारी बनाया जाता है, उस समय नियतकाल के लिए ब्रह्मचर्यव्रत का आरोपण करते हैं। अध्ययन काल पूर्ण हो जाने पर उस व्रत का विसर्जन कर देते हैं। वर्तमान की श्वेताम्बर-परम्परा में व्रतग्रहण की यह पहली कोटि अस्तित्व में नहीं है। सम्भवतः तेरापंथ सम्प्रदाय में पारमार्थिक संस्थान में रहते हुए सत्संस्कारों का अर्जन करने वाले मुमुक्षु भाई-बहनों को नियतकाल के लिए ब्रह्मचर्यव्रत की प्रतिज्ञा करवायी जाती है।

दूसरी कोटि गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए स्वीकृत है। वस्तुतः जब गृहस्थ यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करता है तभी वह प्रव्रज्या (संन्यास) के मार्ग पर अग्रसर होता है। इस सम्बन्ध में भी तीन विकल्प हैं – कुछ गृहस्थ ब्रह्मचर्यव्रत को यावज्जीवन के लिए स्वीकार कर गृहस्थावस्था में ही रहते हैं। कुछ श्रावक व्रत स्वीकार के कुछ समय पश्चात संयम धर्म स्वीकार कर लेते हैं जैसे– क्षुल्लक। कुछ जन इस व्रत के ग्रहण पूर्वक प्रव्रज्या धारण करते हैं।

वर्तमान की दिगम्बर-परम्परा में तीनों विकल्प विद्यमान हैं। श्वेताम्बर-परम्परा में क्षुल्लक दीक्षा की परम्परा प्रचलित नहीं है, अत: वहाँ दो ही विकल्प प्रचलन में है।

यदि इस व्रत की उपादेयता को लेकर विचार किया जाए तो पाते हैं कि इसके माध्यम से साधक अलौकिक शक्ति को प्रकट कर लेता है। सागारधर्मामृत में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यव्रत का निरतिचार पालन करने वाले साधक को विद्या साधित, सिद्ध और वरप्रदा होती है और उसके द्वारा मन्त्र पढ़ने मात्र से वे सिद्ध हो जाते हैं। देव अनुचर के समान उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं तथा विशुद्ध ब्रह्मचारी के नामोच्चारणमात्र से क्रूर राक्षस आदि भी शान्त हो जाते हैं।[12]

इस व्रताचरण के अभ्यास से भौतिकवादी दृष्टिकोण का उन्मूलन एवं अध्यात्ममूलक संस्कृति का बीजारोपण होता है। इससे भष्टाचार, बलात्कार, विलासिता एवं पाशविक वृत्तियाँ भी नियन्त्रित होती हैं तथा अनासक्ति, अपरिग्रह, अनेकान्त आदि सिद्धान्त वैयक्तिक जगत में प्रयोगात्मक स्वरूप धारणकर वैश्विक कल्याण के चरम सोपानों को स्पर्श कर लेते हैं।

अन्तत: यह स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है कि सामान्यतया ब्रह्मचर्यव्रत गृहस्थ द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस दृष्टि से गृहस्थ व्रतारोपण संस्कार के अन्तर्गत इसका समावेश किया जाना चाहिए, किन्तु इस व्रत का आचार अत्यन्त दुष्कर एवं प्रव्रज्या हेतु दृढ़ भूमिका रूप होने से इसे श्रमणधर्म की कोटि में स्थान दिया गया है। सम्भवत: आचार्य वर्धमानसूरि की भी यही अवधारणा रही होगी, इसीलिए उन्होंने इस व्रत को यति संस्कार के अन्तर्भूत स्वीकार किया है।

सन्दर्भ-सूची

1. *आचारदिनकर, पृ. 71.*
2. *वही, पृ. 71.*
3. *वही, पृ. 71-72.*
4. *स्थानांगसूत्र, 9/3.*
5. *समवायांगसूत्र, समवाय 9/51*
6. *उत्तराध्ययनसूत्र, सोलहवाँ अध्ययन*
7. *मूलाचार, 11/13-14.*

8. *अनगारधर्मामृत, 4/61.*
9. *सागारधर्मामृत, 7/19, पृ. 379.*
10. *धर्मशास्त्र का इतिहास, 7/ पृ. 252.*
11. *दक्षस्मृति, 7/31-32.*
12. *विद्या मंत्राश्च सिद्धयन्ति, किंकरन्त्यमरा अपि ।*
    क्रूराः शाम्यन्ति नाम्नाऽपि, निर्मल ब्रह्मचारिणाम् ।।
    सागारधर्मामृत, 7/18

●

अध्याय-2

क्षुल्लकत्वग्रहण विधि की पारम्परिक अवधारणा

जैन धर्म आचार प्रधान है। गृहस्थ धर्म का समुचित निर्वाह करने वाला व्यक्ति सदाचार की नींव को सुदृढ़ बनाये रखे, इस उद्देश्य से अर्हत् धर्म में साधना की अनेक विधियों का प्रतिपादन है। आचार पालन की दृष्टि से ब्रह्मचर्य दीक्षा, क्षुल्लक दीक्षा, प्रव्रज्या (सामायिक चारित्र), उपस्थापना (छेदोपस्थापना चारित्र) आदि भूमिकाएँ क्रमशः उच्च-उच्चतर हैं।

यदि गृहस्थ व्रती को सर्वविरति धर्म अंगीकार करना हो, प्रव्रज्यामार्ग पर आरूढ़ होना हो तो ब्रह्मचर्यव्रत पालन के पश्चात क्षुल्लक प्रव्रज्या ग्रहण करें। यह प्रव्रज्या के पूर्व का साधना काल है। इसके माध्यम से उसे मुनि दीक्षा हेतु परिपक्व बनाया जाता है। श्वेताम्बर मतानुसार प्रव्रज्या इच्छुक को सर्वप्रथम तीन वर्ष के लिए ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करना चाहिए, फिर तीन वर्ष के लिए क्षुल्लक दीक्षा धारण करनी चाहिए, उसके बाद प्रव्रज्या स्वीकार करके फिर उपस्थापना ग्रहण करनी चाहिए। यह क्रम व्रताभ्यास एवं निर्दोष आचरण को लक्ष्य में रखते हुए बतलाया गया है।

श्वेताम्बर- दिगम्बर दोनों परम्पराओं में क्षुल्लक दीक्षा अंगीकार की विधि प्राप्त होती है, किन्तु विधि-क्रिया और आवश्यक नियमों में परस्पर वैविध्य है।

क्षुल्लक के विभिन्न अर्थों की मीमांसा

क्षुल्लक का शब्दकोशीय अर्थ है – छोटा। छोटे साधु को क्षुल्लक कहते हैं। यह जैन आम्नाय का पारिभाषिक शब्द है।

अमरकोश में क्षुल्लक के निम्न अर्थ बतलाये गए हैं[1]– विवर्ण, पामर, नीच, प्राकृत, पृथग्जन, निहीन, अपसद, जाल्म आदि। किन्तु जैन परम्परा में क्षुल्लक शब्द इससे भिन्न अर्थ में गृहीत है और यहाँ क्षुल्लक शब्द ही अभिप्रेत है। प्राचीनकाल में यावज्जीवन सामायिक चारित्र अंगीकार करने वाले को क्षुल्लक कहा जाता था। वर्तमान में प्रव्रज्या इच्छुक भाई-बहनों को सर्वप्रथम

जीवनपर्यन्त के लिए सामायिकव्रत की प्रतिज्ञा दिलवायी जाती है। पंचमहाव्रतों का आरोपण तो उपस्थापन काल में किया जाता है। नियमत: जब प्रव्रज्याधारी सामायिकव्रत का पालन करते हुए मुनिचर्या में पूर्ण अभ्यस्त हो जाए तब उसकी योग्यता का परीक्षण कर उसी की उपस्थापना करते हैं। सम्भवत: पूर्वकाल में प्रव्रज्याधारी (यावज्जीवन सामायिक व्रतधारी) को ही क्षुल्लक कहा जाता होगा। सामान्यतया उपस्थापना से पूर्व दीक्षित मुनि संयमपर्याय की अपेक्षा लघु कहलाता है, अत: इस युक्ति से प्रव्रज्याधारी को क्षुल्लक कहा जा सकता है। परन्तु आचार्य वर्धमानसूरि के अनुसार क्षुल्लक रात्रिभोजन के त्याग सहित पंचमहाव्रतों का दो करण एवं तीन योगों से तीन वर्ष पर्यन्त अनुपालन करता है।[2] इन महाव्रतों के परिपालन में वह स्वयं के द्वारा हिंसादि करने या करवाने का त्याग करता है, किन्तु उनके अनुमोदन का त्याग नहीं करता है। अत: मन्दिर निर्माण, प्रतिष्ठा आदि की प्रेरणा दे सकता है।

दिगम्बर-परम्परा में ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक को क्षुल्लक कहा गया है। आचार्य वसुनन्दि ने 11वीं प्रतिमा के दो भेद किये हैं – क्षुल्लक और ऐलक। जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश के अनुसार विक्रम की 14वीं-15वीं शती तक उक्त नाम प्रथमोत्कृष्ट श्रावक और द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के रूप में प्रचलित थे। तदनन्तर पं. राजमल्लकृत (16वीं शती) लाटीसंहिता में सर्वप्रथम क्षुल्लक और ऐलक शब्द का प्रयोग किया गया मालूम होता है।

आचार्य जिनसेन ने क्षुल्लक के दीक्षार्ह एवं अदीक्षार्ह - ऐसे दो विभाग किये हैं।[3] इसका स्पष्टीकरण यथास्थान करेंगे।

क्षुल्लकत्व ग्रहण एवं उसे प्रदान करने का अधिकार किसे?

क्षुल्लक दीक्षा कौन धारण कर सकता है ? इस सम्बन्ध में आचार्य वर्धमानसूरि उसकी आवश्यक योग्यताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसने तीन वर्ष तक त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया हो, वैराग्य भाव से परिपूर्ण हो, शील का दृढ़तापूर्वक पालन करने वाला हो एवं यतिदीक्षा ग्रहण करने को उत्सुक हो, वह साधक क्षुल्लक दीक्षा के लिए योग्य है।[4]

परम्परागत सामाचारी के अनुसार जो गुरु प्रव्रज्या दान के योग्य माने गये हैं उन्हीं के द्वारा यह व्रतारोपण संस्कार सम्पन्न किया जाता है। दीक्षा देने योग्य

गुरु के लक्षण अध्याय-4 में कहेंगे।

दिगम्बर-साहित्य में क्षुल्लक पदारूढ़ श्रावक किन गुणों से युक्त होना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं हो पाया है। यद्यपि वह ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक होने से व्रत, नियम, सामायिक, पौषध, सचित्त वर्जन, रात्रिभोजन त्याग, अहिंसक प्रवृत्ति आदि धार्मिक क्रियाओं का अनुपालन करने वाला होता है। उनमें यह विधि मुनि अथवा भट्टारक द्वारा करवायी जाती है।

क्षुल्लकत्व दीक्षा हेतु काल विचार

श्वेताम्बर-साहित्य में यह वर्णन आचारदिनकर में प्राप्त होता है। तदनुसार मुनि दीक्षा के लिए प्रशस्त तिथि, वार, लग्न एवं नक्षत्र का योग होने पर क्षुल्लक दीक्षा प्रदान करना चाहिए।[5] दीक्षा मुहूर्त्त का वर्णन अध्याय-4 में किया गया है। दिगम्बर-साहित्य में इस विषयक लगभग कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

क्षुल्लकदीक्षा ग्रहण-विधि

आचारदिनकर में प्रतिपादित क्षुल्लकदीक्षा की विधि निम्न प्रकार है[6]–

क्षुल्लकदीक्षा ग्रहण करने का इच्छुक लग्नदिन में मस्तक का मुण्डन करवाकर एवं दैहिक शुद्धि करके शिखा तथा उपवीत धारण करें। दीक्षास्थल पर नन्दीरचना करें।

उद्देशविधि – तत्पश्चात नन्दीस्थल पर गुरु के बायीं ओर उपस्थित होकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। फिर व्रतग्राही एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके कहे – **''भयवं इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पंचमहव्वयाणं अवहि आरोपणं उद्दिसह''** हे भगवन्! आपकी इच्छा हो, तो आप मुझे एक अवधि विशेष के लिए पंचमहाव्रतों को स्वीकार करने की अनुमति प्रदान करें। गुरु कहे – **'आदिसामि'** मैं अनुमति देता हूँ।

उसके बाद क्षुल्लक के नाम आदि के उच्चारणपूर्वक वासग्रहण, चैत्यवन्दन (दस अथवा अठारह स्तुतियों पूर्वक देववन्दन), कायोत्सर्ग आदि क्रियाएँ सम्यक्त्वव्रतारोपण के समान करें। स्पष्टबोध के लिए सामान्य उल्लेख इस प्रकार है–

वासदान– व्रतग्राही एक खमासमण द्वारा वन्दन करके कहे – **''इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पंचमहव्वयाणं अवहि आरोवणियं नंदिकड्ढावणियं वासक्खेवं करेह''** – हे भगवन् ! आप स्वेच्छा से मुझे एक अवधि विशेष के लिए पंचमहाव्रतों के आरोप हेतु वासदान करें। तब गुरु

सूरिमन्त्र या गणिविद्या से वासचूर्ण को अभिमन्त्रित कर शिष्य के मस्तक पर उसका क्षेपण करें।

देववन्दन – तत्पश्चात व्रतग्राही श्रावक समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। फिर गुरु के समक्ष एक खमासमण देकर कहे – **"इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पंचमहव्वयाणं अवहि आरोवणियं चेइयाइं वंदावेह"** तब गुरु और शिष्य दोनों जिसमें अक्षर एवं स्वर क्रमशः बढ़ते हुए हों ऐसी चार स्तुतियाँ तथा शान्तिनाथदेवता, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता, समस्तवैयावृत्यकरदेवता – कुल दस स्तुतियाँ पूर्वक देववन्दन करें। अर्हणादिस्तोत्र बोलें।

कायोत्सर्ग – उसके पश्चात दीक्षाग्राही शिष्य एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन कर कहे – **"भगवन्, पंचमहव्वयाणं अवहि आरोवणियं नंदिकड्ढावणियं काउस्सग्गं करेमि।"** गुरु कहे– **'करेह'**। तब दीक्षा इच्छुक श्रावक अन्नत्थसूत्र बोलकर 'सागरवरगम्भीरा' पर्यन्त एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

तदनन्तर दीक्षाग्राही मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

समुद्देश – उसके बाद दण्डक उच्चरित करने हेतु दीक्षाग्राही एक खमासमण द्वारा वन्दन करके कहे – **"भयवं इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पंचमहव्वयाणं अवहिआरोवणं समुद्दिसह"** हे भगवन् ! आप अपनी इच्छा से, मुझे एक निश्चित अवधि के लिए पंचमहाव्रत स्वीकार हेतु अनुमति प्रदान करें। तब गुरु कहे – **'समुदिसामि'** मैं सम्यक्रूप से अनुमति देता हूँ।

व्रतग्रहण – तदनन्तर दीक्षाग्राही तीन बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करके निम्न दण्डक को गुरुमुख से तीन बार उच्चरित करें। क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण का पाठ निम्न है –

"करेमि भंते सामाइयं सव्व सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

पुनः तीन बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण कर निम्न दण्डक को तीन बार उच्चरित करें –

"सव्वं पाणाईवायं सव्वं मुसावायं सव्वं अदिन्नादाणं सव्वं मेहूणं सव्वं परिग्गहं राईभोअणं पच्चक्खामि जाव नियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं मणेणं ... ... अप्पाणं वोसिरामि।"

हे भगवन्! मैं सामायिक व्रत को ग्रहण करता हूँ तथा पापकारी सावद्य क्रियाओं का निश्चित अवधि के लिए दो करण एवं तीन योग से त्याग करता हूँ, अर्थात मन, वचन एवं शरीर से सावद्य क्रियाएं न करूँगा, न करवाऊँगा। हे भगवन्! पूर्वकृत पापकारी प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उनकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति रही हुई आसक्ति का त्याग करता हूँ।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रिभोजन का निश्चित अवधि के लिए सम्पूर्णतः त्याग करता हूँ। मन, वचन, काया से हिंसादि पांच प्रकार का पाप कार्य न करूँगा, न करवाऊँगा। हे भगवन् ! अतीतकृत हिंसादि पापकारी प्रवृत्तियों से मैं निवृत्त होता हूँ, उनकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ एवं उसके प्रति रहे हुए ममत्वभाव का त्याग करता हूँ।

अनुज्ञा – उसके पश्चात दीक्षाग्राही खमासमण पूर्वक वन्दन करके कहें – **"भयवं इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं पंचमहव्वय अवहिपालणं अणुन्नवेह"**

हे भगवन् ! आपकी इच्छा से आप मुझे एक अवधि के लिए पंचमहाव्रत पालन करने की आज्ञा दें। गुरु कहे – **'अणुन्नवेमि'** मैं आज्ञा देता हूँ।

तदनन्तर दीक्षाग्राही शिष्य उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा हेतु छह-छह बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करके, पूर्ववत प्रवेदन विधि करें तथा कायोत्सर्ग आदि भी पूर्व की भाँति तीन-तीन बार करें।

अनुशिक्षण – तत्पश्चात गुरु एवं उपस्थित संघ हाथों में अभिमन्त्रित वासचूर्ण को ग्रहण कर नवीन क्षुल्लक को परम्परागत सामाचारी से अवगत करवाते हुए कहें – हे विरतिधर! तुमने तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है, अब तुम क्षुल्लकत्व को प्राप्त करो। नियत अवधि पूर्ण होने तक पंचमहाव्रतों का पालन करना। शिखा एवं सूत्र को धारण कर सदैव मुनि के समान विचरण करना। मुनियों द्वारा ग्रहण करने योग्य शुद्ध एवं निर्दोष आहार का ग्रहण करना। (वर्तमान की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में यह नियम छोटी दीक्षा प्राप्त साधकों के लिए है) चाहो तो गृहस्थ के घर निर्दोष भोजन करना। भोजन में सचित्त वस्तु का स्पर्श भी मत करना। दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया करना। सदाकाल स्वाध्याय में संलग्न रहना। क्षुल्लक का वेश ब्रह्मचारी के समान होता है अतः तुम मुनि के समान ही ब्रह्मगुप्तियों का पालन करना। तुम नवदीक्षित साधु-साध्वियों को प्रणाम करना, किन्तु उनसे वन्दन मत करवाना। आगम ग्रन्थों को छोड़कर धर्मशास्त्र का अध्ययन करना।

तत्पश्चात 'नित्थार पारगो होहि' कहकर आचार्य सहित सकल संघ उसके मस्तक पर वास-अक्षत का निक्षेपण करें। तदनन्तर क्षुल्लक व्रतधारी गुर्वाज्ञा से धर्मोपदेश देने हेतु तीन वर्ष की अवधि तक विचरण करें।

दिगम्बर-साहित्य में क्षुल्लक दीक्षा से सम्बन्धित दो प्रकार की विधियाँ प्राप्त होती हैं।[7]

प्रथम विधि के अनुसार क्षुल्लक दीक्षा के लिए उत्सुक श्रावक सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, शान्तिभक्ति, समाधिभक्ति पढ़ें। फिर **'ॐ ह्रीँ श्रीं क्लीं ऐं अर्हम् नमः'** इस मन्त्र द्वारा 21 अथवा 108 बार जाप करें।

द्वितीय विधि के अनुसार क्षुल्लक दीक्षा के योग्य नक्षत्रों में व्रत इच्छुक को अलंकारों से सुसज्जित कर चैत्यालय में लाएँ। फिर वह अरिहन्त परमात्मा को वन्दन (स्तुति आदि) कर समस्त बांधवों एवं परिचितों से क्षमापना करें। फिर गुरु से दीक्षा दान की याचना करें। गुरु उसे योग्य समझें तो दीक्षा ग्रहण की अनुमति दें। उसके पश्चात सौभाग्यवती नारी उत्तम स्थान पर स्वस्तिक बनाकर उस पर श्वेत वस्त्र प्रच्छादित करें। फिर मुमुक्षु को पूर्वाभिमुख करके उस पर बिठायें। तत्पश्चात उपस्थित संघ की अनुमति लेकर गुरु उसका लोच करें। तत्पश्चात गुरु और शिष्य दोनों सिद्ध और योग भक्ति पढ़ें। तदनन्तर गुरु शांतिमन्त्र से गन्धोदक को तीन बार अभिमंत्रित करें तथा नवीन क्षुल्लक के मस्तक पर उसका क्षेपण करें। अपने बायें हाथ से उसके मस्तक का स्पर्श भी करें।

शान्तिमन्त्र यह है – **"ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्त्तये शान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशकाय सर्वरोगाप-मृत्युविनाशनाय सर्वपरकृत क्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्व क्षामडामरविनाशनाय ॐ ह्राँ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा अमुकस्य .... सर्व शांतिं कुरू कुरू स्वाहा।"**

तदनन्तर वर्धमानविद्या मन्त्र का उच्चारण करते हुए नवीन क्षुल्लक के मस्तक पर दही, अक्षत, गोरस, दूर्वा का निक्षेप करें।

वर्धमानविद्या मन्त्र यह है– **"ॐ नमो भयवदो वड्ढमाणस्स रिसहस्स चक्कं जलंतं गच्छाइ आयासं पायालं लोयाणं भूयाणं जये वा, विवादे वा, थंभणे वा, रणंगणे वा, रायंगणे वा सव्वजीवसत्ताणं, अपराजिदो भवदु रक्ख रक्ख स्वाहा।"**

उसके पश्चात शिष्य सिद्धभक्ति और योगिभक्ति पढ़कर व्रत ग्रहण हेतु गुरु मुख से निम्न गाथा को तीन बार उच्चरित करें–

दंसण वय सामाइय, पोसह सचित्त राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह, अणुमणु मुद्दिट्ठ देसविरहेदे।।

फिर गुरु इस गाथा की व्याख्या कर गुर्वावली पढ़ें। उसके बाद मन्त्रोच्चारण पूर्वक उसे संयम के उपकरण प्रदान करें।

पिच्छिउपकरण दान मन्त्र

ॐ णमो अरहंताणं (आर्य-ऐलक) क्षुल्लके वा षट्जीवनिकाय रक्षणाय मार्दवादिगुणोपेत मिदं पिच्छोपकरणं गृहाण गृहाण इति।

ज्ञानोपकरण दान मन्त्र

ॐ णमो अरहंताणं मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांग-श्रुताय नमः। भो अन्तेवासिन्। इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाणेति।

शौचोपकरण दान मन्त्र

कमण्डलु को बाएं हाथ से उठाकर निम्न मन्त्र बोलते हुए प्रदान करें–

ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रय पवित्रकरणाङ्गाय बाह्याभ्यन्तरमल-शुद्धाय नमः। भो अन्तेवासिन्। इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाणेति।।

तुलनात्मक विवेचन

जब हम पूर्व विवेचित विधि स्वरूप का तुलनात्मक पहलू से विचार करते हैं तो उनमें परस्पर आंशिक समानताएँ एवं आंशिक असमानताएँ निम्न प्रकार से परिलक्षित होती हैं–

1. श्वेताम्बर-परम्परा में क्षुल्लक नियत अवधि के लिए सामायिक एवं पंचमहाव्रत सहित रात्रिभोजनविरमण व्रत की प्रतिज्ञा दो करण एवं तीन योग से स्वीकार करता है जबकि दिगम्बर-परम्परा में उसे ग्यारह प्रतिमारूप व्रत दण्डक उच्चरित करवाया जाता है, अत: मूल से व्रत इच्छुक गृहस्थ ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करता है।

2. श्वेताम्बर मान्यतानुसार क्षुल्लक गृहीत व्रत का तीन वर्ष तक परिपालन करता है। आचार्य वर्धमानसूरि ने क्षुल्लकदीक्षा का काल तीन वर्ष बतलाया है जबकि दिगम्बर-परम्परा में क्षुल्लक दीक्षा की कोई अवधि निश्चित नहीं की जा सकती है, वह यावज्जीवन होती है। यद्यपि ऐलक या मुनि दीक्षा ग्रहण है, किन्तु नियम से वह पुनः गृहस्थ जीवन को स्वीकार नहीं कर सकता।

3. श्वेताम्बर क्षुल्लक के लिए मुनियों द्वारा लायी गयी एवं स्वगृहीत दोनों तरह की भिक्षा ग्रहण करने का विधान है। आचारदिनकर के अनुसार वह गृहस्थ के घर पर भी निर्दोष भोजन कर सकता है, जबकि दिगम्बर-परम्परा में क्षुल्लक स्वयं ही भिक्षावृत्ति से अपने जीवन का निर्वाह करता है। यद्यपि यह आहारचर्या एक ही गृहस्थ के घर में सम्पन्न होती है।

4. श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों मान्यतानुसार क्षुल्लक गृहत्यागी होता है और यथासम्भव मुनिसमूह के साथ विचरण करता है।

5. श्वेताम्बर मतानुसार क्षुल्लक पात्र में भोजन करता है जबकि दिगम्बर-परम्परा में क्षुल्लक गृही के पात्र में भोजन कर सकता है एवं पाणिपात्री भी हो सकता है। वर्तमान में दोनों परम्पराएँ देखी जाती है।

6. श्वेताम्बर के अनुसार क्षुल्लक मुनिवेशधारी रजोहरण, मुखवस्त्रिका, आसन आदि धारण करता है जबकि दिगम्बर-परम्परा में वह एक कौपीन, एक चादर, एक कमण्डल तथा पींछी रखता है। यद्यपि लाटीसंहिता के अनुसार क्षुल्लक वस्त्रखण्ड से ही पीछी (प्रमार्जन) योग्य सब कार्यों को करता है।

7. श्वेताम्बर मतानुसार क्षुल्लक लग्न दिन में मुण्डन करवाता है जबकि दिगम्बर-परम्परा में जघन्योत्कृष्ट की अपेक्षा मुण्डन एवं केशलोच इन दोनों का प्रावधान है।

8. आचारदिनकर के निर्देशानुसार क्षुल्लक शिखा एवं उपवीतधारी भी होता है जबकि दिगम्बर-परम्परा के लाटीसंहिता में यह कहा गया है कि यदि प्रतिमाधारी श्रावक ने दशवीं प्रतिमा में चोटी और उपवीत को धारण कर रखा है तो उसे ग्यारहवीं प्रतिमा अर्थात क्षुल्लक अवस्था में भी चोटी एवं उपवीत को धारण करके रखना चाहिए, अन्यथा इच्छानुसार कर सकता है। इस प्रकार दिगम्बर-परम्परा में शिखा एवं उपवीत धारण करने का औत्सर्गिक नियम नहीं है।

9. श्वेताम्बर आचार्यों के अनुसार क्षुल्लक व्रतारोपण संस्कार को छोड़कर शेष संस्कार करवा सकता है तथा शान्तिक, पौष्टिक एवं प्रतिष्ठा-सम्बन्धी क्रियाकलापों को भी सम्पन्न कर सकता है। उसे लग्नदिन में गुरु द्वारा उक्त कृत्यों के लिए अधिकार दिया जाता है जबकि दिगम्बर क्षुल्लक को कौनसे अधिकार प्राप्त हैं ? इस विषयक स्पष्ट वर्णन पढ़ने में नहीं आया है।

10. श्वेताम्बर-परम्परा में क्षुल्लक दीक्षा देते समय मुख्य रूप से नन्दीरचना, वासदान, चैत्यवन्दन, व्रतदण्डक ग्रहण, थोभवन्दन आदि कृत्य किये जाते हैं। प्रकारान्तर से दिगम्बर-परम्परा में भी अर्हत् वन्दन, गुरुवन्दन, गन्धोदक क्षेपण, प्रतिमा ग्रहण आदि कृत्य किये जाते हैं। जिस प्रकार श्वेताम्बर आम्नाय में सूरिमन्त्रादि से वासचूर्ण अभिमन्त्रित करते हैं उसी प्रकार दिगम्बर आम्नाय में शान्तिमन्त्रादि से गन्धोदक आदि को अधिवासित करते हैं।

11. आचारदिनकर के अनुसार यदि क्षुल्लक व्रत का सम्यक् प्रकार से परिपालन न कर सके तो वह पुनः गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर सकता है, किन्तु दिगम्बर क्षुल्लक के लिए ऐसा नियम नहीं है।

प्रसंगानुसार दिगम्बर संघ में यति आचार पालन की तीन कोटियाँ हैं – क्षुल्लक, ऐलक एवं मुनि।

• क्षुल्लक कौपीन (लंगोटी) एवं चादर दो वस्त्र धारण करता है। प्रायः भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करता है। वह गृहस्थ पात्र में भी भोजन कर सकता है तथा मुण्डन और केशलोच दोनों करवाता है।

• ऐलक कौपीन मात्र धारण कर भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करता है। वह साधु के समान पाणिपात्र में भोजन करता है और केशलोच करवाता है।

• मुनि एवं ऐलक में लंगोटी मात्र का अन्तर है, शेष चर्या दोनों की एक समान होती है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में क्षुल्लक लगभग मुनि की भांति जीवन चर्या बिताते हैं तदुपरान्त उन्हें बहुत कुछ सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। श्वेताम्बर क्षुल्लक के लिए निर्दिष्ट नियम औत्सर्गिक हैं परन्तु दिगम्बर क्षुल्लक के कतिपय नियम वैकल्पिक हैं, जैसे कि वह लोच भी करवा सकता है और इच्छानुसार मुण्डन भी।

श्वेताम्बर मतानुसार क्षुल्लक तीन वर्ष तक पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजन विरमणव्रत का पालन करता है जबकि दिगम्बर क्षुल्लक यावज्जीवन के लिए ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करते हैं।

यदि उपलब्ध साहित्य की अपेक्षा विचार करें तो श्वेताम्बर मान्य आचारदिनकर में यह विधि प्राप्त होती है तथा दिगम्बर में सागारधर्मामृत, लाटीसंहिता, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि कई ग्रन्थों में इसका वर्णन प्राप्त होता है।

यदि श्रमण और वैदिक धर्म की अपेक्षा इस विधि का आकलन करें तो श्वेताम्बर के मूर्तिपूजक एवं दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं में क्षुल्लक दीक्षा का अस्तित्व पूर्व विवेचन से स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। श्वेताम्बर संघ की अन्य परम्पराओं स्थानकवासी, तेरापंथी आदि से सम्बन्धित साहित्य में यह विधि लगभग नहीं है, किन्तु उनमें श्रमणभूत प्रतिमा के उल्लेख हैं। वैदिक अथवा बौद्ध-परम्परा में भी इस संस्कार का अभाव ही है। यद्यपि वैदिक परम्परा की वानप्रस्थ अवस्था से तथा बौद्ध परम्परा की श्रामनेर दीक्षा से इसका आंशिक साम्य माना जा सकता है।

उपसंहार

'यति आचार दुष्पालनीय एवं कठिन है' अत: इस आचार का सम्यक् परिपालन करने हेतु क्षुल्लक दीक्षा स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। यह मुनि जीवन में प्रवेश करने की पूर्व भूमिका रूप है। इस प्रक्रिया के माध्यम से क्षुल्लक को पंच महाव्रतों के पालन एवं मुनि जीवन की दैनन्दिन चर्याओं का सम्यक अभ्यास करवाया जाता है ताकि वह प्रव्रज्या एवं उपस्थापना के पश्चात भी उनका निर्दोष रूप से परिपालन कर सके।

भारतीय संस्कृति में शिक्षा के दो प्रकार हैं - 1. ग्रहणात्मक और 2. आसेवनात्मक। इसे वर्तमान भाषा में सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक शिक्षा भी कहा जा सकता है। आचारपक्ष को सबल बनाने हेतु उक्त दोनों प्रकार का प्रशिक्षण आवश्यक है। क्षुल्लक को सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक दोनों तरह का प्रशिक्षण दिया जाता है, यही इस संस्कार की उपयोगिता है।

दूसरे, तीन वर्ष के अभ्यासकाल में वह स्वयं के मनोबल एवं आत्मबल का परीक्षण कर मुनि जीवन में प्रवेश करने या नहीं करने के निर्णय पर भी पहुंच जाता है। तीसरे, क्षुल्लक जीवन अभ्यस्त मुनि के लिए महाव्रतों एवं संयम का पालन सरल होता है। वस्तुत: पूर्व अभ्यस्त व्यक्ति ही अपने क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। अभ्यास, सफलता का प्राथमिक द्वार है। फिर अध्यात्म जैसे कठिन मार्ग का यथावत् अनुसरण बिना अभ्यास के असम्भव है। इस प्रकार क्षुल्लक दीक्षा की अनेक दृष्टि से उपयोगिता है। वर्तमान की श्वेताम्बर-परम्परा में यह व्यवस्था प्राय: लुप्त हो गयी है, किन्तु दिगम्बर आम्नाय में आज भी इसका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यद्यपि उसमें भी मध्यकाल में इसका प्राय: अभाव

रहा है। मध्यकाल में क्षुल्लक का स्थान भट्टारकों ने ले लिया था, किन्तु विगत एक शताब्दी से यह व्यवस्था पुनः प्रचलन में है।

सन्दर्भ-सूची

1. *अमरकोश, 2/20/16 पृ. 215.*
2. *आचारदिनकर, पृ. 72.*
3. *जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा. 2, पृ. 188-190.*
4. *आचारदिनकर, पृ. 72.*
5. *वही, पृ. 72.*
6. *वही, पृ. 72-73.*
7. *हुम्बुजश्रमणभक्तिसंग्रह, भा. 1, पृ. 497-498.*

अध्याय-3

नन्दीरचना विधि का मौलिक अनुसंधान

नन्दीरचना एक मांगलिक क्रिया है। सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, उपधान, प्रव्रज्या, उपस्थापना, आचार्यपदस्थापना जैसे विशिष्ट अनुष्ठानों में नन्दी रचना की जाती है। प्राचीन परम्परा के अनुसार जो व्रतादि दीर्घ अवधि या यावज्जीवन के लिए अंगीकार किए जाते हैं उनसे सम्बन्धित समस्त क्रियाएँ नन्दीरचना के सम्मुख की जाती हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय में नन्दी रचना का अत्यधिक महत्त्व है इसलिए यह विधि इसी परम्परा में विशेष रूप से प्रचलित है।

नन्दीरचना का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं स्वरूप

'नन्द' धातु और 'इन्' प्रत्यय के योग से नन्दी शब्द की उत्पत्ति हुई है। 'नन्द' धातु-हर्ष, प्रसन्नता, खुशी, आनन्दित करने वाला, प्रसन्न करने वाला आदि विभिन्नार्थक है। नन्दा शब्द सम्पन्नता, समृद्धि, खुशी, हर्ष, प्रसन्नता का सूचक है।[1] नन्दीसूत्र की टीका में 'नन्दी' शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य निम्न अर्थ किये गये हैं –

- **टुनदि समृद्धौ, नुमि विहिते नन्दनं नन्दिः**– जो समृद्धि का प्रतीक है, वह नन्दि है।[2] यह प्रमोद तथा हर्ष का भी द्योतक है।
- **नन्दन्ति प्राणिनोऽनेनास्मिन् वेति नन्दिः**– जिसके द्वारा प्राणी प्रसन्न होते हैं, वह नन्दि है।[3]
- जो आत्मिक आनन्दानुभूति का माध्यम है, वह नन्दि है।
- जिसके द्वारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान को प्राप्त किया जाता है, वह अध्ययन विशेष भी नन्दि है।
- अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार नन्दि मंगलवाचक,[4] पंचज्ञानसूचक[5] और आनन्द, प्रमोद एवं प्रसन्नता का प्रतीक है।[6]
- एक अन्य अर्थ के अनुसार जिस क्रिया के माध्यम से तप-संयम की आराधना में प्रसन्नता बढ़ती है, समाधि का अनुभव होता है, वह नन्दि है।[7]

उक्त परिभाषाओं के आधार पर 'नन्दि' के मुख्य दो अर्थ माने जा सकते हैं। लौकिक दृष्टि से मंगल करने वाली, कल्याण करने वाली, प्रसन्नता देने वाली, वाञ्छित अर्थ की प्राप्ति कराने वाली क्रिया नन्दी कहलाती है तथा लोकोत्तर दृष्टि से सम्यक्‌दर्शन, सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र रूप समृद्धि को प्रकट करने वाली, पाँच प्रकार के ज्ञान को प्राप्त कराने वाली एवं तद्‌रूप आनन्द की अनुभूति देने वाली क्रिया नन्दी कही जाती है।

केवलज्ञान आदि गुणों से युक्त तीर्थङ्कर परमात्मा की प्रतिमा को त्रिगड़े में विराजमान करना नन्दिरचना कहलाता है। योग्य स्थान की शुद्धि करना, सुगन्धित जल आदि के छिड़काव द्वारा उस भूमि को पवित्र करना तथा स्थापित जिनबिम्ब की अष्ट प्रकारी पूजा करना नन्दि विधि कहलाती है। इसे 'नांद मांडना' भी कहते हैं। इस तरह नन्दि, नन्दिरचना एवं नन्दि विधि तीनों शब्द भिन्न-भिन्न अभिप्राय के सूचक होने पर भी अर्थ में एक-दूसरे के सम्पूरक हैं।

जैन परम्परा में नन्दि के दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं, किन्तु प्रसंगानुसार कोई एक अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जहाँ नन्दि शब्द का उल्लेख हो वहाँ मंगल, आनन्द आदि अर्थ मानना चाहिए और जहाँ नन्दीपाठ या नन्दिकड्ढावणियं का निर्देश हो तो पंचज्ञान की प्राप्ति का अवबोध करना चाहिए।

पाँच ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला नन्दीसूत्र नन्दिपाठ कहलाता है और नन्दीसूत्र का एक अंश लघुनन्दिपाठ कहा जाता है। दीक्षा, उपस्थापना आदि व्रतारोपण एवं उपधान आदि के प्रसंग पर लगभग लघुनन्दीपाठ सुनाया जाता है और योगवहन, पदस्थापना आदि में अधिकांश बृहद् नन्दीपाठ सुनाने की परम्परा है।

व्रत ग्रहण के प्रसंग पर मतिज्ञानादि पाँच प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करने के प्रयोजन से नन्दीपाठ सुनाते हैं, क्योंकि व्रतादि स्वीकार का चरम उद्देश्य कैवल्य प्राप्ति है एतदर्थ नन्दीसूत्र सुनाने की परम्परा रही है।

उक्त वर्णन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय में नन्दिरचना आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नन्दीरचना एक परिचय– नन्दीरचना जैन संप्रदाय में ही नहीं, बल्कि भारत की विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों एवं जातियों में उपलब्ध है, जिसका रूप और प्रयोजन अपनी-अपनी प्रथाओं के अनुरूप थोड़ी भिन्नता लिए हुए भी मूलतः एक उत्स वाला हैं।

हालांकि नन्दीरचना के संबंध में प्राचीन जैनागमों में उल्लेख बहुत स्पष्ट नहीं है परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इस विषय पर काफी लिखा है। आचार्य हरिभद्रसूरि और आचार्य जिनभद्रसूरि ने अपने ग्रंथों में नन्दीरचना के विविध प्रसंगों पर विचार किए हैं। जिनप्रभसूरि ने अपनी पुस्तक विधमार्गप्रपा में 'नन्दीरचना-विधि' नाम से एक अलग अध्याय लिखकर उस पर विस्तार से चर्चा की है।

जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय में इसे सर्वाधिक मान्यता दी गई है। यह एक अनिवार्य अनुष्ठान के रूप में स्वीकृत है, जिसे समवसरण रचना भी कहा जाता है। इसका पालन व्रतधारी की मनोवृत्ति को तदनुरूप बनाने के लिए किया जाता है। सम्यकत्व व्रत, बारहव्रत जैसे व्रतों के ग्रहण के अतिरिक्त अन्य विविध अनुष्ठानों के अवसरों पर भी नन्दिरचना का महत्व है। खासकर उपधान, प्रव्रज्या, उपस्थापना, योगोद्वहन, पदस्थापना के समय इसका निर्माण किया जाता है और मांगलिक मनोभूमि की तैयारी की जाती है। इसके साथ ही साधकों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान की साधना में भी नन्दिरचना को सहायक माना जाता है।

नन्दीरचना की आवश्यकता क्यों ?

जनसामान्य में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नन्दिरचना की आवश्यकता कब और क्यों हैं ? इस सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नन्दि समवसरण (देवनिर्मित सभामण्डप विशेष, जहाँ तीर्थङ्कर परमात्मा धर्मदेशना देते हैं) की प्रतिकृति रूप रचना है। मान्यता है कि नन्दी के सम्मुख किये जाने वाले व्रतादि अनुष्ठान पूर्णत: फलदायी होते हैं। इसका रहस्य यह है कि तीर्थङ्कर पुरुषों का संसार में चरमोत्कर्ष पुण्य होता है, उनका स्मरण करने मात्र से पवित्र भावनाओं का उद्भव होता है तब अरिहन्त परमात्मा जहाँ साक्षात या प्रतिकृति रूप में विद्यमान हों वहाँ असीम आनन्द की अनुभूति होने में कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त तीर्थङ्करों के 35 अतिशयों (विशिष्ट गुणों) में एक यह है कि जिस भूमि पर तीर्थङ्कर प्रभु विचरते हैं वहाँ किसी प्रकार का उपद्रव अथवा अमंगल नहीं होता है। इस अपेक्षा से कह सकते हैं कि व्रत आदि स्वीकार की मंगल विधि निर्विघ्नत: सम्पन्न हो एवं गृहीत व्रत आदि में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि हो, इस उद्देश्य से नन्दीरचना की परम्परा है।

दूसरा प्रयोजन यह माना गया है कि तीर्थङ्कर परमात्मा स्वभावत: प्राणीमात्र के कल्याणकारक और दु:ख निवारक होते हैं, अत: उनके प्रति श्रद्धापूर्वक किया गया अनुष्ठान निश्चित रूप से कल्याणप्रद एवं मंगलदायी होता है।

तीसरा प्रयोजन यह कहा जा सकता है कि व्रत आदि का स्वीकार करना सामान्य व्यक्तियों के लिए सुगम नहीं है किन्तु चारित्रमोहनीय आदि के क्षयोपशम से व्रत ग्रहण की भावना उत्पन्न हो जाये तो उसे अंगीकार करने हेतु पुष्ट आलम्बन अवश्य होना चाहिए और वह साक्षात तीर्थङ्कर प्रभु या उसकी प्रतिकृति रूप जिनप्रतिमा ही है। आलम्बन दृढ़ हो तो स्खलना या फिसलन की सम्भावनाएँ कम रहती है, अत: इस प्रयोजन से भी नन्दीरचना की मूल्यवत्ता है।

नन्दि रचना का एक हेतु यह भी कहा जा सकता है कि व्रतादि स्वीकार एवं सूत्रादि ग्रहण के मूल ध्येय को जिसने प्राप्त कर लिया है वह साक्षात उपस्थित हो, तो जिस व्यक्ति के द्वारा व्रतादि का स्वीकार किया जा रहा है उसकी वह भावनाएँ और अधिक बलवती हो जाती हैं, यह मनोवैज्ञानिक सत्य भी है।

नन्दीरचना के सम्मुख क्रियानुष्ठान करने की पांचवाँ कारण यह भी संभव यह है कि जिन महापुरुषों के द्वारा व्रतादि मार्ग का सेवन किया गया है और उस मार्ग के द्वारा अनुभूत सत्य को प्रतिपादित एवं अन्यों के लिए वह मार्ग अपनाने का उपदेश दिया गया है, उन उपकारी जिनेश्वर भगवान की सान्निध्यता को स्वीकार करना, व्रतग्राही के लिए अनिवार्य है। इससे कृतज्ञता गुण प्रकट होता है तथा गृहीत व्रतादि के अनुपालन में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

नन्दीरचना (जिनप्रतिमा) के सम्मुख व्रतादि ग्रहण करने का एक प्रयोजन यह भी माना जा सकता है कि इससे व्रतपालन के प्रति सजगता बनी रहती है, व्रतखण्डित न हो जाये इसका भय भी सदैव बना रहता है।

समाहारत: उपकारी का स्मरण, शुभ अध्यवसायों की अभिवृद्धि एवं पुष्ट आलम्बन की स्मृति को सजीव रखने के प्रयोजन से नन्दिरचना की जाती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तीर्थङ्कर परमात्मा की साक्षात उपस्थिति में व्रतादि का स्वीकार देव रचित समवसरण में किया जाता है तथा उनकी अनुपस्थिति में व्रतादि अनुष्ठान जिनालय या नन्दीरचना के समक्ष किये जाते हैं। सामान्यतया नन्दीरचना में काष्ठ या रजत से निर्मित त्रिगड़ा होता है। यह त्रिगड़ा

समवसरण की रचना के समान और तत्‌चिह्नों से युक्त होता है। इसके तीसरे गढ़ पर चौमुखी प्रतिमा विराजमान करते हैं और इसे ही नन्दिरचना कहते हैं।

नन्दीरचना का अधिकारी कौन ?

विधिमार्गप्रपा के संकेतानुसार इस कृत्य का अधिकारी आचार्य और मार्गानुसारी गुणों से युक्त सद्‌गृहस्थ है। यह रचना आचार्य या गीतार्थ मुनि एवं योग्य श्रावक के द्वारा सम्पादित की जाती है। इस रचना विधि में कुछ कृत्य आचार्य द्वारा और कुछ चयनित श्रावक द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। जैसे कि आह्वानादि के मन्त्रोच्चारण आचार्य या अधिकार प्राप्त मुनि करते हैं और जिनप्रतिमा स्थापन, भूमिशुद्धि, जल-छिड़काव, नैवेद्यादि अर्पण की क्रिया श्रावक द्वारा की जाती है।

नन्दीरचना के लिए शुभमुहूर्त्त का विचार

प्राचीन परम्परानुसार किसी भी व्रत, तप या श्रुतादि ग्रहण के प्रसंग पर नन्दिरचना की जाती है। यहाँ मुहूर्त्त के सम्बन्ध में यह निर्देश है कि नन्दिरचना जिस व्रत आदि के उद्देश्य से की जा रही है उसके लिए जो मुहूर्त्त निश्चित किया गया है, वही नन्दिरचना के लिए भी उचित समझना चाहिए, क्योंकि नन्दी और व्रतादि ग्रहण की विधि प्रायः अनुक्रमपूर्वक एक साथ होती है।

नन्दीरचना के लिए आवश्यक सामग्री

नन्दीरचना में जो सामग्री इस्तेमाल होती है वह इस प्रकार है–

• त्रिगड़ा • चन्दोवा पूठिया– त्रिगड़े के पीछे एवं ऊपर की ओर बांधा जाने वाला मांगलिक वस्त्र • पंचधातु की चौमुखी प्रतिमा या अलग-अलग चार प्रतिमाएँ। • जिनमन्दिर से दीक्षामण्डप तक प्रतिमाएँ लाने हेतु थालियाँ। • एक बाल्टी शुद्ध जल • भूमि एवं वातावरण की शुद्धि हेतु छिड़काव करने के लिए सुगन्धित द्रव्य विशेष। • सवा पांच किलो चावल, दो किलो चावल अलग से। • पाँच नारियल • सवा पांच किलो गुड़। • पाँच स्वस्तिक पर चढ़ाने के लिए सवा पाँच-सवा पाँच रुपये रोकड़। • चार अखण्ड दीपक। • घृत • काँच की गिलास या मिट्टी के दस छोटे दीपक। • प्रतिमा को आच्छादित करने हेतु अंगलूहणा एक या चार। • स्वस्तिक बनाने हेतु पाँच छोटे पट्टे। • चार धूपदानी। • शुद्ध जल से भरा कलश। • घिसी हुई केसर एक कटोरी। • अष्टप्रकारी पूजा

की सामग्री। • दश दिक्पाल एवं नवग्रह पूजन हेतु उतनी संख्या में पुष्प, धूप, दीप, पान, नैवेद्य, फलादि वस्तुएँ जैसे- 19 नग फूल, 19 नग पान, 19 नग फल, 19 नग नैवेद्य, 19 नग बादाम, 19 नग लवंग, 19 नग इलायची, 19 नग मिश्री के टुकड़े। • एक श्रावक पूजा के वस्त्र पहने हुए। • गुरु भगवन्त के स्थापनाचार्य रखने हेतु एक टेबल अथवा त्रिगड़े के समान तीन चौकियाँ।

उक्त सूची प्रचलित परम्परा के आधार पर दी गयी है।

नन्दीरचना विधि का ऐतिहासिक विकास क्रम

नन्दी एक मंगलवर्द्धिनी रचना है। इसके माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में किसी प्रकार का आध्यात्मिक अनुष्ठान चाहे व्रत सम्बन्धी हो या तप सम्बन्धी, चाहे सूत्र ग्रहणादि से सम्बन्धित हो उसका प्रारम्भ करने हेतु तीर्थङ्कर परमात्मा का सान्निध्य आवश्यक है। इस पंचमकाल में साक्षात तीर्थङ्कर का अभाव होने से नन्दीरचना के द्वारा अरिहन्त प्रभु की परोक्ष छवि को आलम्बन बनाया जाता है।

ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि अद्यपर्यन्त कई आत्माएँ तीर्थङ्कर पुरुषों का प्रत्यक्ष या परोक्ष सान्निध्य प्राप्तकर संसार परिभ्रमण से मुक्त हुई हैं। नन्दी विधि के माध्यम से तीर्थङ्कर परमात्मा का परोक्ष आलम्बन स्वीकारा जाता है।

यदि नन्दीरचना विधि के सम्बन्ध में ऐतिहासिक अवलोकन किया जाये तो जहाँ तक मूलागमों का प्रश्न है वहाँ नन्दी या नन्दीसूत्र इस प्रकार के नामोल्लेख के सिवाय अन्य किसी प्रकार का वर्णन प्राप्त नहीं होता है। यदि आगमेतर टीका साहित्य का अध्ययन करें तो नन्दीटीका, अनुयोगद्वारचूर्णि आदि में 'नन्दी' शब्द के व्युत्पत्ति अर्थ देखे जाते हैं। तद्व्यतिरिक्त इस विधि से सम्बन्धित कोई निर्देश पढ़ने में नहीं आया है। इस क्रम में मध्यकालीन ग्रन्थों का आलोडन किया जाये तो आचार्य हरिभद्रकृत पंचाशकप्रकरण (8वीं शती) और आचार्य जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा (14वीं शती) में प्रस्तुत विधि की चर्चा सुस्पष्ट रूप से उपलब्ध होती है। इसके समकालीन अन्य ग्रन्थों में यह वर्णन नहीं पाया गया है। जहाँ तक उत्तरकालीन ग्रन्थों का प्रश्न है उनमें नन्दीरचना का उल्लेख मात्र मिलता है।

इस वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि आगम युग से लेकर वर्तमान

युग तक के प्राप्त ग्रन्थों में पूर्वोक्त पंचाशक प्रकरण एवं विधिमार्गप्रपा नन्दीरचना-विधि का विस्तृत निरूपण करते हैं। उनमें भी यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि इस सम्बन्ध में पंचाशकप्रकरण प्रथम और विधिमार्गप्रपा अन्तिम ग्रन्थ है।

हाँ! परवर्तीकाल के कुछ संकलित एवं संग्रहीत ग्रन्थों में यह विधि अवश्य उल्लिखित है, परन्तु वह उक्त ग्रन्थों के आधार पर ही वर्णित है। अत: यह मानना होगा कि विक्रम की 8वीं शती के कुछ पूर्व समय से ही यह क्रिया अस्तित्व में आयी है। सम्भवत: 8वीं शती के पूर्वकाल में व्रतादि अनुष्ठान जिनालय के सभामण्डप (मूल गंभारा का बाह्य भाग) में किये जाते होंगे। उस स्थिति में पृथक् नन्दीरचना की आवश्यकता नहीं भी रहती है।

तदनन्तर देश-कालगत स्थितियों के परिवर्तन से दीक्षादि व्रतों का व्यावहारिक मूल्य एवं जनसमुदाय की उपस्थिति बढ़ने लगी, तब सभामण्डप के स्थान पर विशालमण्डप की कल्पना उभरकर सामने आई और उस हालात में नन्दीरचना का होना परमावश्यक हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दीरचना परिस्थिति सापेक्ष में की जाती है सार्वकालिक कृत्य नहीं है। यद्यपि वर्तमान की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में व्रतादि अनुष्ठान हेतु सभामण्डप हो या विशाल मण्डप नन्दीरचना होती ही है। समवसरण और नन्दीरचना में मौलिक अन्तर यही है कि एक देवकृत रचना है और दूसरी मनुष्यकृत। एक में साक्षात तीर्थङ्कर आसीन होते हैं और दूसरे में तीर्थङ्कर परमात्मा का प्रतिबिम्ब स्थापित किया जाता है।

समवसरण : एक परिचय

समवसरण का अर्थ है - तीर्थङ्कर परमात्मा का उपदेश स्थल। विद्वद् मुनियों के अनुसार जिनसभा, जिनपुर और जिनावास शब्द भी समवसरण अर्थ के वाचक हैं। जिनेश्वर परमात्मा जिस स्थान पर विराजते हैं, वह मूलत: समवसरण के नाम से जाना जाता है।

समवसरण का मतलब एक ऐसा सभा भवन है, जिसमें विराजकर तीर्थङ्कर परमात्मा मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। यह एक ऐसी धर्मसभा है, जिसकी तुलना लोक की किसी अन्य सभा से नहीं की जा सकती। इसमें देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी सभी समान रूप से बैठकर धर्म श्रवण के अधिकारी बनते हैं, यही

इसकी सर्वोपरि विशेषता है। इसमें प्रत्येक प्राणी को समानतापूर्वक शरण मिलती है इसलिए 'समवसरण' यह इसकी सार्थक संज्ञा है।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार समवसरण का सामान्य वर्णन इस प्रकार है–

समवसरण की रचना सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के निर्देशन में देवगण करते हैं। यह अत्यन्त आकर्षक और अनुपम शोभायुक्त होता है। इसकी रचना वृत्ताकार होती है। उसकी चारों दिशाओं में बीस-बीस हजार सीढ़ियाँ रहती है। उन सीढ़ियों पर सभी जन पादलेप औषधियुक्त व्यक्ति की तरह बिना परिश्रम के चढ़ जाते हैं। प्रत्येक दिशा में सीढ़ियों से लगी एक-एक सड़क बनी होती हैं, जो समवसरण के केन्द्र में स्थित प्रथम पीठ तक जाती है।

समवसरण रचना के लिए सर्वप्रथम आभियोगिक देव अपने स्वामी का आदेश पाकर वायु की विकुर्वणा करते हैं जिससे चारों दिशाओं की एक-एक योजनपर्यन्त भूमि का तृण आदि सारा कचरा बाहर हो जाता है। फिर धूल और सन्ताप को दूर करने के लिए बादल का रूप बना कर सुगन्धित जल की वृष्टि करते हैं। उसके बाद घुटना पर्यन्त अधोमुख वाले अचित्त पुष्पों की वृष्टि कर वातावरण को नयनाभिराम बनाते हैं। फिर तीन प्राकारों की रचना करते हैं।[8] वैमानिक (बारह देवलोक के) देव भीतरी रत्नमय परकोटे की रचना करते हैं। ज्योतिष्क (सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि के) देव मध्य में स्वर्णमय और भवनपति देव (अधोलोक भूमि के ऊपर रहने वाले) बाहरी रजतमय परकोटे की रचना करते हैं।[9]

प्रथम परकोटा में तीर्थङ्कर भगवान के शरीर प्रमाण से बारह गुणा ऊँचा अशोक वृक्ष होता है। उसके नीचे रत्नमयपीठ और उसके ऊपर देवछन्दक होता है। उस पर सिंहासन और सिंहासन के ऊपर छत्र होते हैं। तीर्थङ्कर प्रभु के शासनदेवों (यक्षों) के हाथ में चामर होते हैं और पद्म पर धर्मचक्र होता है। शेष करणीय कार्यों की रचना व्यन्तरदेव (मध्य लोक के इर्द-गिर्द रहने वाले देव) करते हैं।[10]

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार प्रथम परकोटे में तीर्थङ्कर पूर्वाभिमुख विराजमान होते हैं, शेष तीन दिशाओं में देवतागण उस तीर्थङ्कर के प्रतिरूपों का निर्माण करते हैं। तीर्थङ्कर के समीप दक्षिण-पूर्व दिशा (आग्नेयकोण) में गणधर

बैठते हैं। उनके पीछे-पीछे क्रमशः केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, ऋद्धिसम्पन्न मुनि तथा अन्य सब मुनि बैठते हैं। उनके पीछे वैमानिक देवियाँ और साध्वियाँ खड़ी रहती हैं।

तीर्थङ्कर के दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैऋत्यकोण) में क्रमशः भवनपति, ज्योतिष्क और व्यन्तर देवों की देवियाँ खड़ी रहती हैं। उत्तर-पश्चिम दिशा (वायव्यकोण) में भवनपति, ज्योतिष और व्यन्तरदेव खड़े रहते हैं। उत्तर-पूर्व दिशा (ईशानकोण) में वैमानिकदेव, मनुष्य और स्त्रियाँ खड़ी रहती हैं। प्रथम परकोटे में तीर्थङ्कर के चारों दिशाओं में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, चार प्रकार के देव एवं चार प्रकार की देवियाँ ऐसे कुल बारह प्रकार की पर्षदा (सभा) उपस्थित रहती है।

दूसरे परकोटे में तिर्यञ्च (पशु-पक्षी) होते हैं। **तीसरे परकोटे** में यान-वाहन रहते हैं। परकोटे के बाहर देव, मनुष्य, तिर्यञ्च तीनों गति के जीव हो सकते हैं।[11]

इस प्रकार समवसरण के तीनों परकोटे ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः अधिक विस्तार वाले होते हैं तथा यह रचना देवकृत होती है।

दिगम्बर परम्परानुमत समवसरण का स्वरूप निम्न प्रकार है[12]—

समवसरण की भूमि स्वाभाविक भूतल से एक हाथ ऊँची रहती है। यह भूमि देश काल के अनुसार बारह योजन से लेकर एक योजन तक विस्तृत होती है। समवसरण स्वयं इन्द्र नीलमणि से निर्मित एवं उसका बाह्य भाग दर्पण तल के समान निर्मल होता है। उसमें 1. चैत्य-प्रासाद भूमि, 2. जल-खातिका भूमि, 3. लतावनभूमि, 4. उपवनभूमि, 5. ध्वजभूमि, 6. कल्पवृक्षभूमि, 7. भवनभूमि, 8. श्रीमण्डपभूमि, 9. प्रथम पीठ, 10. द्वितीय पीठ तथा 11. तृतीय पीठ भूमि इस प्रकार कुल ग्यारह भूमियाँ होती हैं।

समवसरण के बाह्य भाग में सबसे पहले धूलिसाल कोट बना रहता है। यह रत्नों के चूर्णों से निर्मित बहुरंगी और वलयाकार होता है। इसके चारों ओर स्वर्णमयी खम्भों वाले चार तोरण द्वार होते हैं। इन द्वारों के बाहर मंगलद्रव्य, नवनिधि, धूप-घट आदि युक्त पुतलियाँ स्थित रहती हैं। प्रत्येक द्वार के मध्य दोनों बाजुओं में एक-एक नाट्यशाला होती है। इनमें बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ नृत्य करती रहती हैं। ज्योतिषी देव इन द्वारों की रक्षा करते हैं।

इन द्वारों के भीतर प्रविष्ट होने पर कुछ आगे की ओर चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ होते हैं। प्रत्येक मानस्तम्भ चारों ओर चार दरवाजों वाले तीन-तीन परकोटों से परिवेष्टित रहता है। मानस्तम्भों का निर्माण तीन पीठिकायुक्त समुन्नत वेदी पर होता है। वह घण्टा, ध्वजा और चामर आदि से सुशोभित अत्यधिक कलात्मक होता है। मानस्तम्भों के मूल और ऊपरी भाग में अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त अर्हन्त भगवान की स्वर्णमय प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं। इन्द्रगण क्षीरसागर के जल से इनका अभिषेक किया करते हैं। मानस्तम्भों के निकट चारों ओर चार-चार वापिकाएँ बनी होती हैं। एक-एक वापिका के प्रति बयालीस-बयालीस कुण्ड होते हैं। सभी जन इन कुण्डों के जल से पैर धोकर ही अन्दर प्रवेश करते हैं। मानस्तम्भों को देखने मात्र से दुरभिमानी जनों का मान गलित हो जाता है। इसलिए 'मानस्तम्भ' यह इसकी सार्थक संज्ञा है।

उसके बाद **चैत्यप्रासाद-भूमि** आती है। वहाँ पर एक चैत्य प्रासाद होता है, जो कि वापिका, कूप, सरोवर और वन-खण्डों से मण्डित पाँच-पाँच प्रासादों से युक्त होता है। चैत्यप्रसाद भूमि के आगे रजतमय वेदी बनी रहती है। वह धुलीसाल कोट की तरह आगे गोपुर द्वारों से मण्डित रहती है। ज्योतिषी देव द्वारों पर द्वारपाल का काम करते हैं। उस वेदी के भीतर की ओर कुछ आगे जाने पर कमलों से व्याप्त अत्यन्त गहरी परिखा होती है, जो कि वीथियों/सड़कों को छोड़कर समवसरण को चारों ओर से घेरे रहती है। परिखा के दोनों तटों पर लतामण्डप बने होते हैं। लतामण्डपों के मध्य चन्द्रकान्तमणिमय शिलाएँ होती हैं, जिन पर देव-इन्द्र गण विश्राम करते हैं। इसे **खातिका-भूमि** कहते हैं।

खातिका भूमि के आगे रजतमय एक वेदी होती है। वह वेदी पूर्ववत गोपुर द्वारों आदि से युक्त होती है। उस द्वितीय वेदी से कुछ आगे बढ़ने पर **लताभूमि** आती है, जिसमें पुन्नाग, तिलक, वकुल, माधवी इत्यादि नाना प्रकार की लताएँ सुशोभित होती हैं। लताभूमि में लता-मण्डप बने होते है, जिसमें सुर-मिथुन क्रीड़ारत रहते हैं।

लताभूमि से कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णमय कोट रहता है। यह कोट भी धुलिसाल कोट की तरह गोपुर, द्वारों, मंगल द्रव्यों, नवनिधियों और धूपघटों आदि से सुशोभित रहता है। उसके कुछ आगे जाने पर पूर्वादिक चारों दिशाओं में क्रमशः अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र नामक चार उद्यान होते हैं। इन

उद्यानों में इन्हीं नामों वाला एक-एक चैत्य वृक्ष भी होता है। यह वृक्ष तीन कटनी वाले एक वेदी पर प्रतिष्ठापित रहता है। उसके चारों ओर चार दरवाजों वाले तीन परकोटे होते हैं। उसके निकट मंगल द्रव्य रखे होते हैं, ध्वजाएँ फहराती रहती हैं तथा वृक्ष के शीर्ष पर मोतियों की माला से युक्त तीन छत्र होते हैं। इस वृक्ष के मूल भाग में अष्ट प्रातिहार्य युक्त अर्हन्त भगवान् की चार प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं। इसे **उपवन-भूमि** कहते हैं। इस भूमि में रहने वाले वापिकाओं में स्नान करने मात्र से जीवों को एक भव दिखाई पड़ता है तथा वापिकाओं के जल में देखने से सात भव दिखाई पड़ते हैं। उसके आगे पुन: एक वेदिका होती है। वेदिका के आगे **ध्वज-भूमि** होती है। ध्वज-भूमि में माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, बैल, हाथी और चक्र से चिह्नित दश प्रकार की निर्मल ध्वजाएँ होती हैं। इनके ध्वजदण्ड स्वर्णमय होते हैं। ध्वजभूमि के कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णमय कोट आता है। इस परकोटे के चारों ओर पहले के समान चार दरवाजे होते हैं, नाटक शालाएँ होती हैं तथा धूप घटों से सुगन्धित धुआँ निकलता रहता है। इसके द्वार पर नागेन्द्र द्वारपाल के रूप में खड़े रहते हैं।

उसके आगे **कल्पभूमि** होती है। कल्पभूमि में कल्पवृक्षों का वन रहता है। इन वनों में कल्पनातीत शोभा वाले दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं, जो कि नाना प्रकार की लता-बल्लियों एवं वापिकाओं से वेष्टित रहते हैं। यहाँ देव विद्याधर और मनुष्य क्रीड़ारत रहते हैं। कल्पभूमि के पूर्वादिक चारों दिशाओं में क्रमश: नमेरु, मन्दार, सन्तानक और पारिजात नामक चार सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। सिद्धार्थ वृक्षों की शोभा चैत्य वृक्षों के सदृश होती है, किन्तु इनमें अर्हन्त की जगह सिद्ध प्रतिमाएँ होती हैं।

कल्पभूमि के आगे पुन: एक स्वर्णमय वेदी बनी रहती है। इस वेदी के द्वार पर भवनवासी देव द्वारपाल के रूप में खड़े रहते हैं। इस वेदी के आगे **भवन-भूमि** होती है। भवनभूमि में एक से एक सुन्दर कलात्मक और आकर्षक बहुमंजिले भवनों की पंक्ति रहती है। देवों द्वारा निर्मित इन भवनों में सुर-मिथुन गीत, संगीत, नृत्य, जिनाभिषेक, जिनस्तवन आदि करते हुए सुखपूर्वक रहते हैं। भवनों की पंक्तियों के मध्य वीथियाँ-गलियाँ बनी होती हैं। वीथियों के दोनों पार्श्व में नव-नव स्तूप (कुल 72) बने होते हैं। पद्मराग मणिमय इन स्तूपों में

अर्हन्त और सिद्धों की प्रतिमाएँ विराजमान रहती हैं। इन स्तूपों पर वन्दन-मालाएँ लटकी होती हैं। मकराकार तोरणद्वार होते हैं। छत्र लगे होते हैं, मंगल द्रव्य अंकित किए जाते हैं और ध्वजाएँ फहरती रहती हैं। यहाँ विराजमान जिन प्रतिमाओं का देवगण पूजन और अभिषेक करते हैं।

भवनभूमि के आगे स्फटिक मणिमय चतुर्थ कोट आता है। इस कोट के गोपुर द्वारों पर कल्पवासी देव खड़े रहते हैं।

चतुर्थ कोट के आगे रत्न-स्तम्भों पर आधारित अन्तिम **श्रीमण्डप-भूमि** होती है। उस भूमि में स्फटिक मणिमय सोलह दीवारों से विभाजित बारह कोठे होते हैं। इन बारह कोठों में ही बारह गण अथवा बारह सभाएँ होती हैं। इनमें सर्वप्रथम अर्हंत भगवान के दायें ओर के कोठे में गणधर देवादिक मुनि विराजते हैं। द्वितीय कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ होती हैं, तीसरे कक्ष में आर्यिका एवं श्राविका समूह होता है। इसके आगे वीथि रहती है। वीथि के आगे चौथे, पाँचवें और छठवें कोठे में क्रमशः ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों की देवियाँ रहती हैं। उसके आगे पुनः वीथि आ जाती है। उसके आगे के तीन कोठों में क्रमशः व्यन्तर, ज्योतिष और भवनवासी देव रहते हैं। इसके बाद तीसरी वीथि होती है। उसके आगे के तीन कोठों में क्रमशः कल्पवासी देव, चक्रवर्ती आदिक मनुष्य एवं सिंहादिक पशु-पक्षी जन्म-जात वैर को छोड़कर उपशान्त भाव से बैठकर भगवान् के उपदेशामृत का लाभ लेते हैं। इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते।

उसके आगे स्फटिक मणिमय पाँचवीं वेदी आती है। इस वेदी के आगे एक के ऊपर एक क्रमशः तीन पीठ होते हैं। **प्रथम पीठ** पर बारह कोठों और चार वीथियों के सम्मुख सोलह-सोलह सीढ़ियाँ होती हैं। इस पीठ पर चारों दिशाओं में अपने मस्तक पर धर्मचक्र धारण किये चार यक्षेन्द्र खड़े रहते हैं। इसी पीठ के ऊपर **द्वितीय पीठ** होता है। इस पीठ पर सिंह, बैल आदि चिह्नों वाली ध्वजाओं की पंक्ति, अष्ट मंगल द्रव्य, नव निधि एवं धूपघट आदि शोभायमान रहते हैं। द्वितीय पीठ के ऊपर **तीसरी पीठ** होती है। तीसरी पीठ के ऊपर अनेक ध्वजाओं से युक्त गन्धकुटी होती है। गन्धकुटी के मध्य में पादपीठ सहित सिंहासन होता है। भगवान सिंहासन से चार अंगुल ऊपर अष्ट महाप्रातिहार्यों से युक्त आकाश में विराजमान रहते हैं।

समवसरण का माहात्म्य– तीर्थङ्कर के समवसरण में अधोलोकवासी

भवनपतिदेव, तिर्यग्लोकवासी व्यन्तरदेव, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय प्राणी, मनुष्य और ज्योतिष्कदेव तथा ऊर्ध्वलोकवासी वैमानिक देव ऐसे तीनों लोक के जीव उपस्थित रहते हैं।[13]

• तीर्थङ्कर परमात्मा के उत्कृष्ट पुण्योदय के परिणामस्वरूप समवशरण रचा जाता है सामान्यकेवली के लिए यह रचना नहीं होती। • तीर्थङ्कर प्रभु मालकोश राग में देशना देते हैं, किन्तु उनकी वाणी के अतिशय से तिर्यञ्च आदि सभी प्राणी अपनी-अपनी भाषा में सब कुछ समझ जाते हैं। • समवसरण में अरिहन्तदेव के प्रभाव से आतंक, रोग, मरण, वैर, काम-बाधा एवं क्षुधा-तृषा की पीड़ाएँ कभी भी नहीं होती। • यहाँ जातिगत वैरभाव रखने वाले जीव जैसे– सर्प, नकुल, चूहा, बिल्ली आदि शत्रुपन को भूल जाते हैं और एक साथ बैठते हैं। • समवशरण के चारों ओर की योजन पर्यन्त भूमि में मारी-महामारी नहीं फैलती है। • अतिवृष्टि- अनावृष्टि का प्रकोप भी नहीं होता है। • देव-दुन्दुभियाँ निरन्तर बजती रहती हैं। • वहाँ किसी प्रकार की न रोक-टोक होती है न विकथा वार्त्ता ही।[14] • योजनों विस्तार वाले इस समवसरण में प्रवेश और निकलने में बाल-वृद्ध सभी को अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय नहीं लगता है।

समवसरण के कृत्य– तीर्थङ्कर प्रभु दिन की प्रथम पौरुषी में अथवा अन्तिम पौरुषी में पूर्व दिशा के द्वार से समवसरण में प्रवेश करते हैं। उस समय देव निर्मित सहस्रपत्र से युक्त पद्मयुग्म पर पादन्यास करते हैं। उसके पीछे सात अन्य कमल होते हैं, जो क्रमशः भगवान के आगे आते जाते हैं।[15]

आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार तीर्थङ्कर प्रभु समवसरण में विराजमान होने से पूर्व या देशना देने से पूर्व 'नमो तित्थस्स' ऐसा पद बोलकर चतुर्विध संघ को प्रणाम करते हैं, उसके बाद मालकोश राग में प्रवचन करते हैं। उनकी वाणी योजनव्यापी होती है और उससे समवसरणस्थ सभी संज्ञी प्राणियों की जिज्ञासाएँ शान्त हो जाती है।[16]

यहाँ खासकर उल्लेखनीय यह है कि तीर्थङ्कर प्रभु का उपदेश सुनकर कोई न कोई जीव निश्चित रूप से सम्यक्त्व आदि सामायिक व्रत अंगीकार करते हैं। किस गति के जीव कितनी, कौनसी सामायिक ग्रहण कर सकते हैं? इस सम्बन्ध में कहा गया है कि मनुष्य सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति और सर्वविरति ये चारों प्रकार की सामायिक तथा तिर्यञ्च प्रथम की तीन या दो प्रकार की सामायिक स्वीकार करते हैं।[17] यदि तीर्थङ्कर की प्रथम देशना में सामायिक ग्रहण करने

वाले मनुष्य और तिर्यञ्च न हों तो देवतागण निश्चित रूप से सम्यक्त्व सामायिक स्वीकार करते हैं। जहाँ तक तीर्थस्थापना का प्रश्न है वह तो किसी भव्य जीव के द्वारा देशविरति या सर्वविरति चारित्र अंगीकार किये जाने पर ही होती है। व्रत स्वीकार के बिना तीर्थ स्थापना नहीं होती। यह समवसरण का संक्षिप्त स्वरूप समझना चाहिए।

नन्दीरचना की प्रचलित विधि

आचार्य हरिभद्रकृत पंचाशक प्रकरण[18] और आचार्य जिनप्रभरचित विधिमार्गप्रपा[19] के अनुसार नन्दीरचना विधि का स्वरूप निम्नोक्त है —

भूमिशुद्धि – सर्वप्रथम प्रशस्तक्षेत्र में आचार्य मुक्ताशुक्ति मुद्रा के द्वारा 'ॐ ह्रीँ वायुकुमारेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्रोच्चारण से वायुकुमार देवों का आह्वान करें। उसके बाद वायुकुमार देव समवसरण की भूमि शुद्ध कर रहे हैं — ऐसी मानसिक कल्पना करते हुए श्रावकों के माध्यम से पूर्व निर्धारित क्षेत्र का परिमार्जन एवं जलसिञ्चन द्वारा शुद्धीकरण करवायें।

तदनन्तर पुनः आचार्य मुक्ताशुक्ति मुद्रापूर्वक 'ॐ ह्रीँ मेघकुमारेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र से मेघकुमार देवों का आह्वान करें। उस समय पूर्ववत मानसिक कल्पना करते हुए उस शुद्ध भूमि पर श्रावकवर्ग के द्वारा सुगन्धित जल का छिड़काव करवायें।

तत्पश्चात आचार्य मुक्ताशुक्ति मुद्रा के द्वारा 'ॐ ह्रीँ ऋतुदेवीभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र से बसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि छः ऋतुओं की देवियों को आमन्त्रित करें। उस समय पूर्ववत मानसिक संकल्पना करते हुए श्रावकों के द्वारा उस भूमि पर सुगन्धित पंचवर्णी पुष्पों की वृष्टि करवायें।

धूपोत्क्षेपण – उसके बाद आचार्य पूर्ववत मुक्ताशुक्ति मुद्रा के द्वारा 'ॐ ह्रीँ अग्निकुमारेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्निकुमार देवताओं का आह्वान करें। तब श्रावकगण दशांग धूप या अगरबत्ती जलाएँ। कुछ विद्वानों के अनुसार किसी देवता विशेष का नाम लिए बिना सर्वसामान्य देवताओं का आह्वान करके धूप खेना चाहिए।

प्राकार रचना – तदनन्तर आचार्य पूर्ववत मुद्रा करके 'ॐ ह्रीँ वैमानिक-ज्योतिषी- भवनवासी देवेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र से वैमानिक (सौधर्मादि) ज्योतिष (चन्द्रादि) एवं भवनवासी (असुरादि) देवताओं को आमन्त्रित करें। उस समय

पूजा वस्त्रधारी श्रावक रत्न, सुवर्ण और चाँदी जैसे रंग वाले तीन प्राकार बनाएं। क्योंकि तीर्थङ्कर के समवसरण में वैमानिक आदि देव अन्तर, मध्य और बाह्य ऐसे तीन प्राकार क्रमशः रत्न, सुवर्ण और चाँदी के बनाते हैं। प्रचलित परम्परा में प्रायः चाँदी या काष्ठादि से निर्मित तीन गढ़ स्थापित किये जाते हैं, जिसे त्रिगड़ा कहते हैं।

उसके बाद आचार्य 'ॐ ह्रीं व्यन्तरदेवेभ्यः स्वाहा' इस मन्त्र से व्यन्तरदेवों का आह्वान करें। फिर व्यन्तर देवों की मानसिक कल्पना करते हुए भाव पूर्वक त्रिगड़े के द्वारादि के लिए तोरण, पीठ, देवछन्द, पुष्करिणी आदि की रचना करें। इसी क्रम में अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र, चक्र, ध्वज इत्यादि की भी रचना करें।

तदनन्तर आचार्य 'ॐ ह्रीं नमोऽर्हत्परमेश्वराय, चतुर्मुखाय, परमेष्ठिने, त्रैलोक्याऽर्चिताय, अष्टदिक् कुमारीपरिपूजिताय, इह नन्द्यां आगच्छ- आगच्छ स्वाहा' इस मन्त्र से तीर्थङ्कर परमात्मा को आमन्त्रित करें। उस समय पूजा वस्त्र में श्रावक त्रिगड़े के ऊपरी भाग में चौमुखी प्रतिमा की स्थापना करें।

उसके बाद समवसरण की कल्पना करके त्रिगड़े में विराजमान जिनबिम्ब के आग्नेयकोण में गणधरों की, गणधरों के पीछे मुनियों की, मुनियों के पीछे वैमानिक देवियों की तथा उनके पीछे साध्वियों की स्थापना करें।

इसी प्रकार नैऋत्यकोण में भवनवासियों, व्यन्तरों तथा ज्योतिष्कों की देवियों की स्थापना करें। वायव्यकोण में भवनपति, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवताओं की स्थापना करें। ईशानकोण में वैमानिकदेव और मनुष्यों की स्थापना करें। यह स्थापना भिन्न-भिन्न जाति के देवताओं के शरीर वर्ण के अनुसार करनी चाहिए।

तदनन्तर समवसरण की पूर्ववत कल्पना करते हुए त्रिगड़े के द्वितीय गढ़ में सर्प, नेवला, मृग, सिंह, अश्व आदि तिर्यञ्च प्राणियों की स्थापना करें और तीसरे गढ़ में हाथी, मगर, सिंह, मोर आदि के आकार वाले वाहनों की स्थापना करें।

इस प्रकार नन्दीरचना सम्पन्न होने पर गुरु महाराज 'ठः ठः ठः स्वाहा' कहकर चौमुखी प्रतिमा पर वासचूर्ण डालें। इस वास निक्षेप के द्वारा प्रतिमा की स्थापना करते हैं।

दिक्पाल स्थापना – विधिवत नन्दीरचना करने के पश्चात धूप-वास आदि प्रदान करते हुए, निर्धारित मन्त्रों के द्वारा दिक्पालों का आह्वान किया

जाता है और नैवेद्य-फल आदि अर्पित कर प्रत्येक दिक्पाल की पृथक्-पृथक् स्थापना की जाती है। दिक्पालों का आह्वान करते समय दोनों हाथ अंजलिमुद्रा में और मुख उस-उस दिशा की ओर किया जाना चाहिए। दशदिक्पाल आह्वान के मन्त्र निम्नोक्त हैं[20]—

पूर्व दिशा के स्वामी इन्द्रदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीं इन्द्राय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

आग्नेयकोण के स्वामी अग्निदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ अग्नये सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

दक्षिण दिशा के स्वामी यमदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ यमाय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

नैऋत्यकोण के स्वामी नैऋत्यदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ नैऋतये सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

पश्चिमदिशा के स्वामी वरुणदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ वरुणाय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय- इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

वायव्यकोण के स्वामी वायुदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ वायवे सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

उत्तरदिशा के स्वामी कुबेरदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ कुबेराय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

ईशानकोण के स्वामी ईशानदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ ईशानाय सायुधाय, सवाहनाय सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

ऊर्ध्वदिशा के स्वामी ब्रह्मदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ ब्रह्मणे सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

अधोदिशा के स्वामी नागदेवता का आह्वान मन्त्र

ॐ ह्रीँ नागाय, सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय इह नन्द्यां आगच्छ-आगच्छ स्वाहा।

नवग्रह स्थापना – नन्दीरचना के प्रसंग पर नवग्रहों की स्थापना करने का निर्देश पंचाशकप्रकरण अथवा विधिमार्गप्रपा में नहीं मिलता है किन्तु वर्तमान में यह विधि देखी जाती है। तदनुसार नवग्रह स्थापना की यह विधि है–

इसमें मन्त्रोच्चारपूर्वक नैवेद्य-फल आदि चढ़ाते हुए प्रत्येक ग्रह की स्थापना की जाती है। नवग्रह स्थापना के मन्त्र ये हैं[21]—

सूर्य प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
चन्द्र प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
भौम प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
बुध प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
गुरु प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
शुक्र प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
शनिश्चर प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
राहु प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।
केतु प्रमुखा खेटा जिनपति पुरतोऽवतिष्ठन्तु स्वाहा।

तत्पश्चात त्रिगड़े में विराजमान जिनप्रतिमा की पुष्प, फल, वस्त्र आदि चढ़ाकर पूजा करें।

प्रचलित पद्धति के अनुसार नन्दीरचना (त्रिगड़े) के मध्य भाग एवं चारों दिशाओं में स्वस्तिक करके उन पर नारियल, गुड़ और सवा रुपया चढ़ाते हैं, दीपक स्थापित करते हैं और अगरबत्ती या सुगन्धित धूप का खेवन करते हैं। तदनन्तर दशों दिशाओं में दिक्पालों की स्थापना एवं पूजन करते हैं। पूजन करते समय मन्त्रोच्चार पूर्वक क्रमश: जल, चन्दन, पुष्प, धूप, दीपक तथा पान में अक्षत, नैवेद्य, फल आदि लेकर चढ़ाते हैं। कुछ परम्परा में नवग्रह की स्थापना भी करते हैं।

विसर्जन – नन्दीरचना का प्रयोजन पूर्ण होने पर, जिस क्रम से दिक्पाल, नवग्रह आदि को आमन्त्रित किया गया, उसी क्रमपूर्वक दिक्पाल देवताओं को

विसर्जित करने के मन्त्र निम्न हैं —

पूर्वदिशा – ॐ ह्रीँ इन्द्राय, सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

आग्नेय कोण – ॐ ह्रीँ अग्नये सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

दक्षिणदिशा – ॐ ह्रीँ यमाय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

नैऋत्यकोण – ॐ ह्रीँ नैऋतये सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

पश्चिमदिशा – ॐ ह्रीँ वरुणाय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

वायव्यकोण – ॐ ह्रीँ वायवे सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

उत्तरदिशा – ॐ ह्रीँ कुबेराय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

ईशानकोण – ॐ ह्रीँ ईशानाय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

ऊर्ध्वदिशा – ॐ ह्रीँ ब्रह्मणे सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

अधोदिशा – ॐ ह्रीँ नागाय सायुधाय, सवाहनाय, सपरिजनाय पुनरागमनाय स्व स्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

नवग्रह देवताओं के विसर्जन मन्त्र ये हैं —

सूर्यग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
चन्द्रग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
भौमग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
बुधग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
गुरुग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
शुक्रग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
शनिश्चरग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।
राहुग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

केतुग्रह जिनपति पुरतः स्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।

नन्दी विसर्जन का मन्त्र इस प्रकार है–

"ॐ ह्रीँ नमोऽर्हत परमेश्वराय, चतुर्मुखाय, परमेष्ठिने, त्रैलोक्याऽर्चिताय, अष्टदिक्कुमारी परिपूजिताय पुनरागमनाय स्वस्वस्थानं गच्छ-गच्छ स्वाहा।"

यहाँ दिक्पाल देवता आदि के विसर्जन मन्त्र उच्चरित करने के साथ-साथ प्रत्येक के निर्धारित स्थान पर वासचूर्ण अवश्य डालना चाहिए। यदि दिक्पालादि को आमन्त्रित और विसर्जित करने का समय न हो तो तीन बार नमस्कारमन्त्र गिनकर नन्दी की स्थापना कर लेनी चाहिए, ऐसा परवर्ती जैनाचार्यों का कहना है।

नन्दीरचना सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

समवसरण की साक्षात परिकल्पना करते हुए अरिहन्त प्रतिमा को तीन गढ़ युक्त उच्च स्थान पर स्थापित करना, नन्दीरचना कहलाता है। इससे सम्बन्धित कृत्यों के निम्नोक्त प्रयोजन हो सकते हैं–

नन्दीरचना मंगल रूप कैसे? नन्दी रचना के माध्यम से अनन्त उपकारी, तीन लोकों में पूज्य तीर्थङ्कर परमात्मा के उपकारों का स्मरण करते हैं। • श्रेष्ठ कार्यों की सिद्धि हेतु उत्तम साक्षी के रूप में उनका आलम्बन स्वीकार किया जाता है। • परमात्मा की साक्षात अनुभूति करने से परिणामों में विशुद्धता एवं आत्मिक बल में वृद्धि होती है। • शुभ अध्यवसायों के फलस्वरूप पूर्वसंचित अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है तथा अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, करुणा, दया, मैत्री आदि शुभ भाव वर्धित होते हैं। • जैन परम्परा में चैत्यवन्दन, देववन्दन आदि क्रियाएँ अरिहन्त परमात्मा की पूजा विशेष से ही सम्बन्धित हैं। • दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में चौबीस तीर्थङ्कर के नामों एवं गुणों का ही स्मरण किया जाता है। इस प्रकार तीर्थङ्कर परमात्मा हमारे लिए सर्वाधिक पूज्य एवं सर्वोत्कृष्ट मंगलरूप हैं। अत: इनका सर्वप्रथम स्मरण एवं सान्निध्य हमारी कर्त्तव्य बुद्धि और मंगल कामना का सूचक है। नन्दीरचना के मूल में भी यही लक्ष्य अन्तर्निहित है।

देवी-देवता का आह्वान क्यों? समवसरण की बारह पर्षदा में से आठ पर्षदाएँ देवी-देवताओं की होती है। उनका आह्वान तद्रूप अनुभूति करने एवं क्रियानुष्ठान की निर्विघ्नता के उद्देश्य से किया जाता है।

जिनबिम्ब पर वासदान किसलिए? जिनप्रतिमा पर वासचूर्ण का निक्षेप उनकी त्रैलोक्य पूज्यता एवं सर्वश्रेष्ठता के प्रतीक स्वरूप तथा उनकी स्थापना के हेतु से किया जाता है।

धूपोत्पाटन किस ध्येय से? धूपोत्पाटन एवं सुगन्धित जल का छिड़काव वातावरण को सुगन्धित, मनोरम, आनन्ददायक बनाने तथा चित्त की शान्तता एवं आमन्त्रित देवी-देवताओं के सत्कार के उद्देश्य से किया जाता है।

त्रिगड़ा देवकृत समवसरण के प्रत्यक्षीकरण का संवेदक, **चौमुखी प्रतिमाजी** समवसरणस्थ परमात्मा के मूल स्वरूप एवं तीन प्रतिबिम्बों की सूचक तथा **चन्दोवापूठिया** परमात्मा के अतिशयों का प्रतीक जानना चाहिए।

इस प्रकार नन्दी-विधियों के अनेक रहस्य अनुभूत किये जा सकते हैं।

आधुनिक सन्दर्भों में नन्दीरचना विधि की प्रासंगिकता

नन्दीरचना एवं तद्योग्य क्रियाओं का मूल्य विविध पक्षों से आंका जा सकता है।

नन्दीरचना का मनोवैज्ञानिक पहलू भी दीर्घव्यापी है। साधक की मानसिक भूमिका के निर्माण में इसका महत्त्व काफी देखा जाता है। नन्दीरचना की पृष्ठभूमि में अरिहन्त की प्रतिमा के सामने जब व्रतों को ग्रहण किया जाता है तो उनके अनुपालन के प्रति एक अप्रतिम निष्ठा भावना और एक प्रकार की वचनबद्धता सुनिश्चित होती है। साधक के मन में दृढ़ता का भाव अधिक परिपुष्ट होता है। उसके मन में दैहिकता के प्रति विराग और सांसारिक परिस्थितिजन्य तनाव क्रमशः कम होते जाते हैं और एक अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति के साथ वह व्रतों के ग्रहण के प्रति उन्मुख होता है। उसके भीतर के सारे प्रवाह ऊर्ध्वाभिमुख होने लगते हैं, जिससे उसका मानसिक उन्नयन प्रारंभ होता है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यदि विचार करें तो नन्दीरचना एक सामूहिक क्रिया का प्रतीकात्मक रूप है। इसके माध्यम से व्रतादि इच्छुकों के आपस में मिलने पर स्नेह में अभिवृद्धि होती है। समाज में सुसंस्कारों का बीजारोपण एवं पल्लवन होता है। आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र में विकास होने से मानवीय गुणों में वृद्धि होती है। युवा पीढ़ी को उचित मार्गदर्शन प्राप्त होता है तथा वे धर्म के अभिमुख होते हैं।

वैयक्तिक स्तर पर चिन्तन करें तो व्यक्ति की आन्तरिक मलिनता दूर होती है। इसी के साथ अनावश्यक परिग्रह, कषाय, अव्रत एवं दुर्गुणों का निष्कासन

होता है। तत्फलस्वरूप श्रद्धा, विनय, भक्ति आदि गुणों में वृद्धि होती है।

पारिवारिक दृष्टिकोण से सोचें तो सामूहिक रूप से व्रतादि ग्रहण करने पर इर्द-गिर्द के परिवारों में सद्संस्कारों का वपन होता है। उस दिन उत्सव विशेष करने पर सम्पत्ति का सदुपयोग होता है एवं भावी पीढ़ी में तद्रूप संस्कार निर्मित होते हैं।

जैन विधियाँ अपने आपमें प्रबन्धन (Management) की अपूर्व क्रियाएँ हैं। इनके द्वारा समाज प्रबन्धन, जीवन प्रबन्धन, तनाव प्रबन्धन, वाणी प्रबन्धन, कषाय प्रबन्धन आदि किया जा सकता है।

यदि नन्दी विधि के सन्दर्भ में प्रबन्धन के दृष्टिकोण से विचार करें तो इसमें सर्वप्रथम भाव प्रबन्धन प्रमुख रूप से होता है, क्योंकि व्रतादि क्रियाओं से अविशुद्ध कषाय आदि भावों का विसर्जन एवं मैत्री, करुणा, अहिंसा आदि शुभ भावों का सर्जन होता है। इससे मानसिक स्तर पर व्यक्ति स्वस्थ एवं सन्तुलित रहता है।

परमात्म भक्ति, गुणानुराग आदि से जीवन सही दिशा में प्रवृत्त होता है। व्रतादि ग्रहण करने से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का उचित प्रबन्धन होता है। जीवन में परिग्रह, राग, आसक्ति एवं पारिवारिक बन्धनों से ऊपर उठकर व्यक्ति संयम में प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार समाज में भी आध्यात्मिकता एवं भौतिकता के बीच सामञ्जस्य स्थापित होता है।

तुलनात्मक अध्ययन

जब हम नन्दीरचना विधि का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इस विधि का मूलस्वरूप आगम ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके पूर्वकाल तक इस स्वरूप को उल्लेखित करने की आवश्यकता नहीं रही होगी। तदनन्तर आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस विषय की ओर अपना ध्यान आकृष्ट कर विधिमार्गप्रपा में 'नन्दीरचना विधि' इस नाम से स्वतन्त्र अध्याय रचा है।

उक्त दोनों ग्रन्थों में विधि पाठ को लेकर प्रायः समानता है कुछ अन्तर इस प्रकार द्रष्टव्य हैं-

नाम की अपेक्षा- पंचाशकप्रकरण (2/12-13) में यह विधि 'दीक्षास्थल की शुद्धि' के सन्दर्भ में कही गयी है जबकि विधिमार्गप्रपाकार ने स्वतन्त्र प्रकरण

के रूप में नन्दीरचना-विधि का उल्लेख किया है। पंचाशक प्रकरण में 'नन्दीरचना' ऐसा स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है, नामोल्लेखपूर्वक यह विधि सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा में प्राप्त होती है। किन्तु विषय निरूपण की दृष्टि से दोनों कृतियाँ प्राय: समान हैं।

आह्वानमन्त्र की अपेक्षा – पञ्चाशकप्रकरण (2/12) में ऐसा निर्देश है कि वायुकुमार आदि देवताओं का मन्त्रोच्चारपूर्वक आह्वान किया जाना चाहिए, किन्तु आह्वान योग्य मन्त्र कौन से हैं ? यह वर्णित नहीं है। जबकि विधिमार्गप्रपा में एक मन्त्र का उल्लेख कर शेष मन्त्रों के लिए सूचन कर दिया गया है।

दिक्पालस्थापना की अपेक्षा – आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचाशक प्रकरण में भूमिशुद्धि से लेकर चौमुखी प्रतिमा की स्थापना करने तक का ही उल्लेख है जबकि विधिमार्गप्रपा में प्रतिमा स्थापना के अनन्तर दश दिक्पालों का विधिपूर्वक आह्वान करने का भी निर्देश है। इसमें आह्वान के मन्त्र और दिक्पाल स्थापना की विधि भी दी गयी है। पंचाशकप्रकरण में दशदिक्पालों के आह्वान एवं स्थापन की कोई चर्चा नहीं है। इससे अनुमान होता है कि यह परवर्ती विकास है।

आजकल दशदिक्पाल के साथ नवग्रह की स्थापना भी की जाती है। नवग्रह स्थापना का उल्लेख अर्वाचीन संकलित कृतियों में उपलब्ध होता है। अनुमानत: विक्रम की 14वीं शती के बाद यह नन्दीरचना का अंग बना हो, ऐसा कहा जा सकता है।

जैन परम्परा में नवग्रह की अवधारणा विक्रम की 8वीं शती के बाद विकसित हो चुकी थी, किन्तु नन्दीरचना के आवश्यक कृत्य के रूप में इसकी अनिवार्यता परवर्तीकालीन सिद्ध होती है।

उपसंहार

जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा का यह सर्वमान्य अनुष्ठान है। इसे समवसरण रचना भी कहा जाता है। यह उत्तम पुरुषों के द्वारा प्रतिपादित और उत्तम जनों के द्वारा आसेवित किये जाने वाला उपक्रम है। आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे महान ग्रन्थकार इस विधान के आद्य उल्लेखकर्त्ता हैं। नन्दीरचना मूलत: व्रत या तप इच्छुक साधक की मनोभूमि को तद्रूपमय बनाने एवं ग्रहण किये जा रहे व्रतादि के ध्येय को सार्थकता प्रदान करने के उद्देश्य से की जाती

है। यह अनुष्ठान विशिष्ट आराधनाओं के प्रसंग पर मंगल रूप में सम्पादित किया जाता है। विशेषत: सम्यक्त्वव्रत ग्रहण, बारहव्रत ग्रहण, उपधान, प्रव्रज्या, उपस्थापना, योगोद्वहन, पदस्थापन आदि विधानों में इसे आवश्यक माना है।

नन्दी विधान प्रबंधन की क्रियाओं को प्रोत्साहित करता है, अत: इससे समाज प्रबंधन, जीवन प्रबंधन, तनाव प्रबंधन, वाणी प्रबंधन, कषाय प्रबंधन आदि में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त नन्दीरचना भाव प्रबंधन में भी सहायक है। यह मानसिक स्तर पर व्यक्ति को स्वस्थ एवं संतुलित बनाती है। पुन: एक सामूहिक क्रिया होने के फलस्वरूप व्रतादि धारण करने वालों के बीच एक आनन्दोत्सव की स्थिति पैदा होती है और आह्लाद-उल्लास के साथ वे तप, त्याग आदि के प्रति सुदृढ़ता के साथ आगे बढ़ते हैं।

यह व्यक्ति में जैन धर्म के महत आचारों, दर्शनों और मूल सिद्धांतों के प्रति आकर्षण और निष्ठा पैदा करने के साथ ही सुसंस्कारों के बीजारोपण एवं पल्लवन में भी यह सहायक होती है। इसके द्वारा आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र में विकास होने से मानवीय गुणों में वृद्धि होती है। व्यक्ति की आंतिरक मलिनता दूर होती है। क्योंकि नन्दी क्रियाओं के दौरान जिनवाणी के श्रवण, मनन से कषाय, परिग्रह, राग, आसक्ति आदि से मुक्ति और मैत्री, करुणा, अहिंसा, श्रद्धा, विनय, सद्भाव, स्नेह आदि सहज मानवीय गुणों एवं शुभ कर्मों का विकास होता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 508-509.*
2. *नन्दीसूत्र हारिभद्रीयटीका, पृ. 1.*
3. *वही, पृ. 2.*
4. *नंदी मंगलहेऊ, न यावि सा मंगला हि वररित्ता।*

   अभिधान राजेन्द्र कोश, भा. 4, पृ. 1752
5. *श्रावक-श्राविकाणां नन्दीसूत्र श्रावण-नाणं पंचविहं पण्णत्तं।*

   वही, पृ. 1752
6. *नन्दन्त्यनेनेति वा नन्दन्त्यस्मिन्निति वा नन्दयन्तीति वा।*
   तदभेदोपचाराद् नन्दि:, हर्ष: प्रमोद इत्यनर्थान्तरम्।।

   नन्दीसूत्र-हारिभद्रीयटीका, पृ. 1

7. *नंदंति जेण तवसं जमेसु, नेव य दरत्ति खिज्जंति।*
जायंति न दीणा वा, नंदि अ ततो समय सन्ना।।
अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 4, पृ. 1753

8. *बृहत्कल्पभाष्य, संपा. पुण्यविजयजी, 1177-81*
9. *आवश्यकनिर्युक्ति (निर्युक्तिसंग्रह), 549*
10. *वही, गा. 553*
11. *वही, गा. 556, 558, 560, 563*
12. *(क) तिलोयपण्णत्ति, 4/710-895*
(ख) हरिवंशपुराण, 7/1-161
(ग) महापुराण, 22/77-312
13. *बृहत्कल्पभाष्य-1 की वृत्ति*
14. *प्रवचनसारोद्धार, गा. 441-450 पर आधारित*
15. *बृहत्कल्पभाष्य, गा. 1182*
16. *आवश्यकनिर्युक्ति (निर्युक्तिसंग्रह), गा. 566*
17. *वही, गा. 565*
18. *पंचाशकप्रकरण, 2/12-13*
19. *विधिमार्गप्रपा - सानुवाद, पृ. 85-95*
20. *वही, पृ. 30*
21. *दीक्षाविधि, संकलित, पृ. 7*

●

अध्याय-4

प्रव्रज्या विधि की शास्त्रीय विचारणा

यह संस्कार विधि दीक्षा अंगीकार करने से सम्बन्धित है। इस संस्कार के द्वारा व्यक्ति गृहस्थ जीवन का परित्याग कर मुनि जीवन को स्वीकार करता है। मुनि जीवन को स्वीकार करना प्रव्रज्या कहलाता है। इसका अपर नाम दीक्षा है, जो वर्तमान में अधिक प्रचलित है।

'दीक्षा' शब्द भारतीय संस्कृति की प्रत्येक धारा में व्यवहृत है। सभी धाराओं ने अपने-अपने मान्य अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु जैन संस्कृति में 'दीक्षा' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। जैन धर्म में दीक्षा का अर्थ संन्यास या मुनि जीवन स्वीकार करने से है।

दीक्षा की परम्परा अत्यन्त प्राचीनतम है। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर आज तक अनगिनत व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण कर इस परम्परा का अनुकरण किया है। जैन धर्म में दीक्षा अंगीकार को एक उत्कृष्ट कोटि की साधना माना गया है। दीक्षा का शास्त्रीय नाम प्रव्रज्या है।

प्रव्रज्या एवं दीक्षा शब्द के अर्थ

प्रव्रज्या, इस शब्द में प्र उपसर्ग, व्रज् धातु और क्वप् + टाप् प्रत्यय का संयोग है। यहाँ प्र उपसर्ग सम्यग अर्थवाची और व्रज धातु गमनार्थक है। तदनुसार सत्य मार्ग का अनुसरण करना प्रव्रज्या है।

आगमिक एवं आगमेतर व्याख्या ग्रन्थों में प्रव्रज्या की निम्न व्युत्पत्तियाँ उपलब्ध होती हैं —

• स्थानांगटीका के अनुसार "**पव्वयणं पव्वज्जा, पावाओ सुद्धचरण-जोगेसु**" अर्थात पापकारी प्रवृत्तियों से हटकर शुद्ध चरण योगों (चारित्र धर्म) में गमन करना प्रव्रज्या है।[1]

• पंचाशकटीका के अनुसार "**महाव्रत प्रतिपत्तौ**" महाव्रतों को स्वीकार करना प्रव्रज्या है।[2] यहाँ उपस्थापना यानी बड़ी दीक्षा को प्रव्रज्या की संज्ञा दी गई है।

• पंचवस्तुक टीका में प्रव्रज्या शब्द की निम्न व्युत्पत्तियाँ की गई हैं[3]–

1. **प्रव्रजनं प्रव्रज्या** – प्र इति प्रकर्षेण, व्रजनं प्रव्रजनं अर्थात प्रकर्ष रीति से विचरण करना प्रव्रज्या है।

2. **मोक्षं प्रति व्रजनं** – मोक्ष की ओर गमन करना प्रव्रज्या है।

• धर्मसंग्रह के टीकाकार ने पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि करते हुए लिखा है– **''प्रव्रजनं पापेभ्य: प्रकर्षेण, चरणयोगेषु गमने''** अर्थात पाप कार्यों से विमुख होकर चारित्र धर्म की क्रियाओं में प्रकृष्ट रूप से गमन करना प्रव्रज्या है।[4] दीक्षा का एक अर्थ - सत्य की खोज करना है।[5]

• आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जिसके माध्यम से सद्ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है, *सांसारिक बन्धन क्षीण होते हैं अथवा* व्यक्ति को विशिष्ट पद पर नियुक्त किया जाता है, वह दीक्षा है।[6]

• आचार्य हरिभद्रसूरि ने दीक्षा की व्याख्या करते हुए कहा है कि कल्याण का दान करने वाली होने से 'दी' और अशिव का क्षय करने वाली होने से 'क्षा'। इस तरह 'दीक्षा' शब्द अशिव का नाशक और कल्याण का प्रापक माना *गया है।*[7]

• पंचाशकप्रकरण में चित्त मुण्डन को दीक्षा कहा है।[8] चित्त मुण्डन से तात्पर्य मिथ्यात्व, क्रोध आदि दोषों को दूर करना है। जिनागम में दस प्रकार के मुण्डन कहे गये हैं – 1-5. पाँच इन्द्रियों के विषयों का त्याग करना, 6. वचन-मुण्डन – बिना प्रयोजन कुछ नहीं बोलना, 7. हस्तमुण्डन – हाथ से पापकर्म नहीं करना, 8. पादमुण्डन – अविवेकपूर्वक पैरों को सिकोड़ने, फैलाने आदि व्यापारों का त्याग अथवा पापकर्म के लिए गमन क्रिया का त्याग करना, 9. मनमुण्डन – दुर्विचारों का त्याग करना और 10. शरीरमुण्डन – शरीर की कुचेष्टाओं का त्याग करना। प्रस्तुत प्रसंग में दीक्षा का अर्थ चित्त-मुण्डन और सिर-मुण्डन दोनों से है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने दीक्षा के आठ पर्यायवाची बतलाये हैं। उनके आधार पर दीक्षा के विभिन्न अर्थ और भी किये जा सकते हैं। दीक्षा अर्थ को प्रकट करने वाले वे आठ पर्यायवाची निम्न हैं[9]—

1. **प्रव्रज्या** – पाप से हटकर शुद्ध चारित्र के योग में 'प्र'- विशेष रूप से 'व्रजनम्'-गमन करना प्रव्रज्या है।

2. **निष्क्रमण** – बाह्य और आभ्यन्तर संयोग से बाहर निकलना निष्क्रमण है।
3. **समता** – इष्ट-अनिष्ट, अनुकूल-प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव रखना समता है।
4. **त्याग** – धन, सम्पत्ति आदि बाह्य और कषाय आदि आभ्यन्तर परिग्रह को दूर करना त्याग है।
5. **वैराग्य** – विषयों का राग छोड़ना वैराग्य है।
6. **धर्माचरण** – क्षमा आदि दस प्रकार के धर्म का पालन करना धर्माचरण है।
7. **अहिंसा** – प्राणियों की हिंसा नहीं करना अहिंसा है।
8. **दीक्षा** – सभी जीवों को अभयदान देना, भयरहित कर देना दीक्षा कहलाता है।

सार रूप में कहा जाए तो वेश परिवर्तन करना द्रव्य दीक्षा है और चैतसिक विकारों का त्याग कर पवित्र जीवन जीना भाव दीक्षा है।

प्रव्रज्या संस्कार की आवश्यकता क्यों ?

इस भौतिक युग में यह प्रश्न सर्वाधिक रूप से उभर रहा है कि दीक्षा क्यों ली जाती है ? संसार अवस्था में रहकर धर्माराधना सम्भव नहीं है ? दीक्षा अंगीकार करने का मूलभूत प्रयोजन क्या है ? इसका प्रथम समाधान यह है कि तीर्थङ्कर पुरुषों ने साधकों की मनोभूमिका को केन्द्र में रखते हुए दो मार्गों की स्थापना की है 1. सागार और 2. अनगार। इसी को देशविरति और सर्वविरति या गृहस्थधर्म और मुनिधर्म भी कहा जाता है।

जैन धर्म में साधना के दो पक्ष हैं– बाह्य और आभ्यांतरिक। समत्व की साधना करना और राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना आभ्यांतरिक पक्ष है तथा हिंसक प्रवृत्तियों का त्याग आदि उसका बाह्य पक्ष है। इसमें समभाव की प्रधानता ही मुख्य है, क्योंकि मानसिक रूप से समभाव पैदा हुए बिना साधक में सावद्य क्रियाओं से मुक्त नहीं मिल सकती, इसलिए दीक्षित जीवन का मूल आधार समत्व की साधना है। दीक्षा प्रदान करते समय गुरु अपने शिष्य को यह संकल्प करवाते हैं कि वह आजीवन सामायिक दंडक के माध्यम से समभाव की साधना में निरत रहेगा। इस अवसर पर अपनाई जाने वाली प्रक्रिया इसी उद्देश्य को समर्थित करने हेतु होती है।

यह मार्ग केवली प्ररूपित होने से सोद्देश्य है। दीक्षा स्वीकार का एक

प्रयोजन यह है कि गृहस्थ धर्म का अनुसरण करते हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को तो समुपलब्ध किया जा सकता है, किन्तु सम्यक्‌चारित्र की प्राप्ति एवं उसकी परिपूर्णता दीक्षा के द्वारा ही सम्भव है। यद्यपि भाव चारित्र गृहस्थावस्था में भी हो सकता है, किन्तु द्रव्य चारित्र दीक्षित वेश में ही सम्भव है।

तीसरा कारण ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ऐसा जाना जाता है कि केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए द्रव्य और भाव दोनों चारित्र अवश्यम्भावी होने चाहिए, अन्यथा भाव-चारित्री आत्मा के लिए द्रव्य-चारित्र को ग्रहण करना क्यों जरूरी होगा ? वह भावसंयम के द्वारा गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी केवलज्ञान और निर्वाणदशा को सम्प्राप्त कर सकता है, किन्तु शास्त्रों में ऐसा देखा-सुना नहीं गया है। केवलज्ञान का पूर्ववर्ती मनःपर्यवज्ञान भी मुनि को ही होता है गृहस्थ को नहीं। इस युक्ति से यह निर्विवादतः सिद्ध हो जाता है कि जब मनःपर्यव ज्ञान के लिए भी मुनि पद होना जरूरी माना गया है, तब केवलज्ञान के लिए मुनित्व की अपरिहार्यता स्वतः सिद्ध है। अतः दीक्षा ग्रहण का एक प्रयोजन मुनित्व दशा की उपलब्धि है।

दीक्षा अंगीकार का प्रमुख उद्देश्य धर्मसाधना के अनुकूल वातावरण में स्वयं को समुपस्थित करना भी है। यद्यपि गृहस्थ धर्म का अनुकरण करते हुए अनासक्त जीवन जिया जा सकता है, किन्तु वर्तमान की भौतिक सुख-सुविधाओं के बीच रहते हुए साधना मार्ग के उच्च एवं चरम सोपानों पर आरूढ़ होना असम्भव है जबकि दीक्षित व्यक्ति के लिए सब कुछ सम्भव हो सकता है।

संसारी व्यक्ति पारिवारिक सम्बन्धों और मोह-ममता का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता। चूंकि उसे उसी वातावरण में जीना पड़ता है, जबकि गृहत्यागी मोह-ममत्व से कोसों दूर रहता है। अतः विशुद्ध साधना का अभ्यास दीक्षित जीवन में ही शक्य है, इस दृष्टि से भी संन्यास ग्रहण की अनिवार्यता सुस्पष्ट है।

दीक्षा यह विशिष्ट त्याग की उच्चतम भूमिका है। जो भव्य मुमुक्षु अपने अन्तरतम में रहे हुए आत्मतत्त्व से साक्षात्कार करने की समीहा रखता है, उसके लिए यही मार्ग श्रेयस्कर है। जो लोग दीक्षा का कारण जानना चाहते हैं, उनको दीक्षा के अन्दर में समाहित तत्त्वों को भी जानना होगा। अपनी आत्मा को उच्चतम भूमिका पर पहुँचाने के लिए दीक्षा सर्वश्रेष्ठ साधना है। साध्य को पाने के लिए साधन भी तदनुरूप ही होना चाहिए। जहाँ साध्य हमारा मुक्ति या

परमानन्द की प्राप्ति रूप है, वहाँ साधन भी आनन्ददायक होना चाहिए। जैसे कोई पुरुष जाना चाहता है बम्बई और प्रस्थान करता है मद्रास की गाड़ी से, तो वह अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार जो भव्य प्राणी जड़-चेतन का भेद समझकर, आत्मा के साथ संलग्न कर्म-पुद्गलों के आवरण को हटाकर, अपने आत्मदेव से साक्षात्कार करने का परमाभिलाषी बनता है, उसके लिए दीक्षा रूपी साधन ही सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न सामने आता है कि क्या संसार में रहकर व्यक्ति साधना नहीं कर सकता ? प्रश्न सहज है लेकिन जरा चिन्तन करिये कि जो सांसारिक व्यामोह में फंसे हुए हैं, अपने पारिवारिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, वे अपने जीवन का कितना समय साधना या प्रभु-स्मरण में व्यतीत करते हैं? उनको प्रभु-भजन के लिए समय ही नहीं मिलता। प्रभु-स्मरण की बात तो जाने दीजिए। उनको अपने आपके विषय में सोचने का भी समय नहीं मिलता। अत: संसार में रहकर साधना कैसे सम्भव है ? इस पर कई लोग कहते हैं कि हम गृहस्थ में रहकर अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण करते हैं। अपने माता-पिता की सेवा करते हैं। भोजनादि देकर कर्त्तव्य-पालन करते हैं। यह सब संयम से बढ़कर है। संयम-जीवन में आप किसका पालन-पोषण कर रहे हो ? या कौनसा बड़ा दायित्व निभा रहे हो ? अतएव संयम से तो गृहस्थ-जीवन ज्यादा श्रेष्ठ है।

भ्रान्त लोगों का यह कथन निरा-मिथ्या है। गृहस्थ में रहकर अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण तो पशु-पक्षी भी करते हैं, तो मानव उसका पालन करे, इसमें कोई महानता या बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है। माता-पिता आदि पारिवारिक सदस्यों की अर्थ से सेवा करना सर्वोपरि सेवा नहीं है। यदि आप माता-पिता की मन, वचन या शरीर से सेवा करना चाहते हैं तो आपको भी इसी मार्ग का आश्रय लेना पड़ेगा। यदि आप माता-पिता की सच्चे मन से सेवा करते हैं तो उनके कल्याणार्थ आपको उन्हें न्याय-नीति और मर्यादा परिपूर्ण धर्म मार्ग में स्थापित करना होगा। यदि वचन से माता-पिता की सेवा करना चाहते हैं तो उनके हित के लिए सत्य-तथ्य प्रामाणिक वचनों का उच्चारण करना होगा। यदि शरीर से उनकी सेवा करना चाहते हैं तो उनके लिए अपने शरीर का भी सुख-त्याग कर धर्म मार्ग को अपनाना होगा। अत: आप केवल अर्थ से माता-पिता की शुद्ध परिपूर्ण सेवा नहीं कर सकते।

इसी तथ्य को उजागर करते हुए प्रभु महावीर ने स्थानांगसूत्र में कहा है कि व्यक्ति अपने माता-पिता को शरीर की चमड़ी के जूते बनाकर भी पहना दे तो वह उनके उपकारों से उऋण नहीं हो सकता, किन्तु उनको यदि धर्म मार्ग का पथिक बना दें, वीतराग वाणी का रसिक बना दें तो वह माता-पिता के उपकारों से ऋण मुक्त हो सकता है। अतएव मोह-मायाबद्ध गृहस्थ जीवन में विशिष्ट लाभ की सम्प्राप्ति नहीं हो सकती। इस पर कई प्रश्न करते हैं कि 'फिर कई लोगों ने गृहस्थ में रहकर भी सिद्धावस्था को सम्प्राप्त किया तो वह कैसे सङ्गत होगा ? प्रश्न बड़ा अच्छा है। समाधान भी सरल है कि जो आत्माएँ गृहस्थ में रहकर मर्यादित और न्याय-नीति से त्याग-प्रत्याख्यान करते हुए अपने जीवन में अनासक्त रहकर साधना करती हैं, वे अपने जीवन में सिद्धावस्था जैसी श्रेष्ठ दशा भी प्राप्त कर लेती हैं। लेकिन ऐसी स्थिति अत्यल्प गृहस्थों में देखी जाती है। अतएव ऐसा बहुत कम सम्भव होने से दीक्षा ही सर्वश्रेष्ठ मुक्ति का साधन है।

जो लोग दीक्षा को आकर्षण-हीन मानते हैं उनका कथन अप्रामाणिक है। क्योंकि उन्होंने केवल भौतिकता में ही आनन्द मान लिया है। उन्हें कभी आत्मिक आनन्दानुभूति नहीं हुई। वे गूढ़ रहस्य से अनभिज्ञ दीक्षा को आकर्षणहीन मानते हैं। वस्तुतः दीक्षा आनन्द का वह खजाना है, जिसको सम्प्राप्त कर मनुष्य आनन्द की चरम सीमा तक पहुँच सकता है। दीक्षार्थी दीक्षा धारण कर लोक से विमुख नहीं हो जाता, अपितु लोक से ऊपर उठकर भ्रमित जन-समुदाय को दिशा-बोध देता है। वह धर्म से विमुख जनों को कल्याण के सम्मुख ले जाता है।

कुछ लोग अर्थहीनता को दीक्षा का कारण स्वीकार करते हैं, उनकी भ्रान्त धारणा निराधार और सर्वथा अप्रामाणिक है। आप स्वयं देखते हैं कि कितने ही भूखे, नंगे, गरीबी से परिपूर्ण जीवन जीने वाले फुटपाथ पर रहने वाले लोग अपना सम्पूर्ण जीवन इसी प्रकार से गुजार देते हैं। किन्तु कोई उन्हें यदि त्याग की बात सुनाये तो उसको वे स्वीकार नहीं करते। यदि आप उन्हें एक रात्रि के लिए भोजन त्याग करने की बात कहें तो वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे। त्यागी की परिभाषा देते हुए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है—

जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठि कुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु 'चाइ' त्ति वुच्चई।।

जो प्राप्त हुए काम-भोगों का परिपूर्ण रूप से त्याग कर देता है, वही त्यागी है। इसी तथ्य से जाहिर होता है कि साधक सच्चा त्यागी होता है। उस त्याग में 'अर्थहीनता' कोई कारण नहीं हो सकती। फिर इस शिक्षित युग में तो बालिकाएँ स्वयं भी अपना निर्वाह करने में सर्वथा समर्थ हैं। अत: अर्थहीनता से दीक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है।

दीक्षा लोक-पलायन, आकर्षण-हीन, हेतु-हीन नहीं है अपितु जीवन के चहुँमुखी विकास का श्रेष्ठ साधन है। जो भव्यात्माएँ अपने जीवन के सार-तत्त्व को पाने के लिए लालायित रहती हैं, उसे इस उच्चतम मार्ग का प्रश्रय लेना अत्यावश्यक है। अपनी आत्मा की शुद्ध पहचान करने वाले ज्ञानियों के लिए यह मार्ग समयोचित है।

प्रव्रज्या की उपयोगिता इस वर्णन से भी पुष्ट होती है कि प्रभु महावीरादि जिनेश्वर देवों ने इसी मार्ग की उपासना करके अपनी आत्मा को समुज्ज्वल बनाया।[10]गीता में श्री कृष्ण ने इसी तथ्य को बतलाते हुए कहा है —

लोकेऽस्मिन् द्विविधानिष्ठा, पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन् सांख्यानां, कर्म-योगेन योगिनाम् ।।

इसी आत्म कल्याणार्थ व्यक्ति दीक्षा धारण करता है। अपनी आत्मा के अन्तर में निहित जो अनन्त ज्ञान का प्रकाश है, उसे पाने के लिए तथा कर्मों के सघन-आवरण को दूर करने के लिए दीक्षा सर्वश्रेष्ठ प्रयास है। अनादिकालीन मोहपाश को काट गिराने का प्रमुख शस्त्र है। आनन्द का परमधाम और आत्म कल्याण ही दीक्षा ग्रहण का लक्ष्य है।

जैन धर्म में संन्यास ग्रहण करने के लिए जब दीक्षा ली जाती है तो साधक को अपने दीक्षा गुरु के समक्ष कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती हैं और उनका पालन करते हुए अपनी भावी जीवन यात्रा का पथ निर्धारित करना पड़ता है। दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व व्यक्ति मानसिक स्तर पर स्वयं को कठिन जीवन यात्रा के लिए तैयार करता है और जब संकल्प सुदृढ़ हो जाता है तो वह गुरु के समक्ष अपने आपको समर्पित कर देता है। दीक्षा एक उच्च स्तरीय साधना का जीवन है, जिसमें इंद्रियों पर नियंत्रण करते हुए साधक आध्यात्मिक विकास की दिशा में अग्रसर होता है। उसका मूल लक्ष्य असत से सत की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा क्षय से अक्षय की ओर अग्रसर होना रहता है। इसके लिए साधक स्वयं को अन्तर्मुखी रखते हुए साधना में रत होता है और सभी कषायों का त्याग

करके शुभ संस्कारों एवं पावनता के साथ श्रमणत्व के पथ का अवगाहन करता है।

सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है कि जैसे कोई व्यक्ति छिद्र वाली नौका पर चढ़कर पार जाने की इच्छा करता है तो वह सागर के पार नहीं पहुँच सकता, बल्कि बीच में ही डूब जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति बिना छिद्र वाली नौका पर चढ़कर समुद्र से पार जाना चाहता है, वह समुद्र को पार कर किनारे पहुँच जाता है। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति राग-द्वेष, कषाय, कर्मबन्धन आदि के कारणों को दूर करके मुक्ति की प्राप्ति के लिए बिना छिद्र वाली संयमरूपी नौका पर चढ़कर सिद्धालय में गमन की इच्छा करता है वही मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। किन्तु जो संसार में रहकर निरन्तर आश्रव-परिग्रहरूपी छिद्र युक्त नौका से पार जाने की चेष्टा करता है वह भवाब्धि में ही डूब जाता है। इसलिए परमात्म तत्त्व की उपलब्धि दीक्षा से ही सम्भव है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से दीक्षा स्वीकार की आवश्यकता और सार्थकता परिलक्षित होती है।

प्रव्रज्या के प्रकार

स्थानांगसूत्र में प्रव्रज्या को कृषि एवं धान्य की उपमा देते हुए उसके चार प्रकार बतलाये हैं।[11] जैसे कृषि चार प्रकार की होती है – 1. एक बार वपन की गयी कृषि 2. उगे हुए धान्य को उखाड़कर रोपण की जाने वाली कृषि 3. भूमि को घास रहित कर तैयार की जाने वाली कृषि 4. भूमि को अनेक बार घास रहित करने पर होने वाली कृषि। इसी तरह प्रव्रज्या भी चार प्रकार की होती है – 1. सामायिक चारित्र में आरोपित करना (छोटी दीक्षा) 2. महाव्रतों में संस्थापित करना (बड़ी दीक्षा) 3. एक बार की गई आलोचना द्वारा दी जाने वाली दीक्षा 4. अनेक बार की गई आलोचना द्वारा दी जाने वाली दीक्षा।

धान्य की भाँति भी प्रव्रज्या चार प्रकार की होती है–

1. खलिहान में स्वच्छ करके रखे गये धान्यपुंज के समान निर्दोष प्रव्रज्या।
2. स्वच्छ, किन्तु खलिहान में विकीर्ण धान्य के समान अल्प अतिचार वाली प्रव्रज्या।
3. खलिहान में बैलों आदि के द्वारा कुचले गये धान्य के समान बहु-अतिचार वाली प्रव्रज्या।
4. खेत से काटकर खलिहान में लाये गये धान्य फूलों के समान बहुतर अतिचार वाली प्रव्रज्या।

वर्तमान में उक्त चारों प्रकारों की प्रव्रज्या धारण करने वाले साधक हैं।

इसी आगम में भाव दीक्षा के अभिप्राय से मुण्डन के दस प्रकार भी बतलाये गये हैं। यहाँ मुण्डन का बाह्य अर्थ दीक्षा है और भावत: मुण्डन दस प्रकार का होता है– 1-5. पाँच इन्द्रियजन्य विषयों का त्याग करना, 6. क्रोध मुण्ड, 7. मान मुण्ड, 8. माया मुण्ड, 9. लोभ मुण्ड और 10. शिरो मुण्ड।[12] इनमें शिरो मुण्ड द्रव्यदीक्षा का भेद है।

दीक्षादाता गुरु की योग्यताएँ एवं लक्षण

दीक्षादाता गुरु किन गुणों से युक्त होने चाहिए, दीक्षा दान के अधिकारी कौन हो सकते हैं? इस सन्दर्भ में लगभग आगमिक उल्लेख नहीं मिलता है। यह विवेचन स्पष्ट रूप से मध्यकालीन पंचवस्तुक आदि एवं उत्तरकालीन धर्मसंग्रह आदि में प्राप्त होता है। धर्मसंग्रह में दीक्षाप्रदाता गुरु के लिए 15 योग्यताएँ आवश्यक मानी गयी हैं[13] जबकि पंचवस्तुक के अनुसार दीक्षाप्रदाता गुरु में निम्न 19 गुण होने चाहिए[14]–

1. **प्रव्रज्या के योग्य गुणों से युक्त-** प्रव्रज्या के लिए तत्पर आत्मा के लिए सिद्धान्त ग्रन्थों में जो गुण आवश्यक कहे गये हैं, उन गुणों से युक्त हो।
2. **विधिपूर्वक दीक्षा लेने वाला –** शास्त्रीय विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की हो।
3. **गुरुकुलवासी –** गुरु चरणों की सेवा करने वाला यानी गुरु के सान्निध्य में रहने वाला हो।
4. **गुरु का उपासक –** जिसने अपने गुरु एवं वरिष्ठ साधुओं की सुन्दर ढंग से सेवा की हो।
5. **अखण्डित व्रती –** दीक्षा दिन से लेकर वर्तमान तक महाव्रतों का अखण्ड रूप से पालन कर रहा हो।
6. **परद्रोहरहित –** परद्रोह की भावना से रहित हो।
7. **आगमाभ्यासी –** शास्त्रोक्त विधिपूर्वक योगोद्वहन करके सूत्रों का अध्ययन किया हुआ हो।
8. **अति निर्मल बोधवाला –** योगोद्वहन पूर्वक सूत्राभ्यास करके उनका स्पष्ट अर्थबोध कराने में समर्थ हो।
9. **विशिष्ट वेत्ता –** जैन-सिद्धान्तों के परमार्थ को जानने वाला हो।
10. **उपशान्त –** उपशान्त स्वभाव वाला हो।

11. **सकल संघ के प्रति वात्सल्य भाव** – जो सूत्र रूप और संघ रूप प्रवचन के प्रति वात्सल्य भाव रखने वाला हो। वात्सल्य भाव के बिना श्रीसंघ का उपकार नहीं हो सकता है।
12. **सर्वसत्त्व हितान्वेषी** – संसार के समस्त प्राणियों का हित चाहने वाला हो।
13. **आदेय** – जिसका वचन सभी के लिए आदरणीय हो।
14. **अनुवर्त्तक** – अलग-अलग स्वभाव वाले शिष्यों के अनुकूल बनकर उन्हें सन्मार्ग का अनुसरण कराने वाला हो।
15. **गम्भीर** – गम्भीर और उदारचित्त वाला हो।
16. **अविषादी** – किसी भी प्रकार की विपरीत परिस्थितियों के उपस्थित होने पर खिन्न होने वाला न हो, शरीर रक्षण आदि के लिए दीनभाव वाला न हो।
17. **उपशमलब्धिवान्** – अन्य को उपशान्त करने की सामर्थ्य वाला हो। इसी के साथ उपकरणलब्धि अर्थात संयम में उपकारक पात्रादि वस्तुएँ प्राप्त करने की शक्ति वाला और जिसको व्रत-नियमादि दें, वह स्थिर चित्त से उन नियमादि का पालन कर सके, ऐसी लब्धियों से युक्त हो।
18. **सूत्रार्थभाषक** – आगम के अर्थ का सम्यक् प्रतिपादन करने वाला हो और शिष्य को सूत्र अर्थ की वाचना देने में समर्थ हो।
19. **स्वगुर्वनुज्ञात गुरुपद** – स्वयं के गुरु के द्वारा गुरुपद पर स्थापित किया हुआ हो।

इन 19 गुणों से युक्त गुरु ही दीक्षा प्रदान करने में समर्थ होते हैं। किसी में काल दोष के प्रभाव से सर्वगुण सम्पन्नता न भी हों, परन्तु मुख्य गुणों से युक्त हो, तो वह गुरु भी दीक्षा के लिए योग्य कहा गया है।

दीक्षादाता गुरु की योग्यता के विषय में अपवाद

पंचवस्तुक में कहा गया है कि इस कलयुग के दुष्प्रभाव से कोई गुरु उक्त गुणों से सम्पन्न न भी हों तो भी वह गुरु निम्नोक्त गुणों से युक्त होना चाहिए। ये गुण अपवाद रूप में स्वीकार किये गये हैं।

1. **गीतार्थ** – सूत्र और अर्थ को जानने वाला हो।
2. **कृतयोगी** – साधु के आचारों का पालन करने वाला हो।

3. **चारित्री** – शीलवन्त हो।
4. **ग्राहणाकुशल** – शिष्य परिवार को आचार आदि का बोध कराने एवं पालन करवाने में समर्थ हो।
5. **अनुवर्त्तक** – शिष्यों के स्वभाव के अनुकूल बनकर उनके चारित्र की वृद्धि करने वाला हो।
6. **अविषादी** – अपमान आदि की स्थिति में खेद करने वाला न हो।[15]

दीक्षाग्राही की योग्यताएँ

जैन धर्म में श्रमण जीवन स्वीकार करने वाले व्यक्ति के लिए 15 योग्यताएँ आवश्यक मानी गयी हैं। पंचवस्तुक के अनुसार वह विवेचन इस प्रकार है[16]–

1. **आर्यदेशसमुत्पन्न** – जो आर्यदेश में जन्मा हुआ हो।
   आर्यदेश साढ़े पच्चीस माने गये हैं। सामान्यत: जहाँ तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव आदि उत्तम पुरुष जन्म लेते हैं उन्हें आर्यदेश कहा जाता है।
2. **शुद्धजाति कुलान्वित** – जो जाति-मातृपक्ष और कुल- पितृपक्ष दोनों पक्षों से शुद्ध हो।
3. **क्षीणप्राया शुभकर्मा** – जिसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी कषाय नष्ट हो चुके हो।
4. **निर्मलबुद्धि** – जो अशुभ कर्मों का क्षय हो जाने से निर्मल विचार वाला हो।
5. **संसार नैर्गुण्य विज्ञात** – जिस व्यक्ति ने संसार की निर्गुणता- असारता को जान लिया हो।
6. **संसार विरक्त** – जो संसार के भोगों से विरक्त हो।
7. **मन्दकषाय** – जिसके क्रोधादि कषाय मन्द हों।
8. **अल्पहास्य** – जो हास्य आदि नोकषाय को क्षीण करने में प्रयत्नशील हो।
8. **सुकृतज्ञ** – उपकारियों के उपकारक भाव को स्वीकार करता हो।
10. **विनीत** – जो माता-पिता, गुरु आदि पूज्यों के प्रति विनय रखता हो।
11. **राजसम्मत** – जो राज्यविरुद्ध कार्य करने वाला न हो और राजा के द्वारा तिरस्कृत भी न हो।
12. **कल्याणांग** – जो पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण, सुन्दर, स्वस्थ शरीर वाला हो।

13. **श्रद्धावान** – जिनवचन के प्रति श्रद्धा रखने वाला हो।
14. **स्थिर** – स्थिरचित्त वाला हो।
15. **समुपसम्पन्न** – स्वेच्छापूर्वक, सम्पूर्ण भाव से दीक्षा स्वीकार के लिए आया हो।

उत्सर्गत: इन पन्द्रह गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही दीक्षा के लिए योग्य कहा गया है। आपवादिक दृष्टि से इससे न्यून गुणवाला व्यक्ति भी दीक्षित हो सकता है, किन्तु आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार आर्यदेश में जन्मा हुआ अवश्य होना चाहिए, उन्होंने इस गुण पर विशेष बल दिया है।

धर्मसंग्रह में दीक्षार्थी के 16 गुण कहे गये हैं उनमें 'अद्रोही' गुण विशेष है शेष पूर्ववत जानने चाहिए।[17] दूसरे, उपर्युक्त गुण उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा या कालहानि के दुष्प्रभावों से बचने की अपेक्षा से जानने चाहिए।

परमार्थत: जो तीव्रतम वैराग्य से संयुक्त हो, ऐसा कोई भी साधक दीक्षा का पवित्र पथ अपना सकता है, क्योंकि चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशीबल एवं मेतार्य मुनि जैसे पतित व्यक्तियों ने भी दीक्षा ग्रहण कर इस जीवन को सफल बनाया है।

व्यवहारभाष्य में एक गणिका द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने का वर्णन मिलता है। बौद्ध साहित्य के अनुसार आम्रपाली नाम की गणिका ने तथागत बुद्ध के पावन उपदेश से प्रभावित होकर बौद्ध प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि यदि वैराग्य प्रबल हो और योग्य गुणों का समन्वय हो, तो प्रत्येक व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी बन सकता है। इस सन्दर्भ में दीक्षाप्रदाता के द्वारा सम्यक् परीक्षण किये जाने के बाद ही दीक्षा देनी चाहिए।

दीक्षा के लिए अयोग्य कौन ?

जैन धर्म में अठारह प्रकार के पुरुष, बीस प्रकार की स्त्रियाँ और दस प्रकार के नपुंसक ऐसे अड़तालीस व्यक्ति दीक्षा के लिए अयोग्य माने गये हैं। इन अयोग्य व्यक्तियों को श्रमणसंघ में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। निशीथभाष्य एवं प्रवचनसारोद्धार के अनुसार दीक्षा के लिए अयोग्य अधिकारियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है[18]–

दीक्षा अयोग्य पुरुष

1. बाल – जन्म से आठ वर्ष तक का बालक। यह उम्र स्वाभाविक रूप से देशविरति या सर्वविरति ग्रहण के लिए अयोग्य मानी गयी है। निशीथचूर्णि के मतानुसार गर्भ के नौ मास सहित आठ वर्षीय बालक को दीक्षा दी जा सकती है– **"आदेसेण वा गब्भट्ठमास दिक्खत्ति।"**

दोष – पंचवस्तुक में कहा गया है कि आठ वर्ष से कम उम्र के बालक को दीक्षा देना जिन शासन के पराभव का कारण होता है। इतनी छोटी उम्र में चारित्र के भाव प्रायः नहीं हो सकते हैं।[19] वज्रस्वामी को तीन वर्ष की उम्र में दीक्षा देना अपवाद माना गया है। आपवादिक घटनाएँ सामान्य नियम का उदाहरण नहीं बन सकती। वज्रस्वामी छः महीने की आयु से ही सावद्य के त्यागी थे, षड्जीवनिकाय की यतना करने वाले थे इसीलिए तीन वर्ष की उम्र में दीक्षा दी गयी। वस्तुतः आठ वर्ष से पूर्व बालक को दीक्षा नहीं देनी चाहिए, अन्यथा निम्न दोषों की सम्भावनाएँ रहती हैं– 1. बालक होने से वैराग्य भाव शिथिल हो सकता है। 2. बाल सुलभ चेष्टाओं से संयम की विराधना होती है। 3. ज्ञान के अभाव में चारित्र की भावना उत्पन्न नहीं होती। 4. 'ये मुनि लोग कितने कठोर हैं कि ऐसे दूध मुँहे बच्चों को दीक्षा देते हैं' इस प्रकार निन्दा होती है। 5. बाल मुनि की मातृवत परिचर्या करने से स्वाध्याय में हानि होती है।

इस प्रकार आठ वर्ष से कम वय के बालक को दीक्षित करना शास्त्रविरुद्ध है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी यह विषय विचारणीय है।

2. वृद्ध – पंचवस्तुक के अनुसार उम्र और शरीर दोनों से अत्यन्त शिथिल पुरुष वृद्ध कहलाता है।[20] निशीथभाष्य एवं प्रवचनसारोद्धार की टीकानुसार जिस काल में जो उत्कृष्ट आयु हो उसके दस भाग करना चाहिए। उनमें से आठवें, नौवे और दसवें भाग में प्रवर्तमान 'वृद्ध' कहलाता है। जैसे इस काल में उत्कृष्ट आयु सौ वर्ष की मानी गयी है उसके दस भाग करने पर आठवाँ, नौवाँ और दसवाँ भाग क्रमशः 71-80, 81-90, 91-100 वर्ष का होता है। इस अपेक्षा से 70 वर्ष से अधिक उम्र का वृद्ध होता है। उसे दीक्षा नहीं देना चाहिए।[21]

दोष – वृद्ध को दीक्षित करने पर निम्न दोष हो सकते हैं– धर्मसंग्रह में कहा गया है कि वृद्ध साधु ऊँचे आसन पर बैठने की इच्छा रखता है, विनय नहीं करता है, गर्व करता है, इसलिए वासुदेव का पुत्र भी हो फिर भी दीक्षा नहीं

देनी चाहिए, किन्तु कोई समाधिमरण का इच्छुक हो या अनशन व्रत स्वीकार करने की भावना रखता हो तो अपवादतः वृद्ध को भी दीक्षित कर सकते हैं।[22]

3. **नपुंसक** – स्त्री और पुरुष दोनों को भोगने की अभिलाषा वाला नपुंसक कहलाता है।

4. **पुरुषक्लीब** – स्त्री द्वारा भोग की याचना करने पर, स्त्री के अंगोपांग देखकर, कामोद्दीपक वचन सुनकर जो अपने आपको संयम में न रख पाये वह मनुष्य क्लीब कहलाता है।

दोष – क्लीब पुरुष को दीक्षित करने पर कदाचित तीव्र वेदोदय के कारण स्त्री का आलिंगन कर सकता है, सम्भोग आदि पापाचार भी कर सकता है, अतः यह धर्म निन्दा का कारण होने से क्लीब पुरुष को दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

5. **जड्ड** – मूक व्यक्ति जड्ड कहलाता है। मूक के तीन प्रकार माने गए हैं – भाषाजड्ड, शरीरजड्ड, करणजड्ड।[23] ये तीनों प्रकार के जड्ड दीक्षा योग्य नहीं होते।

भाषाजड्ड – इसके तीन प्रकार हैं –

1. **जलमूक** – जल निमग्न व्यक्ति की भाँति बुडबुड यानी अव्यक्त भाषण करने वाला, 2. **मन्मनमूक** – हकलाते हुए बोलने वाला, 3. **एलकमूक** – मेमने (भेड़) की तरह मिमियाने वाला।

दोष – जलमूक और एलकमूक व्यक्ति दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, समिति, करण और योग के स्वरूप को समझाने पर भी नहीं समझते हैं। ये दोनों नियमतः बधिर होते हैं। उन्हें जोर से बोलकर समझाने पर उड्डाह होता है और वे जब सम्यक् ग्रहण नहीं कर पाते हैं तो क्रुद्ध होकर अधिकरण करते हैं। वस्तुतः दीक्षा का प्रयोजन ज्ञान आदि की उपलब्धि करना है जबकि पूर्वोक्त तीनों प्रकार के भाषाजड्ड ज्ञान-ग्रहण करने में असमर्थ होने से दीक्षा के अयोग्य हैं।

शरीरजड्ड – अतिस्थूल शरीर वाला व्यक्ति।

दोष – जिनका शरीर स्थूल होता है उन्हें पदयात्रा, भिक्षाटन और वन्दना करने में कठिनाई होती है। इस तरह क्रिया भेद के आधार पर इसके तीन भेद हैं– पन्थ, भिक्षा और वन्दना।

अतिस्थूल शरीर वाला होने से गोचरी गमन के लिए मुश्किल होती है, अधिक पसीना आने से शरीर, वस्त्र आदि पर फूलन जमती है, जिन्हें धोने पर जीव विराधना, संयम विराधना होती है। मार्ग में गमन करते हुए देखकर 'यह साधु बहु भक्षी है' इस प्रकार जन निन्दा होती है। अतिस्थूल होने से सर्प, अग्नि

आदि के भय की स्थिति में वह दौड़ नहीं सकता, अतः शरीरजड्डु दीक्षा के अयोग्य है।

करणजड्डु – यहाँ करण शब्द क्रिया अर्थ का वाचक है। तदनुसार समिति-गुप्ति, प्रतिक्रमण, पडिलेहण, व्रत आदि संयम क्रियाओं को पुनः-पुनः समझाने पर भी नहीं समझने वाला करणजड्डु कहलाता है।

दोष – क्रियाओं का यथावत ज्ञान न होने के कारण वह चारित्र का सम्यक पालन नहीं कर सकता है इससे संयम विराधना होती है।

6. **रोगी** – जो भगन्दर, अतिसार, कुष्ठ, कफ, खाँसी और ज्वरादि रोगों से ग्रस्त हो।

दोष – रोगी को दीक्षा देने पर चिकित्सा कराने में छः काय जीवों की विराधना होती है। रोगग्रस्त रहने से या रोगी की सेवा करने से स्वाध्याय हानि भी होती है।

7. **स्तेन** – जो चोरी करने की आदत वाला हो।

दोष – चौर्य-कर्म करने वाला साधु गच्छ के लिए वध, बन्धन, ताड़ना, तर्जना आदि अनर्थ का कारण होने से दीक्षा के अयोग्य है।

8. **राजापकारी** – जो राजद्रोही हो या राज्य विरुद्ध कार्य करने वाला हो।

दोष – राजद्रोही व्यक्ति को दीक्षा देने पर राजा क्रुद्ध होकर मृत्यु दण्ड, देश निकाला आदि दे सकता है।

9. **उन्मत्त** – जो भूत-प्रेत आदि से आवेष्टित हो या मोह के प्रबल उदय से पराधीन हो।

दोष – उन्मत्त को दीक्षित करने पर भूत आदि रुष्ट होकर अन्य साधुओं का अनिष्ट कर सकते हैं, स्वाध्याय, ध्यान आदि में हानि पहुँचा सकते हैं। उन्मत्त के कारण मुनि संघ को अनेक प्रकार की परेशानियाँ भी हो सकती है इसलिए उन्मत्त दीक्षा के अयोग्य है।

10. **अदर्शन** – जो व्यक्ति नेत्रहीन और स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला है वह दीक्षा के अयोग्य कहा गया है।

दोष – नेत्रहीन व्यक्ति षट्कायिक जीवों की रक्षा करने में असमर्थ होता है। उसके कील, काँटे युक्त विषम स्थानों पर गिरने की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं। स्त्यानर्द्धि निद्रा वाला व्यक्ति क्रुद्ध होने पर किसी साधु को मार सकता है।

11. **दास** – जो दासी के गर्भ से उत्पन्न हुआ हो, क्रीत हो एवं कर्जदार हो।

दोष – दास पुत्र को दीक्षा देने से उसका मालिक उसे पुनः घर ले जा सकता है। यदि ऋण चुका दिया गया हो तो दीक्षित कर सकते हैं, यह आपवादिक नियम है।

12. **दुष्ट** – जो दुष्ट स्वभाव वाला हो। दुष्ट दो प्रकार के कहे गये हैं – 1. **कषायदुष्ट** – उत्कृष्ट कषाय वाला और 2. **विषयदुष्ट** – परस्त्री आदि में अत्यन्त आसक्त।

दोष – दुष्ट व्यक्ति के अध्यवसाय अत्यन्त संक्लिष्ट होने के कारण वह विशुद्ध रूप से चारित्र का पालन नहीं कर सकता।

13. **मूढ़** – जो मोहवश या अज्ञानवश वस्तु के यथार्थज्ञान से शून्य हो।

दोष – मूढ़ आत्मा उपयोग शून्य होने से चारित्र की सम्यक् आराधना नहीं कर सकता है अतः अयोग्य कहा गया है।

14. **जुंगित** – जाति आदि से हीन व्यक्ति। जुंगित के चार प्रकार बताये गए हैं —

1. **जातिजुंगित** – अस्पृश्य जाति में उत्पन्न व्यक्ति; जैसे - जुलाहा, पाण (गाँव के बाहर खुले आकाश में रहने वाले), डोब (गायक), वरूद्र (चटाई बनाने वाले) आदि जुगुप्सित जातियाँ।

2. **कर्मजुंगित** – निन्दित कर्म करने वाले; जैसे - स्त्री, मोर, मुर्गा, तोता आदि को पालने वाले, नाई, धोबी, जादूगर, नट लंख (बांस पर चढ़कर खेल दिखाने वाले), शिकारी, कसाई, मच्छीमार आदि।

3. **शिल्पजुंगित** – चर्मकार, नापित, रजक, कौशेयक (रेशमी वस्त्र बनाने वाला) आदि।

4. **शरीरजुंगित** – हाथ, पैर, कान, नाक, होठ से रहित, वामन, कुब्ज, पंगु, हाथ से विकल, एकाक्ष (काना) आदि शरीर से अपंग व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य हैं।

दोष – जुंगित व्यक्तियों को दीक्षा देने से लोकनिन्दा होती है।

15. **अवबद्धक** – जो व्यक्ति धन या विद्या के निमित्त किसी के द्वारा बंधा हुआ हो, वह दीक्षा के लिए अयोग्य होता है।

दोष – अवबद्धक व्यक्ति को दीक्षा देने पर उसका मालिक साधु से कलह कर सकता है और पुनः घर ले जा सकता है।

16. **भृत्य** – जो वेतन लेकर किसी धनिक के घर काम कर रहा हो।

दोष – कर्मचारी को दीक्षा देने पर मुनिजन, मालिक की अप्रीति का कारण बनते हैं।

17. **ऋणार्त्त** – जो कर्जदार हो।

दोष – कर्जदार को दीक्षा देने से कर्ज दाता राजा आदि उसे वापस ले जा सकते हैं तथा उसकी और दीक्षा दाता की ताड़ना-तर्जना कर सकते हैं।

18. **शैक्षनिस्फेटिका** – माता-पिता की आज्ञा के बिना, अपहरण करके दीक्षा देना अयोग्य है।

दोष – बालक को अपहृत कर दीक्षा देने से माता-पिता अचानक पुत्र वियोग के कारण आर्त्तध्यान द्वारा कर्म-बन्धन कर सकते हैं। साधु को अदत्तादान का दोष लगता है।

दीक्षा अयोग्य नारी

दीक्षा के अयोग्य पुरुषों के जो अठारह भेद कहे गये हैं वे स्त्रियों के भी समझने चाहिए। उनमें गर्भिणी और बालवत्सा ये दो भेद और मिलाने से दीक्षा के अयोग्य स्त्रियों के कुल बीस भेद होते हैं।[24]

19. **गर्भिणी** – जो नारी गर्भवती हो, 20. **सबालवत्सा** – जिसका बालक स्तन-पान करने वाला हो।

दीक्षा अयोग्य नपुंसक

दस प्रकार के नपुंसक दीक्षा अयोग्य बतलाये गये हैं। ये नपुंसक संक्लिष्ट चित्तवाले और नगर दाह के समान तीव्र भोग की लालसा रखने वाले होने से इन्हें दीक्षा देने का निषेध किया गया है। नपुंसक के दस भेद निम्न हैं[25] –

1. पण्डक – इस नपुंसक भेद के छः प्रकार कहे गये हैं – 1. आकृति से पुरुष होते हुए भी नारी की तरह चेष्टा करने वाला हो। जैसे– भयभीत की तरह चलना, मन्द-गति से चलना, कमर पर हाथ रखना, केश बाँधना, पुरुषों के बीच आशंकित और स्त्रियों के बीच निर्भय रहना आदि। 2. जिसका शब्द, शारीरिक वर्ण, गन्ध और रस स्त्री एवं पुरुष के शब्दादि की अपेक्षा विलक्षण हो। 3. जिसका पुरुष चिह्न अति स्थूल हो। 4. जिसका स्वर स्त्री की तरह कोमल

हो। 5. जिसका पेशाब शब्दयुक्त एवं झाग रहित हो।

2. **वातिक** – मुकुलित लिंग वाला अर्थात जिसका पुरुष चिह्न स्त्री संयोग के बिना सहज न हो सके, वह वातिक कहलाता है।

3. **क्लीब** – असमर्थ, अशक्त अथवा स्त्री को देखते ही जिसका वीर्य स्खलित हो जाये वह क्लीब कहलाता है। इसके चार प्रकार कहे गए हैं –

1. **दृष्टिक्लीब** – निर्वस्त्र स्त्री-पुरुष को देखकर क्षुब्ध होने वाला। 2. **शब्दक्लीब** – स्त्री का शब्द सुनकर क्षुब्ध होने वाला। 3. **आश्लिष्टक्लीब**– स्त्री द्वारा बलात आलिंगन करने पर व्रत पालन में असमर्थ हो। 4. **निमन्त्रणक्लीब**– स्त्री द्वारा भोग की याचना करने पर शिथिल होने वाला।

4. **कुम्भी** – जिसका पुरुष चिह्न मोह-वासना की उत्कृष्टता के कारण कुम्भ की तरह 'उच्छून' हो अथवा जिसके अण्डकोष वीर्य पतन के समय कुम्भी के समान अतिस्थूल हों, वह दीक्षा के अयोग्य कहा गया है।

5. **ईर्ष्यालु** – जो कामित स्त्रियों के द्वारा पर-पुरुष के साथ आलाप एवं दर्शन मात्र से ही ईर्ष्या करने वाला हो।

6. **शकुनि** – पक्षियों की तरह बार-बार मैथुन सेवन करने वाला हो।

7. **तत्कर्मसेवा** – जो पुरुषोचित समस्त प्रकार के व्यापारिक कार्यों को छोड़कर केवल स्त्री सम्भोग में रत रहता हो और भोजन आदि सभी स्थितियों में सम्भोग की कामना करता हो।

8. **पाक्षिक अपाक्षिक** – जो शुक्लपक्ष में अधिक कामोत्तेजना वाला एवं कृष्णपक्ष में अल्प कामोत्तेजना वाला हो।

9. **सौगन्धिक** – जो पुरुष चिह्न को सुगन्धित मानकर हमेशा सूंघता हो।

10. **आसक्त** – जो वीर्यपात के पश्चात भी स्त्री के शरीर का आलिंगन करने वाला हो।

पूर्वोक्त 10 प्रकार के नपुंसक नगर के महादाह के समान तीव्र कामोत्तेजना वाले तथा संक्लिष्ट चित्त वाले होने से दीक्षा के लिए अयोग्य हैं।

जैनागमों में नपुंसक के सोलह प्रकार निर्दिष्ट हैं उनमें दीक्षा के लिए दस अयोग्य और शेष छह भेद दीक्षा योग्य बतलाए गए हैं, जो निम्न हैं–

दीक्षा योग्य नपुंसक

1. **वर्द्धितक** – जिस व्यक्ति का पुरुषचिह्न अन्तःपुर की रक्षा के लिए

बचपन में ही छेदकर या गलाकर उसे नपुंसक बना दिया हो।

2. **चिप्पित** – जिसका पुरुष चिह्न जन्मत: मर्दित कर विगलित कर दिया गया हो।

3-4. **मन्त्र औषधि उपहत** – जो मन्त्र या औषधि के प्रभाव से स्त्रीवेद या पुरुषवेद नष्ट हो जाने के कारण नपुंसक बन गया हो।

5. **ऋषिशाप** – जो ऋषि आदि के शाप से नपुंसक बना हो।

6. **देवशाप** – जो देव के शाप से नपुंसक बना हो।

इन छ: प्रकार के नपुंसकों में यदि दीक्षा की अन्य योग्यताएँ हों तो इन्हें दीक्षा दी जा सकती है।[26]

नपुंसक को दीक्षा क्यों नहीं ?

यह आगमिक प्रश्न है। एक शिष्य ने पूछा – जिस प्रकार ध्यान, उपवास, नियम आदि में स्थित स्त्री और पुरुष के वेद का उदय रहता है उसी प्रकार नपुंसक के भी वेदोदय रहता है फिर नपुंसक को प्रव्रजित करने में क्या दोष है? इसका समाधान करते हुए निशीथ भाष्यकार ने कहा है कि स्त्री और पुरुष प्रव्रजित होकर निर्दोष स्थानों में रहते हैं नपुंसक यदि स्त्रियों या पुरुषों के साथ रहता है तो संवास, स्पर्श और दृष्टिजनित दोषों की सम्भावना रहती है। जैसे माता को देखकर बालक को स्तनाभिलाषा होती है, एक व्यक्ति को आम खाते हुए देखकर दूसरे के मुँह में पानी आ जाता है, वैसे ही नपुंसक को देखकर स्त्री और पुरुष के प्रबल वेदोदय हो सकता है, अत: नपुंसक को दीक्षा हेतु निषिद्ध माना है।[27]

दीक्षा अयोग्य विकलांग

जैन परम्परा में निम्न विकलांग व्यक्तियों के लिए भी दीक्षा का निषेध किया गया है –

जो हाथ, पाँव, कान, नाक आदि से रहित हो तथा हाथ, पैर आदि अंग अपेक्षाकृत छोटे हों।

वडभ – आगे या पीछे से जिसका शरीर निकला हुआ हो,

कुब्ज – पसली से हीन हो या कुबड़ निकली हुई हो,

पंगु – पाँव आदि से अपंग होने के कारण चल नहीं सकता हो,

लूला – जिसका हाथ आधा हो या कटा हुआ हो,

काना - एक चक्षु वाला हो,

इन व्यक्तियों को दीक्षा देने पर लोकनिन्दा, तिरस्कार आदि हानियाँ होती हैं।

यह उल्लेखनीय है कि दीक्षा देने के बाद यदि कोई विकलांग हो जाता है तो उसे आचार्य पद नहीं दिया जा सकता। यदि आचार्य स्वयं विकलांग हो जाता है तो वह योग्यता सम्पन्न शिष्य को अपने पद पर प्रतिष्ठापित करें और स्वयं को चुराये गये महिष की तरह गुप्त स्थान में साधनारत रखें।[28]

दिगम्बराचार्यों ने मुनि दीक्षा को 'जिनलिंगधारण' इस नाम से भी सम्बोधित किया है तथा मोरपिच्छी, कमण्डलु आदि को जिनमुद्रा कहा है। पं. आशाधरजी के अनुसार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उत्तम देश, उत्तम वंश और उत्तम जाति में उत्पन्न हुआ हो, निष्कलंक हो, ब्रह्महत्या आदि का अपराधी नहीं हो तथा व्रत पालन में समर्थ हो उसे ही जिन मुद्रा प्रदान करना चाहिए। वही साधु पद के योग्य है।[29]

आचार्य जिनसेन ने पूर्वमत का अनुसरण करते हुए कहा है कि जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और व्यवहार प्रशंसनीय है, ऐसा व्यक्ति ही दीक्षा ग्रहण के योग्य होता है।[30] इससे सिद्ध होता है कि जिसका मातृकुल और पितृकुल शुद्ध हो वही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दीक्षा का यथार्थ अधिकारी है, केवल जन्मत: ब्राह्मण आदि होने से दीक्षा योग्य नहीं होता। महापुराण में कहा गया है कि जाति, गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यान के कारण हैं अत: जो उच्च जाति आदि से युक्त होते हैं वे ही यथार्थ रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, शेष सभी शूद्र हैं।[31]

बौद्ध-परम्परा के विनयपिटक में प्रव्रज्या हेतु 31 व्यक्ति अयोग्य बताये गये हैं। इस आधार पर प्रव्रज्या योग्य व्यक्ति का भी निर्धारण किया जा सकता है।

1. जो कर हीन हो, 2. पैरहीन हो, 3. हाथ और पैर दोनों से हीन हो, 4. कर्ण हीन हो, 5. नासिका रहित हो, 6. नासिका और कर्ण दोनों से रहित हो, 7. अंगुली रहित हो, 8. अंगुलियों का अग्रभाग कटा हुआ हो, 9. अंगुलियों के पर्वभाग विक्षत हो, 10. सभी अंगुलियों से रहित हो, 11. कुबड़ा हो, 12. बौना हो, 13. घेघा रोग से ग्रसित हो, 14. लक्षणाहत यानि जिसे दण्ड रूप में आग से दागा गया हो, 15. कोड़ों से आहत हो,

16. लिखितक हो, 17. सीपदि रोग से ग्रसित हो, 18. तीक्ष्ण रोग से ग्रस्त हो, 19. परिषद् दूषक हो, 20. काना अर्थात एक चक्षु से हीन हो, 21. लूला हो, 22. लंगड़ा हो, 23. पक्षाघात करता हो, 24. असभ्य हो, 25. वृद्धावस्था के कारण निर्बल हो, 26. नेत्रहीन हो, 27. गूंगा हो, 28. बहरा हो, 29. नेत्रहीन और वचनहीन हो, 30. नेत्रहीन और बहरा हो, 31. गूंगा और बहरा हो।

इन 31 दूषणों से रहित सर्वाङ्ग शरीर वाला दीक्षा के पूर्ण योग्य होता है।[32]

समाहार रूप में यह कहा जा सकता है कि जैन एवं बौद्धधर्म में साधना मार्ग पर आरूढ़ होने वाले व्यक्तियों में कुछ आवश्यक योग्यताएँ होना अत्यन्त जरूरी है। संन्यास पथ को अंगीकार करने वाला व्यक्ति स्वस्थ, निरोग,परिपक्व बुद्धिवाला, विवेकशील, निर्भीक, सदाचारी, पापमुक्त, निर्व्यसनी, उच्चकुलीन इत्यादि गुणों से भी संयुक्त होना चाहिए। अयोग्य को दीक्षा देने से जिनाज्ञा का उल्लंघन, जिनशासन की अवहेलना एवं धर्म प्रभावना की हानि होती है।

प्रव्रज्या ग्रहण के विभिन्न कारण

आगार से अनगार धर्म को स्वीकार करना प्रव्रज्या है। प्रव्रज्या ग्रहण के मुख्य दो हेतु बताये गये हैं – 1. कोई व्यक्ति तीर्थङ्कर, गणधर, गुरु भगवन्त आदि की धर्मदेशना सुनकर प्रव्रजित होता है और 2. कोई जातिस्मरण ज्ञान या स्वयं संबुद्ध होकर प्रव्रज्या स्वीकार करता है। ये दोनों प्रव्रज्या धारण के मुख्य हेतु हैं।

जैनागमों में वैराग्योत्पत्ति के अन्य कारण भी निर्दिष्ट हैं। स्थानांगसूत्र में वैराग्योत्पत्ति के दस कारण बताये गये हैं।[33] आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में प्रव्रज्या लेने के निम्न दस कारणों का उल्लेख किया है[34] –

1. छन्दा – अपनी या दूसरों की इच्छा से ली जाने वाली प्रव्रज्या जैसे– सुन्दरी ने अपनी इच्छा से और भवदत्त ने भ्राता की इच्छा से प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

2. रोषा – क्रोध के वशीभूत होकर ली जाने वाली प्रव्रज्या, जैसे– शिवभूति ने माता द्वारा उपालम्भ दिये जाने पर प्रव्रज्या धारण की।

3. परिद्यूना – दरिद्रता के कारण ली जाने वाली दीक्षा, जैसे– लकड़हारे ने क्षुधार्त्त होकर सुधर्मास्वामी के पास एवं एक भिखारी ने सुहस्तिसूरि के पास दीक्षा अंगीकार की थी, जो परवर्ती भव में राजा सम्प्रति के नाम से विख्यात हुआ।

4. **स्वप्ना** – विशेष प्रकार का स्वप्न आने पर ली जाने वाली दीक्षा, जैसे – पुष्पचूला स्वप्न में नरक की दारुण वेदना देखकर विरक्त हुई और आचार्य अर्णिकापुत्र के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण की।

5. **प्रतिश्रुता** – पहले की गयी प्रतिज्ञा के कारण या आवेश में आकर ली जाने वाली दीक्षा, जैसे– शालिभद्र के जीजाजी धन्ना सेठ ने आवेश में आकर दीक्षा स्वीकार की।

6. **स्मारणिका** – जन्मान्तरों की स्मृति होने पर या किसी के द्वारा कुछ कहने या कोई दृश्य देखने से ली जाने वाली दीक्षा, जैसे– मल्लिकुमारी द्वारा पूर्वभव का स्मरण करवाने पर प्रतिबुद्ध हो छह राजकुमारों ने दीक्षा धारण की।

7. **रोगिणिका** – रोग का निमित्त मिलने पर या रोग के कारण संसार से विरक्ति हो जाने पर ली जाने वाली प्रव्रज्या, जैसे – सनत्कुमार चक्रवर्ती ने अचानक रोगग्रसित हो जाने के कारण अथवा नमिराजर्षि ने बीमारी में एकत्व भावना का चिन्तन करते हुए दीक्षा धारण की।

8. **अनादृता** – किसी के द्वारा अपमानित होने पर ली जाने वाली दीक्षा, जैसे– नन्दिषेण ने अन्य द्वारा तिरस्कृत होकर दीक्षा ली।

9. **देवसंज्ञप्ति** – देव के द्वारा प्रतिबुद्ध होकर ली जाने वाली दीक्षा, जैसे - चाण्डालिनी के पुत्र मेतार्य ने पूर्वभव के मित्रदेव की प्रेरणा पाकर दीक्षा अंगीकार की।

10. **वत्सानुबन्धिका** – दीक्षित होते हुए पुत्र के निमित्त से ली जाने वाली दीक्षा, जैसे– वज्रस्वामी की माता सुनन्दा ने पुत्र स्नेह के कारण दीक्षा ग्रहण की।

इनके अतिरिक्त स्थानांगसूत्र में अन्य कारणों से भी प्रव्रज्या ग्रहण करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे निम्न हैं[35]—

1. **इहलोक प्रतिबद्धा** – इहलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

2. **परलोक प्रतिबद्धा** – पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

3. **उभयतः प्रतिबद्धा** – दोनों लोकों के सुखों की प्राप्ति के लिए ली जाने वाली दीक्षा।

प्रव्रज्या अंगीकार के तीन प्रकार निम्नोक्त भी हैं[36]–

1. **पुरतः प्रतिबद्धा** – दीक्षा लेने पर मेरे शिष्यादि होंगे, इस अभिलाषा से ली जाने वाली दीक्षा।

2. **पृष्ठतः प्रतिबद्धा** – स्वजन आदि से स्नेह का विच्छेद न हो, इस भावना से ली जाने वाली दीक्षा।

3. **उभयतः प्रतिबद्धा** – उक्त दोनों कारणों से ली जाने वाली दीक्षा।

प्रकारान्तर से निम्न तीन प्रकार भी बताये गये हैं[37]–

1. **तोदयित्वा** – कष्ट देकर ली जाने वाली प्रव्रज्या।
2. **प्लावयित्वा** – दूसरे स्थान पर ली जाने वाली प्रव्रज्या।
3. **वाचयित्वा** – बातचीत करके ली जाने वाली प्रव्रज्या।

स्थानांग टीका में तोदयित्वा प्रव्रज्या के लिए सागरचन्द्र का, प्लावयित्वा दीक्षा के लिए आर्यरक्षित का और वाचयित्वा दीक्षा के लिए एक किसान का उल्लेख किया गया है।

प्रव्रज्या के तीन प्रकार निम्न भी हैं[38]–

1. **अवपात प्रव्रज्या** – गुरु सेवा से प्राप्त होने वाली प्रव्रज्या।
2. **आख्यात प्रव्रज्या** – उपदेश के द्वारा प्राप्त होने वाली प्रव्रज्या।
3. **संगार प्रव्रज्या** – परस्पर प्रतिज्ञाबद्ध होकर ली जाने वाली प्रव्रज्या।

बाल दीक्षा की प्रासंगिकता कितनी और क्यों ?

• दीक्षा शास्त्रीय सम्मत कैसे?

वर्तमान युग का एक ज्वलन्त प्रश्न है कि अल्पवयस्क बालक-बालिका को दीक्षा देना कहाँ तक उचित है ? इस प्रश्न को लेकर यदि हम जैन इतिहास का अवलोकन करते हैं तो पाते हैं कि जैन आगम ग्रन्थों में बाल दीक्षा के कई उल्लेख हैं। भगवतीसूत्र के अनुसार अतिमुक्त कुमार ने छः वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की थी।[39] गजसुकुमाल मुनि भी लघु वय के थे। उन्होंने युवावस्था में प्रवेश करने से पूर्व ही संयम पथ को अपना लिया था।[40] चतुर्दशपूर्वधर आचार्य शय्यंभव ने पुत्र मनक को और आर्य सिंहगिरि ने वज्रस्वामी को अति लघुवय में दीक्षा प्रदान की थी।

* अनन्त लब्धि निधान गौतमस्वामी ने अतिमुक्त को प्रतिबोधित कर अल्पवय में ही दीक्षा की योग्यता का आकलन किया।

* प्रभु महावीर के ग्यारहवें प्रभास गणधर ने 15 वर्ष की अल्पायु में दीक्षा ग्रहण कर चौदह पूर्वों का ज्ञान अर्जित किया और बारह अंग सूत्रों की रचना की।

* कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने सात वर्ष की उम्र में चारित्र अंगीकार कर जैन धर्म की महती प्रभावना की।

* द्वितीय दादा गुरुदेव के नाम से विख्यात मणिधारी जिनचन्द्रसूरि ने छह वर्ष की उम्र में दीक्षा धारण कर नौ वर्ष की अल्पायु में आचार्य पद तथा तेरह वर्ष की आयु में युगप्रधान पद से विभूषित बन गये। इसी के साथ अपने ज्ञानबल, तपोबल एवं संयमबल से जिन धर्म को दिग् दिगन्त में प्रसरित किया।

* न्यायाचार्य यशोविजयजी ने अल्पवय में चारित्र अंगीकार कर अमूल्य साहित्य के सर्जन द्वारा जिनशासन को अमर कर दिया । यदि उस काल में राजाओं ने बाल दीक्षा पर प्रतिबन्ध किया होता तो इस विश्व को ये सभी विभूतियाँ कैसे मिल पाती ?

* वैदिक धर्म का समग्र संसार में प्रचार-प्रसार करने वाले शंकराचार्य ने भी आठ वर्ष की उम्र में गृह त्यागकर संन्यास जीवन धारण कर लिया था।

* स्वामीनारायण सम्प्रदाय के संस्थापक सहजानन्द स्वामी ने भी छः वर्ष की अल्पायु में संन्यास मार्ग को अपना लिया था।

वर्तमान युग में भी कई साधु-साध्वी सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह आदि वर्ष की अल्प आयु में दीक्षित होकर आत्म कल्याण एवं शासन कार्यों में संलग्न है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि यदि बाल दीक्षाएँ न होती तो पूर्वोल्लिखित सन्तों के नाम इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित नहीं होते।

भारतीय संस्कृति में धर्म पालन के लिए कहीं भी अवरोधक नियम नहीं हैं। ख्रिस्ती धर्म में 15 वर्ष की युवती साध्वी (Nun) बन सकती है तो जैन धर्म में *15 वर्ष की युवती दीक्षित जीवन क्यों नहीं अंगीकार कर सकती ? दीक्षा की* क्रिया हिन्दू-परम्परा की जनेऊ धारण की क्रिया के समान है जिस पर किसी तरह का प्रतिबन्ध नहीं हो सकता।

• बाल दीक्षा के सम्बन्ध में पूर्व और उत्तरपक्ष

बाल दीक्षा वर्तमान भौतिक जगत और अध्यात्म जगत के बीच एक विवादास्पद मुद्दा बन गया है। आज मानवाधिकार समिति, बालहित रक्षक समिति (Child Welfare Committee) UNO आदि के द्वारा इसका विशेष

विरोध किया जा रहा है, परन्तु यह विरोध करने से पूर्व उन्हें परिस्थिति का पूर्ण ज्ञान कर लेना चाहिए, जो उनके पास नहीं है।

उनका तर्क है कि बाल दीक्षा बालकों के अधिकारों एवं उनकी स्वतन्त्रता आदि का हनन है। बाहरी रूप से यह बात सत्य भी प्रतीत होती है, क्योंकि बाल स्वाभाविक जो क्रियाएँ एवं चेष्टाएँ हैं वे मुनि जीवन धारण करने पर सर्वथा परिवर्तित हो जाती है। दीक्षित जीवन की अपनी मर्यादाएँ हैं, जिनका पालन बाल, युवा, वृद्ध सभी करते हैं।

परन्तु यह तर्क मात्र जानकारी के अभाव एवं एक पक्षीय भौतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न होता है। जिसे नीम एवं करेले के गुण नहीं पता उनके लिए वह एक अत्यन्त कड़वी चीज है जो कि सत्य है, परन्तु अर्धसत्य। इसी प्रकार जो आध्यात्मिक धरातल पर बाल दीक्षा का आंकलन नहीं करते उन्हें यह शारीरिक यातना रूप नजर आता है।

यदि आज के भौतिक स्पर्धामय जगत पर नजर दौड़ाएँ तो हमें ज्ञात होगा कि बच्चे के गर्भ में आते ही उसके परवरिश-सम्बन्धी चिन्ताएँ शुरू हो जाती हैं। कई स्कूलों में गर्भस्थ बच्चों के प्रवेश भी शुरू हो जाते हैं और दो-ढाई साल के बालकों को आठ-आठ घण्टे स्कूलों में भेज दिया जाता है, यह उन बालकों के बचपन का हनन नहीं है? पाश्चात्य संस्कृति की नकल में हम अपनी अकल बेचे जा रहे हैं।

आज छोटी सी उम्र में बच्चों को Computer, Dance, Music, Sports, Competative Exams. आदि सभी के लिए तैयार करने का प्रयास किया जाता है उनकी जिन्दगी यन्त्रवत बना दी गयी है, यह उन बच्चों के साथ अन्याय नहीं है ? जब यह कष्ट भविष्य के प्रगति एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक जीवन में सहयोगी होने से स्वीकार्य है तो फिर मुनि जीवन में विहार, गोचरी, लोच, अध्ययन आदि जो क्रियाएँ हैं जिसमें शारीरिक कष्ट अवश्य है, परन्तु मानसिक शान्ति है, उसका विरोध क्यों ?

एक तर्क जो मानवाधिकार आयोग (Human Rights Commission) देती है कि बाल दीक्षा के कारण बच्चों को अपने माता-पिता परिवार से जबरन अलग किया जाता है जो कि उनके विकास में बाधक बनता है तथा माता-पिता के स्नेह एवं प्रेम से वंचित रखता है।

आज जो कान्वेण्ट (Convent), बोर्डिंग (Boarding), Hostel, Abroad education आदि का प्रचलन है वह क्या है ? बच्चे साल-साल भर पारिवारिक माहौल, संस्कार, समाज सभी से अलग हो जाते हैं। Abroad education की चाह में वर्षों तक अपनी मातृभूमि से दूर रहते हैं, उसके लिए किसको सजा दी जाए ? जो बच्चे बाल दीक्षा ग्रहण करते हैं, वहाँ उनका ध्यान रखने के लिए समाज एवं ज्येष्ठ गुरुजन होते हैं। जिनके द्वारा संस्कारों का आरोपण होता है तथा भारतीय संस्कृति का पोषण होता है। कम से कम वे बालक पाश्चात्य संस्कृति की अन्धी दौड़ का हिस्सा नहीं बनते।

कुछ लोगों का तर्क है कि आठ साल के बालक में संसार को समझने की पर्याप्त समझ एवं अनुभव नहीं होता, ऐसे में उन्हें दीक्षा देना उनके साथ विश्वासघात एवं उन्हें अंधेरे में रखना है। यह बात सही है कि आठ वर्ष के बालक को न संसार का पूर्ण ज्ञान होता है और ना ही संयमी जीवन की महत्ता की समझ, परन्तु आठ वर्ष के बालक का मस्तिष्क इतना तीक्ष्ण (Sharp) तो हो ही जाता है कि वह अपना हित-अहित समझ सके। फिर आज की T.V., Media, Internet ने बालकों को इसे संसार का हर प्रकार का स्वरूप भी दिखला दिया है, ऐसे में यदि वह अपनी समझ एवं संस्कारपूर्वक दीक्षा लेते हैं तो उसमें कुछ गलत नहीं है। जब हम व्यापार (Business), शिक्षा, कला, आदि किसी भी क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो उसका ज्ञान अनुभव के साथ बढ़ता जाता है। वैसे ही संयमी जीवन स्वीकार करने से पूर्व मुमुक्षु जीवन में एवं तदनन्तर संयमी जीवन में वह परिपक्व होता जाता है पर इसका अर्थ विश्वासघात या ठगाई कदापि नहीं है और यदि यह विश्वासघात है तो कोई भी नया कार्य सीखना या नये क्षेत्र में प्रवेश करना विश्वासघात होगा।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि वह बालक-बालिका जो दीक्षा अंगीकार करते हैं वे सांसारिक सुखों का आस्वाद ही नहीं ले पाते तो फिर उनका त्याग अधूरा त्याग है। इसी के साथ उनके पुनः संसार में जाने की सम्भावनाएँ भी अधिक बढ़ जाती हैं।

यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया जाए तो बाल मन यह कोरे कागज की भांति होता है उस पर जो लिख दिया जाए या जिन संस्कारों को सिंचित किया जाए वे चिरस्थायी होते हैं तथा आजीवन बने रहते हैं। आज भी हम देखते हैं कि प्रतिभा सम्पन्न अधिक साधु-साध्वी बाल दीक्षित हैं। रही उनके

पुनः संसार में जाने की बात तो ऐसे बहुत कम होता है कि बाल दीक्षित मुनि पुनः गृहस्थ बने हों, किसी के साथ कर्म संयोगवश ऐसा हो भी जाए तो इसके कारण बाल दीक्षा को गलत नहीं कह सकते। आज व्यापार में रोज गड़बड़ घोटालों की दर बढ़ती जा रही है तो क्या हमने व्यापार करना छोड़ दिया या फिर कदाचित Operation में Doctor द्वारा रोगी की मृत्यु हो जाए तो हमने डॉक्टरों के पास जाना छोड़ दिया है, नहीं न! तो फिर सिर्फ धार्मिक क्षेत्र में हमारी मानसिकता संकुचित क्यों हो जाती है?

कुछैक बालदीक्षा का विरोध करते हुए यह तर्क देते हैं कि दीक्षा जीवन में बालक को दुःख दिया जाता है। गोचरी, केशलुंचन, विहार, अस्नान, श्वेत वस्त्र धारण, खेलना-कूदना नहीं इत्यादि नियमों को दुःख रूप बताते हैं। किन्तु जिस आत्मा को जो रुचिकर होता है वह उसके लिए कष्टदायी नहीं होता। धार्मिक क्रियाकलाप- तपस्या- परीषह आदि द्वारा होने वाले कष्ट स्वेच्छापूर्वक सहन किये जाते हैं इसलिए वे दुःखप्रद नहीं है। जैसे वैदिक धर्म में उपनयन संस्कार करते हुए बालक के कान- नाक बींधे जाते हैं वे कष्ट रूप नहीं गिने जाते वैसे ही दीक्षा स्वीकार जैन धर्म की प्रस्थापित क्रिया है। दीक्षार्थी स्वयं समझपूर्वक यह जीवन अंगीकृत करता है।

आहारचर्या करना भीख मांगना नहीं है। भीख में विकृति है, तिरस्कार है जबकि भिक्षा संस्कृति है, भिक्षा में सम्मानपूर्वक दिया जाता है। याचक दया मांगता है भिक्षु दया प्रदान करता है, धर्मलाभ कहता है। मुनि की भिक्षाचर्या में किसी तरह की दीनता नहीं होती। गहराई से विचार करे तो जैन दीक्षा में अल्पवयी बालक गोचरचर्या हेतु जाते ही नहीं है वरिष्ठ साधु ही आहार-पानी की गवेषणा करते हैं।

जहाँ तक बालक या बालिका दीक्षा का प्रश्न है वहाँ हर एक के लिए इस तरह का प्रसंग नहीं बनता है। उन बालक-बालिकाओं को ही दीक्षानुमति या दीक्षा प्रदान की जाती है जो दो बातों के लिए तत्पर हो 1. माता-पिता एवं स्वजन के बिना रह सकता हो। 2. गुर्वाज्ञा पालन में तत्पर हो। इन दो परीक्षा में सफल होने वाले बालक को ही लघुवय में दीक्षा दी जाती है।

बालक की परीक्षा लेने का प्रयोजन यह है कि उसका समग्र संसार माता-पिता में समाविष्ट होता है। युवक का समग्र संसार पत्नी में निहित होता है। वृद्ध

का समग्र संसार पुत्र-पुत्री में अन्तर्निहित होता है। युवक पत्नी का त्याग कर दीक्षा ग्रहण करे तथा वृद्ध पुत्र-पुत्रियों का परित्याग कर संयम स्वीकार करे तो उनके वैराग्य को गलत नहीं कहा जा सकता ठीक वैसे ही माता-पिता का मोह बन्धन को छोड़ दीक्षा ग्रहण करने वाले बालक के वैराग्य को असिद्ध कैसे किया जा सकता है ?

कुछ कुतर्की साधुओं पर यह आक्षेप देते हैं कि वे बालकों को प्रेरणा देकर वैराग्य के भाव जगाते हैं तो उनसे कहना यह है कि दीक्षा के लिए प्रेरित या संस्कारित करने में दोष क्या है ? मुनिजन तो युवा और वृद्ध को भी इस कार्य के लिए हर तरह से प्रतिबोधित करते रहते हैं। एक बालक क्रिकेट के बारे में कुछ नहीं जानता है उपरान्त उसे गोद में बिठाकर उससे तालियाँ बजवाते हैं, उसके बारे में समझाने का प्रयास करते हैं तब उस पाप कार्य से बचाकर आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करना अनुचित है?[41]

कुछ धर्मविमुख यह युक्ति देते हैं कि बाल्यकाल में संयम मार्ग पर आरूढ़ होने वाले माता-पिता का संग छूट जाने से अनाथ हो जाते हैं उन्हें ध्यान देना चाहिए कि जैन धर्म की आचारसंहिता के अनुसार माता-पिता और दीक्षार्थी की अनुमति के बाद ही दीक्षा दान किया जाता है तब वह बाल मुमुक्षु अनाथ, छोड़ा हुआ या सामान्य कैसे माना जा सकता है ? दीक्षा एक माता-पिता को छोड़कर दूसरे माता-पिता को स्वीकार करने की क्रिया है। जैसे दत्तक बालक नये माता-पिता की छत्र-छाया में अनाथ या परित्यक्त नहीं कहा जाता वैसे ही नवदीक्षित बाल साधु-साध्वी भी अनाथ या त्यक्त नहीं कहे जाते। गुरु के साथ बाल साधु का सम्बन्ध पिता-पुत्र सरीखा और गुरु भाइयों के साथ भातृ सरीखा होता है।

कुछ बालदीक्षा के प्रतिपक्षी यह कहते हैं कि 'जैन दीक्षा श्रेष्ठतम है' किन्तु छोटी उम्र में दीक्षा संस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह दुनियादारी से सर्वथा अनभिज्ञ होता है ? यहाँ प्रश्न के जवाब में प्रतिप्रश्न यह होता है कि जब दीक्षा कर्म सत्कर्म है तो उस सत्कर्म में प्रवृत्त होने के लिए शीघ्रता करनी चाहिए अथवा विलम्ब ? दूसरी बात, दीक्षा धर्म श्रेष्ठ धर्म है तो अन्य आत्माओं की तरह बालक को उसका लाभ कैसे नहीं प्राप्त होगा ? स्पष्टार्थ है कि अच्छी वस्तु जिसे जितनी शीघ्र प्राप्त हो, उसको उस वस्तु का अधिक लाभ मिलता है। इस तरह बाल दीक्षा सयुक्ति सिद्ध होती है।

बालदीक्षा के विपक्षी लोग यदि यह प्रश्न उपस्थित करें कि आठ वर्ष का

बालक इतना नहीं समझ सकता है कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है ? तो यह प्रश्न आधुनिक बुद्धिजीवियों को ही पूछना चाहिए। जब अढ़ाई वर्ष के बालक को उसके अपने कन्धों पर मजदूरी के जैसे बैग डाल नर्सरी स्कूल में भेजते हो तब यह विचार करते हो कि यह शिक्षा पद्धति बालक के लिए लाभदायी है या हानिप्रद? दुनियाँ के सभी शिक्षणशास्त्री कहते हैं ढ़ाई वर्ष के बालक को स्कूल मत भेजिये। तदुपरान्त माता-पिता रोते-चिल्लाते बालक को जबर्दस्ती भेजते हैं उस बात का कोई क्यों नहीं विरोध करते ? इसी तरह तीन वर्ष के बालक को टी.वी. और फिल्म के सामने बिठाने वाले माता-पिता विचार नहीं करते कि उसके लिए हिंसाजन्य, रागजन्य, संघर्षजन्य दृश्य कितने हानिकारक हैं?

यहाँ पुनः इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बालक को दीक्षा जीवन की विशद जानकारी न भी हों, किन्तु माँ-बाप को इस बात का ख्याल रहता है कि दीक्षित जीवन सन्तान के लिए श्रेयस्कारी है। यदि इस समझपूर्वक माता-पिता प्रिय सन्तान को आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करते हों तो अन्यों को विरोध करने का न कोई कारण दिखाई देता है और न ही किसी तरह का हक बनता है। आठ वर्ष के बालक को साधु-सामाचारी का सम्यक् बोध कैसे सम्भव है? इसके जवाब में कह सकते हैं कि जैन धर्म और समस्त आर्यधर्म मात्र इस जन्म को ही नहीं मानते हैं, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म भी स्वीकार करते हैं। यदि आठ वर्ष के बालक को बाह्य निमित्त से भी वैराग्य के भाव अंकुरित होते हैं तो वह इस बात का सूचन करता है कि यह बालक पूर्वजन्म में महान् योगी आत्मा थी, उस संस्कार के बिना बालक को संयममार्ग की इच्छा हो ही नहीं सकती। जैनाचार्य भी हर किसी बालक को जब कभी दीक्षा नहीं देते। आचार्यादि बालक के संस्कार, आचार-विचार, विनय, विवेकादि का परीक्षण- निरीक्षण करने के पश्चात ही दीक्षा देने का निर्णय लेते हैं।

कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि बाल्यावस्था में दीक्षित होने से कौतुक, कामग्रह आदि दोष सम्भव है जबकि यौवनावस्था को सम्प्राप्त, भुक्त भोगियों के लिए उक्त दोष सम्भव नहीं है, अतः दीक्षा के लिए यौवनवय अधिक उचित है। 1444 ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य हरिभद्रसूरि इसका सटीक उत्तर देते हुए कहते हैं कि कर्म के क्षयोपशम भाव से उत्पन्न होने वाले चारित्र परिणाम के साथ

बाल्यावस्था का विरोध असम्भव है। चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने के अनेक कारण हैं, विशिष्ट शारीरिक अवस्था ही उसका कारण नहीं है, ऐसा जिनवचन है। अत: वय और चारित्र परिणाम का पारस्परिक अविरोध होने से दीक्षा का स्वीकार किसी भी वय में किया जा सकता है।[42]

शैशवकाल, कोमलता और निर्मलता का प्रतीक माना गया है। अनाग्रह बुद्धि के कारण यह अवस्था विषय को ग्रहण करने में जितनी सहायक होती है उतनी अन्य अवस्थाएँ नहीं। बचपन में दिये गये संस्कार परछाईं की तरह साथ-साथ चलते हैं, किन्तु ढलती उम्र में दिये जाने वाले संस्कार न तो आत्मसात होते हैं और न वे चिरस्थाया पाते हैं। इसलिए दीक्षा के लिए वय नहीं, अपितु वैराग्य भाव और वैयक्तिक क्षमता को प्रमुख मानना चाहिए। यहाँ यह भी स्वीकारना होगा कि 'बचपन में ग्रहण की गयी दीक्षा अन्य वय की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है।'

जैन आगम-साहित्य में अनेक उदाहरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं कि कुछ व्यक्ति कोई निमित्त या प्रेरणा पाकर अथवा भाव विभोर होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं। आवश्यकचूर्णि में वर्णन आता है कि उज्जयिनी के राजा देविलासन्त की महारानी ने अपने पति के सिर पर एक श्वेत बाल देखकर कहा– धर्मदूत आ गया है। राजा ने उस श्वेत बाल को नगर में घुमाया और महारानी के साथ दीक्षित हो गये।[43] यह लोकप्रसिद्ध उदाहरण है कि भरत चक्रवर्ती को मुद्रिका शून्य अंगुली देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। काम्पिल्यपुर के राजा दुर्मुख इन्द्रध्वजा को गिरते हुए देखकर वैराग्यवासित बने और दीक्षा ग्रहण की। इसी तरह सूर्यास्त की लालिमा, मंडराते हुए बादल, इन्द्रधनुषी रंग आदि को देखकर भी वैराग्यवासित होने के उदाहरण इतिहास के पृष्ठों में भरे पड़े हैं।

इस प्रकार जैन आगम-साहित्य में वैराग्योत्पत्ति एवं प्रव्रज्या ग्रहण के अनेक कारण बताये गये हैं।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इन कारणों पर विचार करें तो सम्भवत: आजकल गुरु आदि का उपदेश सुनकर, स्वत: प्रतिबुद्ध होकर या अल्पवय में मृत्यु आदि का दृश्य देखकर या गुरुजनों के स्नेहाधीन होकर दीक्षा लेने के प्रसंग अधिक देखे जाते हैं।

यह ध्यातव्य है कि यदि दीक्षा दाता गुरु योग्य हो, तो मुमुक्षु के प्रव्रजित

होने के बाह्य कारण विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। वह गुरु द्वारा आसेवित चर्या का अनुसरण करता हुआ गन्तव्य लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, इसीलिए दीक्षादान का अधिकार योग्य गुरु को दिया गया है।

• बाल दीक्षा की उपादेयता

जैनागमों में बाल दीक्षा के समर्थन एवं उसकी मूल्यवत्ता के विषय में उल्लेख आता है कि **''धन्नाहु बालमुणिणो, कुमारवासंमि जे उ पव्वइआ''** अर्थात जो बाल्यवय में दीक्षित होते हैं वे बालमुनि धन्य हैं।

महोपाध्याय यशोविजयजी ने बालदीक्षा की महत्ता दर्शाते हुए उल्लिखित किया है कि जहाँ बालदीक्षा की प्रवृत्ति अखण्ड रूप से प्रवर्तित होती है वहाँ तीर्थ का विच्छेद नहीं होता। क्योंकि जो आत्माएँ बाल्यकाल से ही गुरु चरणों में समर्पित हो जाती हैं वे गुरुगम पूर्वक गीतार्थ, आगमज्ञाता एवं विशुद्ध चारित्र पालक बनती हैं तथा ऐसे महामुनियों से ही जिनशासन अखण्ड रूप से प्रवर्तित रहता है।

पंचवस्तुक आदि ग्रन्थों के अनुसार उत्सर्गत: आठ से अधिक उम्र वाले बालक को दीक्षा दी जा सकती है तथा पंचकल्पभाष्य के अनुसार अपवादत: आठ वर्ष से न्यून उम्र के बालक को भी दीक्षा दे सकते हैं। सामान्यतया बालवय में ली गई दीक्षा से जिनशासन की स्थिति दीर्घकाल तक टिकी रहती है।

बचपन एक पवित्र अवस्था है, वह समय कोरे कागज की भाँति रिक्त होता है। जिस प्रकार कोरे कागज पर मनोनुकूल अक्षर लिखे जा सकते हैं, इच्छानुसार चित्रकला प्रदर्शित की जा सकती है, यथेष्ट रंग भरे जा सकते हैं उसी प्रकार इस अवस्था में अच्छे संस्कारों का रंग चढ़ाया जा सकता है। यह ग्रहणशील अवस्था है। इस अवधि के दौरान दिए गए संस्कार यावज्जीवन के लिए स्थाई एवं उपयोगी बने रहते हैं।

पाप रहित दीक्षा के लिए भुक्तभोगियों की अपेक्षा बालवय अधिक योग्य है, क्योंकि भुक्तभोगी को पूर्वभुक्त वस्तुओं की स्मृति आदि एवं अतिशय दोष सम्भव है जबकि अभुक्तभोगी की मति बाल्यकाल से ही जिनवचन भावित होने के कारण विषयसुख की अभिलाषा, उत्सुकता आदि दोष प्राय: होते ही नहीं है।

चारित्र धर्म की प्राप्ति क्षयोपशम भाव से होती है इसलिए चारित्र के साथ बालभाव का विरोध नहीं हो सकता। कारण कि चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय और वय का कोई सम्बन्ध नहीं है।

बाल दीक्षा जैन धर्म का आधार है। चिहुं दिशा में जैनशासन का ध्वज लहराने वाले अधिकांश बालदीक्षित साधु-सन्त ही रहे हैं। बाल दीक्षा अतीत काल में प्रवर्तित थी, वर्तमान में प्रवर्तित है एवं अनागत काल में प्रवर्तित रहेगी।

सार रूप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक तीर्थङ्करों के शासन में बाल दीक्षा ली-दी जाती है। भगवान महावीर ने स्वयं ने षड्वर्षीय अतिमुक्त कुमार को दीक्षा दी थी तथा बालदीक्षा देने का विधान भी किया है।

आज से करीब 1300 वर्ष पूर्व आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचवस्तुक में बाल दीक्षा का सयुक्ति समर्थन किया है। आज से लगभग 350 वर्ष पूर्व हुए गुजरात गौरव उपाध्याय यशोविजयजी ने 'मार्गपरिशुद्धि' में बालदीक्षा को अनेक प्रमाणों से सुसिद्ध किया है।

आर्य संस्कृति का उद्घोष रहा है कि 'यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत' जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन प्रव्रजित हो जाना चाहिए। बाल दीक्षा हिन्दुस्तान की भूमि को दी गयी एक अनोखी देन है। लघुवयी बालक जितना ज्ञानार्जन कर सकता है उतना परिपक्व व्यक्ति नहीं। आचार्य हेमचन्द्र, महोपाध्याय यशोविजयजी आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

आगम-साहित्य एवं परवर्ती-साहित्य में कहीं पर भी बाल दीक्षा का निषेध नहीं है। बालकों की भाँति अनेक युवक-युवतियों ने भी दीक्षा ग्रहण की है। आगम साहित्य में उन युवक-युवतियों की उत्कृष्ट साधना का भी निरूपण है। इसी तरह वृद्ध व्यक्तियों ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की है। श्रमण भगवान महावीर ने ऋषभदत्त ब्राह्मण को प्रव्रज्या प्रदान की थी।[44] आचार्य जम्बूस्वामी द्वारा उनके पिता ऋषभदत्त को और आचार्य आर्यरक्षित द्वारा अपने पिता सोमदेव को प्रव्रज्या देने का उल्लेख मिलता है।[45]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म में वय की दृष्टि से किसी वय विशेष पर अधिक बल नहीं दिया गया है। चाहे बालक हो, चाहे युवक हो और चाहे वृद्ध हो जब वैराग्य की भावना प्रबल हो जाये, बलवती हो जाये, वह दीक्षा ग्रहण कर सकता है।

क्षयोपशम एवं पूर्व संचित पुण्योदय के आधार पर वह योग्यता आठ वर्ष के पहले भी आ सकती है और पच्चास वर्ष के बाद भी आ सकती है। सामान्य तौर पर इतना मानना आवश्यक है कि आठ वर्ष के बाद बालक की बौद्धिक

क्षमता का उत्तरोत्तर विकास होता है अतः उस उम्र में दीक्षा देने पर किसी प्रकार का विरोध नहीं किया जाना चाहिए।

प्राचीन आगमों में जो बाल-दीक्षा एवं वृद्ध-दीक्षा के उल्लेख प्राप्त होते हैं उनमें महत्त्वपूर्ण यह है कि तीर्थङ्कर पुरुषों और पूर्वधर आचार्यों ने अतिमुक्तक आदि की आन्तरिक योग्यता और भावी क्षमता को निहार कर दीक्षा दी थी। इस सम्बन्ध में शास्त्र-वचन भी मिलते हैं कि तीर्थङ्कर, चौदहपूर्वी और अतिशयधारी आचार्य बाल और वृद्ध को प्रव्रजित कर सकते हैं। अवधिज्ञानी आदि अपने प्रत्यक्षज्ञान से तथा परोक्षज्ञानी निमित्तज्ञान अथवा अतिशय श्रुतज्ञान से जान लेते हैं कि अमुक बाल या वृद्ध अमुक श्रुत के पारगामी होंगे, युगप्रधान होंगे या श्रमणसंघ के आधारभूत होंगे- यह जानकर वे बाल और वृद्ध को दीक्षित कर सकते हैं।[46] इसीलिए तो भिखारी के जीव को भी दीक्षित करने के उदाहरण मिलते हैं। आजकल इस प्रकार की घटनाएँ दुर्लभ है।

स्पष्टार्थ है कि यह अधिकार सिवाय गीतार्थ आचार्य के किसी को प्राप्त नहीं है, क्योंकि गीतार्थ आचार्य के ज्ञानबल आदि की तुलना अन्य पदस्थ मुनियों से नहीं की जा सकती है। यहाँ तक कि वर्तमान में साक्षात तीर्थङ्कर के अभाव में आचार्य की आज्ञा को तीर्थङ्कर की आज्ञा के समान मानना चाहिए, ऐसा जैनाचार्यों ने निर्देश किया है। इस प्रकार गीतार्थ आचार्य के द्वारा बाल दीक्षा दिये जाने के विषय में कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है।

सामान्यतया जैन-विचारधारा में दीक्षा लेने का अधिकार सभी को समान रूप से प्राप्त है। यह मार्ग बिना किसी वर्ण एवं जाति-भेद के सभी के लिए खुला है। महावीर के समय में निम्नतम जाति के लोगों को भी श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता था, यह बात उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीबल नामक अध्याय से स्पष्ट हो जाती है

मुनिदीक्षा के उपदेश की प्राथमिकता क्यों?

जैन ग्रन्थों में वर्णन आता है कि यदि कोई व्यक्ति धर्मश्रवण के लिए आया है, तो उसके समक्ष निर्दिष्ट क्रम से धर्मचर्चा करनी चाहिए। उसे सबसे पहले यतिधर्म (मुनिदीक्षा) का उपदेश करें। यदि वह यतिधर्म स्वीकार करने में असमर्थ हो, तो अणुव्रतधर्म (श्रावक के बारह व्रतों) का उपदेश दें। यदि श्रावकधर्म ग्रहण करने में भी असमर्थ हो, तो सम्यग्दर्शन का उपदेश देकर मद्य-

मांस से विरत होने की प्रेरणा दें। तत्पश्चात मद्य-मांस के परित्याग से होने वाला ऐहिक और पारलौकिक फल बताएं। जो इस क्रम का अतिक्रमण करता है उसे तप और काल दोनों की अपेक्षा गुरु-चतुर्गुरु का प्रायश्चित्त आता है। व्रती श्रावक के लिए यथारुचि धर्मोपदेश किया जा सकता है।

यदि सामान्य श्रोता को व्युत्क्रम से उपदेश दिया जाता है तो हानि होती है। जैसे कोई व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण के लिए तत्पर होकर मुनि के पास धर्मश्रवण के लिए आया हो और मुनि विपरीत क्रम से कथन करने लगे तो वह सोच सकता है कि जब व्यक्ति श्रावकधर्म का पालन करते हुए, कामभोग भोगते हुए भी यदि सुगति को प्राप्त कर सकता है, तो फिर कष्टसाध्य प्रव्रज्या से क्या प्रयोजन ? यदि सम्यग्दर्शन मात्र से सुगति प्राप्त हो सकती है, तो फिर व्रत बन्धन से लाभ ही क्या है ? इस प्रकार वैराग्यभाव शिथिल होने से वह प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करता, बल्कि संसार सागर में डूब जाता है। अत: जिन शासन की प्राचीन परम्परा का निर्वहन करने के लिए अव्रती व्यक्ति के समक्ष सर्वप्रथम मुनि धर्म का ही उपदेश करना चाहिए। उत्क्रमपूर्वक उपदेश करने पर आगन्तुक व्यक्ति के विशिष्ट परिणामों से गिरने की पूर्णत: सम्भावनाएँ रहती हैं। इस वर्णन से निर्विवाद सिद्ध होता है कि जैन धर्म में मुनिधर्म का सर्वाधिक महत्त्व रहा है।

विधिपूर्वक उपदेश देने से निम्न चार प्रकार के लाभ होते हैं– 1. तीर्थ की अविच्छिन्नता बनी रहती है। 2. तीर्थ को दीर्घजीवी बनाने से आत्महित होता है। 3. प्रव्रज्या प्रदान करने से पर-कल्याण होता है तथा उस व्यक्ति का संसार से समुद्धरण होता है। 4. मोक्ष-मार्ग की प्रभावना होती है। अत: मुनि धर्म प्रतिपादन को प्राथमिकता दी गयी है।[47]

दीक्षार्थी की शुभाशुभ गति जानने के उपाय

आचार्य हरिभद्रसूरिकृत पंचाशक प्रकरण के अनुसार कोई भी दीक्षार्थी, मुनि धर्म को अंगीकार करने हेतु विरचित समवसरण में प्रवेश करे, उस समय दीक्षा विधि प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी शुभाशुभ गति का निर्णय अवश्य करना चाहिए। यह निर्णय एक निश्चित विधि एवं क्रमपूर्वक किया जाता है। इसमें सर्वप्रथम दीक्षार्थी के हाथों में सुगन्धित पुष्प देकर उसकी आँखों को श्वेत वस्त्र से आवृत्त करते हैं और उसको निर्भीक होकर जिनबिम्ब पर पुष्प फेंकने हेतु कहा जाता है। इस पुष्पपात के माध्यम से वह किस गति से आया है और वह किस

गति में जायेगा? यह जानकारी प्राप्त की जाती है। यदि पुष्प समवसरण के भीतर पड़ते हैं तो दीक्षाराधना से सुगति होगी और यदि समवसरण से बाहर गिरते हैं तो उसकी दुर्गति होगी, ऐसा माना जाता है।[48]

कुछ आचार्यों के अनुसार उस समय दीक्षार्थी या किसी अन्य के द्वारा उच्चारित शुभाशुभसूचक सिद्धि, वृद्धि शब्दों के आधार पर या क्रिया करते हुए दीक्षार्थी द्वारा **'इच्छाकारेण तुब्भे अम्हं सम्मत्तसामाइयं आरोवेह'** आदि शब्दों के उच्चारण के आधार पर दीक्षार्थी की सद्गति/दुर्गति का ज्ञान किया जा सकता है। कुछ आचार्यों का कहना है कि आचार्य के मन आदि योगों की प्रवृत्ति के आधार पर शुभाशुभ गति जानी जाती है। यदि आचार्य का मन क्रोध, लोभ, मोह से व्याकुल न हो और क्रिया इत्यादि में उच्चारित वाणी स्खलन आदि दोषों से रहित हो तो दीक्षार्थी की शुभ गति होती है अन्यथा होने पर अशुभ गति होती है।

कुछ लोगों का मानना है कि दीप, चन्द्र एवं तारों के तेज अधिक हों तो दीक्षार्थी की शुभ गति होती है अन्यथा अशुभ गति। कुछ लोगों का मन्तव्य है कि दीक्षा होने के बाद दीक्षार्थी के शुभ योगों से शुभ तथा अशुभ योगों से अशुभ गति होती है।[49]

इस प्रकार दीक्षार्थी की शुभाशुभ गति जानने के अनेक उपाय प्रतिपादित हैं। हमें शुभाशुभ गति जानने का अन्तिम उपाय सर्वथोचित प्रतीत होता है।

दीक्षार्थी की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय की विधि

पंचाशकप्रकरण में यह निर्देश भी प्राप्त होता है कि शुभाशुभ गति का निर्णय करते हुए यदि पुष्पपात समवसरण के बाहरी भाग में हो तो शंका आदि अतिचारों की आलोचना और अर्हदादि चार शरणों (अरिहन्त, सिद्ध, मुनि, धर्म) को स्वीकार करने की विधि करवानी चाहिए।

तदनन्तर चक्षुयुगल पर श्वेत वस्त्र बंधे हुए की मुद्रा में पूर्ववत पुष्पपात की विधि करवानी चाहिए। उसमें पुष्प यदि समवसरण में पड़े तो दीक्षार्थी को दीक्षा योग्य समझना चाहिए। यदि समवसरण के बाहर पड़े तो पुनः शंका आदि अतिचारों की आलोचना विधि करवानी चाहिए। फिर तीसरी बार पूर्ववत ही पुष्पपात करवाना चाहिए। यदि इस बार पुष्प समवसरण में पड़े तो दीक्षा देनी चाहिए और बाहर गिरे तो दीक्षार्थी को अयोग्य जानकर दीक्षा नहीं देनी चाहिए।[50]

यह परीक्षा-विधान श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में आज भी विद्यमान है। अन्तर मात्र इतना है कि पुष्पों का स्थान अक्षतों ने ले लिया है। विधिमार्गप्रपा (14वीं शती) में इस परीक्षा-विधि का स्पष्ट उल्लेख है। वहाँ परीक्षा में अयोग्य सिद्ध होने पर दीक्षाग्राही को श्रावकव्रत की दीक्षा देने का वर्णन है। यदि वह मिथ्यादृष्टि हो तो उसे सम्यक्त्वव्रत स्वीकार करवाने का निर्देश है। इसमें यह भी सूचित किया गया है यदि दीक्षाग्राही परम्परागत रूप से श्रावक कुल में उत्पन्न हुआ हो, तो उसकी परीक्षा करने का कोई नियम नहीं है, ऐसा पूर्वाचार्यों का कथन है।[51] यद्यपि वर्तमान की श्वेताम्बर-परम्परा में दीक्षोत्सुक सभी व्यक्तियों का परीक्षा-विधान किया ही जाता है। कई बार अक्षतपात के द्वारा दीक्षार्थी की अयोग्यता का ज्ञान हो जाने पर भी मुनि धर्म की दीक्षा दी जाती है जो सामाचारी और शास्त्र विरुद्ध है।

उपर्युक्त परीक्षा-विधि का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचाशकप्रकरण में उपलब्ध होता है। उसके बाद यह चर्चा विधिमार्गप्रपा में प्राप्त होती है। श्वेताम्बर-परम्परा में अद्यावधि पर्यन्त इस विधि का स्वरूप पूर्ववत ही विद्यमान है। मूलत: इस विधि की सत्यता ज्ञानीगम्य है।

दीक्षित को संयम पर्याय के अनुसार सुखानुभूति

दीक्षा सिंह की तरह शूरवीरता के साथ आचरण करने जैसा कठिन व्रत है। जो व्यक्ति शुद्ध परिणति के साथ संयम का उत्कृष्ट पालन करता है वह अनन्त सुख का भागी होता है। जैन शास्त्रों में दैविक सुख को मुनि सुख के सामने नगण्य माना है। भगवतीसूत्र में प्रभु गौतम स्वामी द्वारा प्रश्न किये जाने पर परमात्मा महावीर ने संयमपर्याय के आधार पर मुनि जीवन के सुखों का वर्णन करते हुए कहा है कि एक मास की दीक्षा पर्याय वाला साधु वाणव्यन्तर देवों से भी अधिक सुखी है। इसी प्रकार दो मास की दीक्षा पर्याय वाला भवनपति देवों,तीन मास की दीक्षित पर्यायवाला असुरकुमार देवों, चार मास की संयम पर्यायवाला ग्रह-नक्षत्र-तारा आदि ज्योतिषी देवों, पाँच मास की पर्यायवाला सूर्य-चन्द्र देवों, छह मास की पर्यायवाला पहले दूसरे (सौधर्म-ईशान) देवलोक के देवों, सात मास की पर्यायवाला तीसरे-चौथे (सनत्कुमार- माहेन्द्र) देवलोक के देवों, आठ मास की पर्यायवाला पाँचवें-छठे (ब्रह्मलोक- लोकान्तिक) देवलोक के देवों, नौ मास की पर्यायवाला सातवें-आठवें (महाशुक्र- सहस्रार)

देवलोक के देवों, दस माह की पर्यायवाला नौवें-दसवें-ग्यारहवें-बारहवें (आनत, प्राणत, आरण, अच्युत) देवलोक के देवों, ग्यारह मास की पर्यायवाला नव ग्रैवेयक देवों और बारह मास तक चारित्र का पालन करने वाला मुनि पाँच अनुत्तरवासी देवों के सुख से भी अधिक सुखी है।[52]

यह सुख विशुद्ध चारित्र का पालन करने वाले एवं आत्मिक आनन्द की अनुभूति करने वाले साधकों की अपेक्षा उल्लिखित है। बारह महीने के अनन्तर अखण्ड चारित्र का पालन करने वाला मुनि अनन्त कर्म मलों को दूर करके सिद्ध-बुद्ध बन जाता है और मोक्ष रूपी सर्वोत्तम स्थान को पा लेता है।

जैन विचारणा में आत्मिक सुख को अनुभूतिगम्य माना है। वह अभिव्यक्ति का माध्यम बन ही नहीं सकता तथा आत्मिक सुख को संसार के किसी वैभव से न उपमित किया जा सकता है और न किसी वस्तु से उसकी तुलना की जा सकती है। यह आनन्द स्वानुभूत, अविचल और अविनाशी है। इन आत्मिक सुखों की सम्प्राप्ति के लिए ही तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव, राजकुमार, श्रेष्ठीजन आदि अपार वैभव एवं सुख-सुविधाओं का मार्ग छोड़कर संयम का कठोर पथ अपनाते हैं। देवलोक के अतुलनीय वैभव के बीच रहने वाले सम्यग्दृष्टि आदि देव संयम धर्म को अपनाने की आकांक्षा रखते हैं।

निष्कर्ष रूप में दीक्षावस्था स्व-रमण की उत्कृष्ट भूमिका है। स्व-स्वभाव उपलब्धि का श्रेयस् मार्ग है। स्वोत्कर्ष की साधना का प्रमुख केन्द्र है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दीक्षा संस्कार की उपयोगिता

वर्तमान के भोगवादी युग में दीक्षा एक विकास विरोधी क्रिया प्रतिभासित होती है, परन्तु यदि इसके हार्द को समझ लिया जाए तो हमारी सोच गलत साबित होगी। भारत जैसे आध्यात्मिक देश में तप-त्याग की संस्कृति पूर्व से ही रही है। जैन दीक्षा की प्रासंगिकता के विषय में चिन्तन करें तो निम्न तथ्य उजागर होते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मनन किया जाए तो, जैन दीक्षा ग्रहण का अर्थ है जीवन परिवर्तन। साधक पूर्व जीवन का त्यागकर नूतन जीवन को अंगीकार करता है, जहाँ पर नये लोग, नया वातावरण एवं जीने का एक नया तरीका होता है। यह सब जीवन उत्साह में वृद्धि करते हैं। जीवन में तप-त्याग एवं नियन्त्रण आने से मनःस्थिति सन्तुलित बनती है। अहिंसा आदि पांच महाव्रतों

के पालन से जीवन में मैत्री, करुणा, परस्पर सहयोग, निर्भयता, नैतिकता, सन्तोष आदि गुणों का संचार होता है जिससे आन्तरिक आनन्द की अनुभूति होती है। मानसिक रूप में स्वस्थ व्यक्ति ही शारीरिक एवं बौद्धिक स्वस्थता को प्राप्त कर सकता है। परिग्रह आदि न होने से जीवन चिन्तामुक्त रहता है। उससे व्यक्ति सम्यक चिन्तन में प्रवृत्त हो समाज के लिए कल्याणकारी बन सकता है।

यदि शारीरिक एवं वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करें तो आहार की सात्त्विकता एवं नियन्त्रण होने से रोग उत्पत्ति प्राय: नहीं होती है। विहार आदि क्रिया से शरीर हल्का, स्वस्थ एवं सन्तुलित रहता है। अनशन, ऊनोदरी आदि तप से शारीरिक तन्त्रों में सञ्चित वसा (Fat) आदि का उपयोग हो जाता है जिससे मोटापा नहीं बढ़ता।

वैज्ञानिक शोधों के अनुसार नियमित तप-त्याग से आयु में वृद्धि होती है। सद्गुरु समागम के द्वारा विनय, सरलता आदि गुणों का उद्भव होने से पिट्यूटरी ग्रन्थि आदि का स्राव सन्तुलित होता है, जिससे बौद्धिक क्षमता उजागर होती है।

व्यक्तिगत स्तर पर विचार किया जाए तो दीक्षा लेने वाले के जीवन में कर्तृत्व बुद्धि का नाश एवं समर्पण का उदय होता है। एकाग्रता में वृद्धि होती है। आलस्य आदि नहींवत होने से सृजनात्मक कार्यों में शक्ति का प्रयोग होता है। सामाजिक स्तर पर धर्म की प्रतिष्ठा होती है। देखने वालों के मन में भी सद्विचार एवं तप-त्याग के भावों का प्रकटीकरण होता है। समाज में एकता, स्नेह एवं सद्भाव की स्थापना होती है। संयम एवं नियन्त्रण की महिमा स्थापित होती है। दीक्षित मुनि दशविध सामाचारी के माध्यम से समाज में आपसी प्रेम एवं सौहार्द की प्रेरणा देता है। कई जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है तो कई जीव वैराग्यवासित होते हैं।

यदि हम प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में दीक्षा की मूल्यवत्ता का अंकन करें तो कहा जा सकता है कि संयम ग्रहण में कषाय, वाणी एवं तनाव प्रबन्धन आदि के तथ्य भी अन्तर्निहित हैं। संयमी जीवन नियन्त्रित होता है उसमें प्रत्येक कार्य की एक सीमा होती है, जिसके कारण अति का उल्लंघन नहीं होता। प्रत्येक क्रिया समय के अनुसार होती है **''काले कालं समायरे''**। अत: समय नियोजन का यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। समयानुसार प्रत्येक क्रिया होने से अन्य

कार्यों के लिए भी समय का उचित नियोजन किया जा सकता है। कषाय विजय संयमी जीवन का मूल उद्देश्य है, अत: जीवन से क्रोधादि कषायों का उपशमन करने के लिए साधक नित प्रयत्नशील रहता है तथा क्षमा आदि दस गुणों को धारण कर जीवन में सुख-शान्ति एवं सन्तोष को प्राप्त करता है। सत्य, प्रिय, हित, मितकारी वचन बोलने से सभी के लिए स्नेहपात्र बनता है। वाणी के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं को निराकृत कर देता है।

आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में दीक्षा मार्ग का मूल्यांकन करें तो ज्ञात होता है कि इससे बढ़ती भोगवादी विचारधारा पर अंकुश लगता है। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म एवं परिग्रह समस्याओं के मूल कारण हैं। इससे उन कारणों के विनाश का मार्ग प्राप्त होता है। प्रदूषण पर्यावरण की रोकथाम हेतु प्राकृतिक अतिदोहन को विराम देना आवश्यक है। मुनि जीवन प्राकृतिक मित्रता का श्रेष्ठ उदाहरण है। आज जातिगत भेदभाव, वर्णभेद, तनाव (Tension), क्रोध, अहंकार आदि अनेक समस्याओं के मूलभूत हेतु हैं। मुनि जीवन इन सबसे मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करता है तथा समत्व योग की ओर प्रवृत्त करते हुए पक्षपात पूर्ण दृष्टि को विकसित नहीं होने देता।

इस तरह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दीक्षा संस्कार का मूल्य सर्वोपरि है।

दीक्षा के लाभ

जैन परम्परा की उत्कृष्ट साधना का नाम है दीक्षा। दीक्षाव्रत स्वीकार करने के बाद व्यक्ति न केवल सांसारिक बन्धनों या पाप कार्यों से विमुक्त बनता है अपितु मुनिधर्म का सम्यक् परिपालन करते हुए विभिन्न गुणों को विकसित करता है।

गुणवृद्धि – आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार दीक्षा स्वीकार के विशुद्ध भाव से कर्मों का क्षयोपशम होता है और कर्मों के क्षयोपशम से पूर्व प्राप्त सम्यक् दर्शनादि गुणों में अवश्य वृद्धि होती है, क्योंकि कारण के होने से कार्य अवश्य होता है यह नियम है।[53]

साधर्मिक वात्सल्यवृद्धि – दीक्षित व्यक्ति में धर्म के प्रति अत्यन्त सम्मान की भावना होती है और वह साधर्मिक सेवा को प्रधानता देने वाला होता है, इसलिए दीक्षितों में साधर्मिकों के प्रति स्नेह की वृद्धि होती है।

बोधवृद्धि – दीक्षित व्यक्ति द्वारा प्राय: विहित आचार का पालन किए जाने से सभी कर्मों का क्षयोपशम एवं ज्ञानावरण आदि घाति कर्मों का नाश होता है, जिससे नियमत: ज्ञान में वृद्धि होती है।

गुरुभक्तिवृद्धि – संयमी चिन्तन करता है कि दीक्षा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण सम्पदा का हेतु है और इस दीक्षा सम्बन्धी आचार का पालन गुरु की सहायता से ही सम्भव हुआ है इसलिए गुरु महान है और उसकी भक्ति करना उचित है- इस प्रकार का ज्ञान होने से गुरुभक्ति में भी वृद्धि होती है।

साक्षात फल – इस प्रकार क्रमश: गुणों की वृद्धि होने से दीक्षित जीव का कल्याण होता है तथा उन गुणों का सम्यक् आचरण करते हुए उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध बनकर विशिष्ट प्रकार से मुनि दीक्षा को प्राप्त कर लेता है।

पारम्परिक फल – पूर्वोक्त प्रकार से सर्वविरति चारित्र को उपलब्ध कर लेने के पश्चात भूतकाल में आचरित मिथ्याचारों की निन्दा करता है, वर्तमान में उन आचारों का सेवन नहीं करने की प्रतिज्ञा करता है और भविष्य में उन आचारों के त्याग का प्रत्याख्यान करता है। इस तरह वह जीव उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता हुआ अन्त में सभी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

आगम के अनुसार दीक्षा विधि का चिन्तन करने से भी व्यक्ति सकृद्बन्धक और अपुनर्बन्धक कदाग्रह का त्यागी हो जाता है। जो जीव यथाप्रवृत्तिकरण प्राप्त कर चुका हो, लेकिन ग्रन्थि-भेद नहीं किया हो और एक बार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध कर सकता हो, वह सकृद्बन्धक कहलाता है तथा जिसने यथाप्रवृत्तिकरण प्राप्त कर लिया हो, ग्रन्थि-भेद भी कर लिया हो और उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध नहीं करने वाला हो, वह अपुनर्बन्धक कहलाता है।

निष्कर्ष रूप में दीक्षा मोक्ष का पारम्परिक कारण है। यह संसार से मोक्ष की यात्रा का अविराम पथ है।

दीक्षा के लिए अनुमति आवश्यक क्यों ?

प्रव्रज्या स्वीकार हेतु दीक्षार्थी के लिए माता-पिता या अन्य अभिभावक गण की अनुज्ञा प्राप्त करना आवश्यक माना गया है। जैन परम्परा में माता-पिता आदि की अनुमति प्राप्त होने के पश्चात ही दीक्षा प्रदान की जाती है।

इतिहास के पृष्ठों पर अनेक ऐसे उदाहरण अंकित हैं जिन्होंने अपने

अभिभावकों से अनुमति प्राप्त करके ही प्रव्रज्या ग्रहण की। चरम तीर्थाधिपति श्रमण महावीर स्वयं ज्येष्ठभ्राता नन्दीवर्धन की अनुज्ञा प्राप्त न होने तक गृहवास में रहे। मेघकुमार, राजर्षि उदयन, महाराजा श्रेणिक के पुत्र-पौत्र, मृगावती, धन्ना अणगार, अतिमुक्तक, गजसुकुमाल आदि सहस्राधिक व्यक्तियों ने अनुमति सम्प्राप्त कर संयमपथ पर आरोहण किया।[54]

आजकल की युवापीढ़ी का अच्छा प्रश्न है। वे कहते हैं कि अन्तरंग वैराग्य की प्रबल भावना से ही साधक दीक्षा ग्रहण करता है, फिर परिजनों की अनुमति क्यों आवश्यक है ? इस प्रश्न के समाधान में कहा जा सकता है कि जिस साधना को उसने श्रेयस्कर समझा है, जिस आर्हती दीक्षा के प्रति उसके मन में दृढ़ आस्था पैदा हुई है उस साधना-मार्ग के प्रति अभिभावकों की भी श्रद्धा जागृत की जाये। दूसरा कारण माता-पिता के संस्कारों एवं सत्प्रयासों के बदौलत उसे सब कुछ प्राप्त हुआ है, वे जीवन के सर्वस्व होते हैं उनकी अनुमति एवं इच्छा के बिना किया गया कार्य किसी भी दुनियाँ में न उत्तम माना गया है और न ही लाभकारी। तीसरा हेतु यह है कि उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप साधना के पथ पर प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़ा जा सकता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कोई घर से भागा हुआ या गलत व्यक्ति दीक्षित न हो सके, क्योंकि ऐसे प्रव्रजितों के कारण श्रमण संघ में अशान्ति और विग्रह भरे वातावरण की सम्भावनाएँ बन सकती हैं। इससे संघ का अपयश भी हो सकता है।

जैन-साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा दिखायी नहीं देता, जिसने बिना अनुज्ञा दीक्षा ली हो। हाँ, जो स्वयं ही सर्वेसर्वा है या जिसका कोई अधिपति नहीं है, उसको किसी की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती, पर सामान्य व्यक्तियों के लिए यह नियम रहा है कि वह अनुमति प्राप्त कर दीक्षा ले। यह बहुत सुन्दर परम्परा है। इस परम्परा का अनुकरण आज भी देखा जाता है। इस परम्परा के पीछे बहुत से प्रयोजन हैं।

पंचवस्तुक, धर्मसंग्रह आदि ग्रन्थों में यह विधि कुछ विस्तार के साथ उपलब्ध होती है। जैसे दीक्षार्थी माता-पितादि वरिष्ठ जनों से किस प्रकार अनुमति प्राप्त करे, अनुमति न मिलने पर किस तरह माता-पितादि को समझाने का प्रयास करे, उनकी आजीविका का प्रबन्ध करे, फिर भी अनुज्ञा न मिले तो ग्लान औषधादि दृष्टान्त के समान उनका संग छोड़कर गुरु के समीप आकर उन्हें

अपनी वैराग्य भावना का निवेदन करे, गुरु महाराज वैराग्य का कारण पूछे, योग्यता की परीक्षा करे, सामायिकादि सूत्र मुखाग्र करवाये। उसके बाद विधिपूर्वक दीक्षा प्रदान करें इत्यादि विवेचन मिलता है। यहाँ विस्तार भय से इन बिन्दुओं का स्पष्टीकरण नहीं कर रहे हैं।

दीक्षा के योग्य शुभदिन विचार

उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए निमित्त की शुद्धि देखना ज्योतिषशास्त्र का अभिन्न अंग है। निमित्त शुद्धि एक प्रसन्नता भरा वातावरण निर्मित करती है और विविध कार्यों की सिद्धि के लिए मुख्य आधारभूत बनती है। व्रतग्राही का आत्मिक उत्साह बढ़ता रहे इस ध्येय से भी निमित्तशुद्धि अवश्य देखनी चाहिए। कहा भी है – **'उत्साह प्रथमं मुहूर्त्तम्'** अर्थात शुभमुहूर्त्त, शकुन आदि से भी बलवान् निमित्त उत्साह है। श्रेष्ठ कार्य की निर्विघ्नता हेतु क्षेत्र, काल और दिशा शुद्धि भी अनिवार्यत: देखी जानी चाहिए।

दीक्षा योग्य प्रशस्त-अप्रशस्त क्षेत्र – विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार गन्ने के वन में, पके हुए धान्य क्षेत्र में, कमल-सरोवर युक्त उद्यान आदि में, प्रतिध्वनि वाले स्थल में, पानी प्रदक्षिणा देता हो उस जलाशय के समीप में या जिनमन्दिर में दीक्षा देनी चाहिए।[55] श्रुत आदि सामायिक देने के लिए ये क्षेत्र प्रशस्त हैं। इनके अतिरिक्त खण्डहरभूमि, दग्धभूमि, श्मशान, शून्यगृह, अमनोज्ञगृह और क्षार, अंगार, अभेद्य आदि निकृष्ट द्रव्यों से युक्त स्थान– सामायिक आदान-प्रदान करने हेतु अप्रशस्त माने गये हैं। आगम परम्परा से तीर्थङ्कर परमात्मा विद्यमान हों, तो दीक्षादान की क्रिया समवसरण में की जाती है। उसके अभाव में यह विधि जिनालय के मण्डप में सम्पन्न की जाती है। वर्तमान परम्परा में अधिकांशत: दीक्षामण्डप तैयार करवाकर समवसरण का प्रतीक रूप त्रिगड़े में चौमुखी प्रतिमा विराजित करते हैं और उसके समक्ष दीक्षा दिलवायी जाती है। यह विधान श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में प्रचलित है।

दीक्षा के ग्राह्य और वर्जनीय नक्षत्र – स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, विशेषावश्यकभाष्य, गणिविद्या आदि के अनुसार सर्वविरति सामायिक ग्रहण के लिए ज्ञानवृद्धिकारक निम्न दस नक्षत्र श्रेष्ठ माने गये हैं[56] – 1. मृगशिर, 2. आर्द्रा, 3. पुष्य, 4. पूर्वाभाद्रपद, 5. पूर्वाफाल्गुनी, 6. पूर्वाषाढ़ा, 7. मूल, 8. आश्लेषा, 9. हस्त और 10. चित्रा। इसी क्रम में धनिष्ठा, शतभिषा, स्वाति,

श्रवण, पुनर्वसु, तीनों उत्तरा और रोहिणी ये नक्षत्र भी शुभ कहे गये हैं। प्रव्रज्या ग्रहण हेतु सन्ध्यागत, रविगत, विड्वर, सग्रह, विलंबी, राहुहत और ग्रहभिन्न– ये सात नक्षत्र वर्जित माने गए हैं[57]–

दिगम्बर परम्परा में मुनि दीक्षा हेतु निम्न नक्षत्र श्रेष्ठ माने गये हैं – भरणी, उत्तराफाल्गुनी, माघ, चित्रा, विशाखा, पूर्वाभाद्रपद और रेवती तथा आर्यिका दीक्षा हेतु अश्विनी, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, अनुराधा, मूल, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, शतभिषा और उत्तराभद्रपद नक्षत्र शुभ हैं।[58]

ग्राह्य और वर्जनीय तिथियाँ – विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार दीक्षा ग्रहण के लिए चतुर्दशी, पूर्णिमा या अमावस्या, अष्टमी, नवमी, षष्ठी, चतुर्थी और द्वादशी ये तिथियाँ वर्जनीय कही गयी हैं। शेष 1, 2,3, 5, 7, 10, 11, 13 तिथियाँ शुभ मानी गयी हैं।[59]

ग्राह्य और वर्जनीय वार – मंगल एवं शुक्र को छोड़कर शेष वार दीक्षा हेतु ग्राह्य माने गये हैं।[60]

ग्राह्य करण-शकुन-लग्नादि – जैन दीक्षा के लिए बव, बालव, कालव, वणिक्, नाग और चतुष्पद ये करण,[61] गुरु, शुक्र और सोम ग्रह वाले दिवस,[62] मित्र, नन्दा, सुस्थित, चन्द्र, वरुण, आनन्द और विजय ये मुहूर्त्त[63] तथा अस्थिर राशियों वाले लग्न उत्तम माने गये हैं।[64] साथ ही पुल्लिंग नाम वाले शकुनों में[65] और पुरुष नाम वाले प्रशस्त, दृढ़ और बलवान् निमित्तों में दीक्षा प्रदान करनी चाहिए।[66]

इसके सिवाय विशुद्ध वर्ष, मास, वार एवं दिन देखकर, जन्म मास को छोड़कर तथा शुभलग्न में गुरु के बलवान् होने पर दीक्षा अंगीकार करवायी जानी चाहिए। शुक्र और चन्द्र उदय के पंचक में दीक्षा नहीं देनी चाहिए।

ग्राह्य दिशाएँ – विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार दीक्षादाता गुरु या दीक्षा स्वीकार करने वाला शिष्य पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके दीक्षा ग्रहण करें अथवा मनःपर्यवज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी या नौपूर्वी मुनि जिस दिशा में विचरण कर रहे हों अथवा जिस दिशा में जिनमन्दिर हों, तीर्थ आदि निकट हों उस दिशा के सन्मुख खड़े होकर गुरु दीक्षा दें या शिष्य ग्रहण करें।[67]

दिगम्बर परम्परानुसार जिस दिन ग्रहों का उपराग हो, ग्रहण हो, इन्द्रधनुष निर्मित हुआ हो, दुष्टग्रहों का उदय हो, आकाश मेघपटल से आच्छादित हो,

निरर्थक मास या अधिक मास का दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथि का दिन हो उस दिन मुमुक्षु को दीक्षा दान न करें। जो आचार्य असमय में दीक्षा दान करता है वह वृद्ध आचार्यों की मान्यता का उल्लंघन करता है अत: ऐसे आचार्य को संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए।[68]

पूर्वोक्त क्षेत्र आदि की शुद्धि का ध्यान रखते हुए दीक्षा स्वीकार की जाती है तो आत्मा में सामायिकादि के अपूर्व परिणाम प्रकट होते हैं। यदि पूर्वकाल में वे परिणाम प्रकट हो गये हों तो स्थिर बनते हैं। यदि क्षेत्रादि की शुद्धि का विचार नहीं किया जाता है, तो जिनाज्ञा का भंग आदि कई दोष लगते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि कर्मों के क्षय-क्षयोपशम आदि में निमित्त बनते हैं इसलिए प्रत्येक शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए, यह जिनेश्वर भगवन्त की आज्ञा है।[69]

दीक्षा प्रदान करने के लिए आवश्यक सामग्री

वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा में दीक्षा व्रत के लिए निम्न सामग्री अपेक्षित मानी गयी हैं —

1. त्रिगड़ा, 2. चन्दोवा पूठिया, 3. सवा पाँच किलो चावल, 4. पाँच नारियल, 5. चार दीपक, 6. घृत, 7. फल-नैवेद्य-मेवा आदि पाँच-पाँच नग, 8. चौमुखी पंचधातु की एक प्रतिमा, 9. स्नात्र पूजा की सम्पूर्ण सामग्री, 10. जिनबिम्ब को आच्छादित करने के लिए दो अंगप्रोञ्छनक (अंगलूहणे), 11. स्थापनाचार्य, 12. गुरु महाराज के बैठने हेतु दो-तीन पट्टा, 13. स्वस्तिक बनाने के लिए पाँच छोटे पट्टे, 14. पूजा के वस्त्रों में एक व्यक्ति, 15. दीक्षाग्राही के लिए नया आसन, चरवला एवं मुखवस्त्रिका।

दीक्षार्थी साधु के उपकरण

यदि श्रावक की दीक्षा हो तो निम्न उपकरण अनिवार्य माने गये हैं –

1. रजोहरण, 2. निशीथिया (रजोहरण की डण्डी लपेटने का अन्दर का वस्त्र), 3. ऊन का ओघेरिया (रजोहरण की डण्डी लपेटने का ऊपर का वस्त्र), 4. रजोहरण बांधने का डोरा, 5. चन्दन की गोल डण्डी, 6. मुखवस्त्रिका, 7. दंडा, 8. दंडासन, 9. पात्र की जोड़, 10. तिरपनी, 11. काचली (काष्ठ या नारियल का लघु पात्र), 12. तिरपनी की डोरी, 13. घड़ा, 14. घड़े की डोरी, 15. पात्र रखने की झोली, 16. पाँच पड़ला (आहार लाते समय पात्र पर ढ़कने

का वस्त्र विशेष), 17. रजस्त्राण, 18. तिरपनी बन्धन, 19. पात्र बन्धन, 20. पूंजणी (पात्रादि प्रतिलेखन का साधन), 21. दो चद्दर, 22. दो चोलपट्ट (अधोभागी वस्त्र), 23. कम्बली, 24. कंदोरा, 25. कमरबन्धन, 26. पुस्तकबन्धन, 27. संथारा (एक प्रकार का ऊनी वस्त्र, जो शयन करते समय बिछाया जाता है), 28. उत्तरपट्टा (एक प्रकार का सूती वस्त्र, यह संथारा के ऊपर बिछाया जाता है), 29. सुपड़ी (काजा लेने का साधन), 30. जपमाला, 31. ठवणी (पुस्तक रखने का साधन), 32. आवश्यक क्रिया की पुस्तकें, 33. ऊनी आसन।

श्वेताम्बर मान्यतानुसार मुनि दीक्षा के लिए उपर्युक्त उपकरण आवश्यक होते हैं।

दीक्षार्थी साध्वी के उपकरण

जैन धर्म की मूर्तिपूजक परम्परा में श्राविका की दीक्षा हो, तो निम्नलिखित उपकरण आवश्यक हैं–[70]

1. रजोहरण, 2. निशीथिया, 3. ऊन का ओघेरिया, 4. रजोहरण का डोरा, 5. चन्दन की चोरस दण्डी, 6. मुखवस्त्रिका, 7. दण्डा, 8. दण्डासन, 9. पात्र की जोड़, 10. तिरपनी,11. काचली, 12. तिरपनी की डोरी, 13. जलग्रहण पात्र (घड़ा), 14. जलपात्र की डोरी, 15. पाँच पड़ला, 16. रजस्त्राण, 17. दो पात्र प्रोञ्छनक वस्त्र, 18. गरणा (जल छानने का वस्त्र), 19. तिरपनी बन्धन, 20. पात्र बन्धन (गुच्छा), 21. पूंजणी, 22. संथारा, 23. आसन, 24. उत्तरपट्टा, 25. पुस्तक बन्धन, 26. रजोहरण बन्धन, 27. सुपड़ी (काजा एकत्रित करने का साधन), 28. ठवणी, 29. कंदोरा, 30. कमरपट्टा, 31. दो जांघिया, 32. तीन साड़ा (अधोभागीय वस्त्र), 33. दो कंचुई (ऊर्ध्वभागीय वस्त्र), 34. तीन चद्दर, 35. जपमाला आदि।

दीक्षा (संन्यास) अवधारणा की ऐतिहासिक विकास-यात्रा

दीक्षा, आध्यात्मिक साधना की विशिष्ट पद्धति है। वैराग्यवासित आत्माएँ इस पथ को अंगीकार करती हैं। गृहस्थ जीवन का त्याग कर संन्यास मार्ग को अपनाना दीक्षा व्रत कहलाता है। किसी व्यक्ति को श्रमण संस्था में प्रविष्टि पाने हेतु दीक्षा व्रत स्वीकार करना आवश्यक है। इस व्रत के माध्यम से सुनिश्चित होता है कि यह व्यक्ति गृहवास का त्याग कर, पारिवारिक रिश्ते-नातों का बन्धन तोड़ चुका है. सांसारिक मोह-माया से विरक्त होकर परमात्म तत्त्व की

उपलब्धि हेतु अपने कदम बढ़ा चुका है और इसी में आत्मानन्द की अनुभूति करने वाला है।

दीक्षा आत्म संयम, इन्द्रिय निग्रह और कषायों के उपशमन का जीवन है। इस जीवन शैली को स्वीकार करते समय जो कुछ विधि-विधान सम्पन्न किये जाते हैं, वह दीक्षा विधि कहलाती है।

यदि यह विचार किया जाए कि दीक्षा विधि का मूल स्वरूप कहाँ, किस रूप में उपलब्ध हो सकता है? तो जहाँ तक जैन आगमों का सवाल है, वहाँ प्रव्रज्या ग्रहण की सुव्यवस्थित विधि लगभग किसी भी आगम में उपलब्ध नहीं है। केवल आचारांग,[71] ज्ञाताधर्मकथा,[72] उपासकदशा,[73] अनुत्तरौपपातिक,[74] प्रश्नव्याकरण,[75] विपाकश्रुत[76] आदि में संयम और तप द्वारा आत्मा को भावित करने के उल्लेख मिलते हैं। ज्ञाताधर्मकथा में प्रव्रज्या स्वीकार करने, निष्क्रमण के अभिमुख होने आदि के सूचन मिलते हैं, किन्तु संयम या प्रव्रज्या को किस प्रकार धारण किया जाता है, इसकी विधि निर्दिष्ट नहीं है।[77]

जहाँ तक आगमेतर ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका साहित्य के अन्तर्गत निशीथभाष्य में अति संक्षिप्त विधि वर्णित है। उसमें गुरु द्वारा दीक्षार्थी को 'प्रव्रज्या क्यों ग्रहण कर रहे हो, वैराग्य भाव कैसे जागृत हुआ' आदि प्रश्न पूछे जाने पर तथा उनका सन्तुष्टि जनक उत्तर मिलने पर उसे साधुचर्या से अवगत करवाया जाता है। फिर प्रव्रज्या के योग्य सिद्ध होने पर अपनी बायीं दिशा की ओर बिठाकर सामायिक व्रत का आरोहण करवाने निमित्त 'लोगस्ससूत्र' का कायोत्सर्ग, तीन बार सामायिक पाठ का उच्चारण, शिष्य द्वारा अनुशिष्टि को वन्दन इत्यादि विधान किये जाते हैं। गहराई से सोचा जाए तो वर्तमान में प्रचलित दीक्षा विधि की समस्त प्रक्रियाएँ इसमें सन्निहित हैं।[78]

यदि मध्यकालीन ग्रन्थों का अध्ययन किया जाए तो वहाँ आचार्य हरिभद्रसूरि (8वीं शती) के पंचवस्तुक, पंचाशकप्रकरण, षोडशकप्रकरण आदि ग्रन्थों में 'दीक्षा विधि' का सुव्यवस्थित स्वरूप परिलक्षित होता है।

तदनन्तर यह विवरण पादलिप्ताचार्यकृत निर्वाणकलिका (11वीं शती) में पढ़ने को मिलता है, किन्तु निर्वाणकलिका का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इसमें वर्णित दीक्षा विधि इसके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती ग्रन्थों से बहुत कुछ अलग हट करके है तथा वर्तमान परम्परा में अप्रचलित है।

यदि उत्तरकालीन ग्रन्थों का अवलोकन किया जाए तो तिलकाचार्य-सामाचारी (13वीं शती), सुबोधासामाचारी (13वीं शती), विधिमार्गप्रपा (14वीं शती), आचारदिनकर (15वीं शती) आदि में दीक्षा सम्बन्धी विधि-विधानों का उत्तरोत्तर विकसित रूप उपलब्ध होता है। ये दीक्षा विधि से सम्बन्धित प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें भी विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर वर्तमान सामाचारी में प्रचलित दीक्षा विधि के आधारभूत ग्रन्थ हैं।

यदि अर्वाचीन ग्रन्थों को देखा जाए तो वहाँ मौलिक ग्रन्थ के रूप में लगभग एक भी कृति उपलब्ध नहीं है। हाँ, विभिन्न परम्पराओं से सम्बन्धित संकलित कृतियाँ अवश्य देखी जाती है, किन्तु उन ग्रन्थों का मुख्य आधार पूर्ववर्ती ग्रन्थ ही हैं।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है वहाँ पूर्वकालीन आदिपुराण (39/76-78,17-18वी. क्रिया) में दीक्षाद्य क्रिया के नाम से इस विधि का उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि वहाँ गृहत्याग एवं दीक्षाद्य इन दो क्रियाओं को पृथक्-पृथक् माना गया है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में दोनों क्रियाएँ एक ही संस्कार के अन्तर्गत स्वीकार की गई हैं।

उपर्युक्त वर्णन से इतना निश्चित होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में विक्रम की 8वीं शती से लेकर 15वीं शती के मध्य दीक्षा विधि की प्रक्रिया में क्रमिक विकास दिखाई देता है। वर्तमान की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय में 14वीं-15वीं शती में विरचित ग्रन्थों को अधिक प्रमाणभूत माना गया है। आज भी प्रायः समस्त प्रकार के विधि-विधान इन्हीं ग्रन्थों के अनुसार करवाये जाते हैं। इस दृष्टि से यहाँ विधिमार्गप्रपा के आधार पर दीक्षा विधि उल्लिखित करेंगे।

जैन परम्पराओं में प्रचलित दीक्षा विधि

दीक्षा दिन से पूर्व दिन की विधि

खरतरगच्छीय विधिमार्गप्रपा के अनुसार प्रव्रज्या दिन से पूर्व दिन की सन्ध्या में दीक्षाग्राही के पारिवारिक जन एक ओढ़ी (छाब) के अन्दर रजोहरण आदि साधु वेश रखकर, सौभाग्यवती नारियों के मस्तक पर उस छाब को धारण करवाते हुए, वाजिंत्रादि मंगल ध्वनि के साथ गुरु के उपाश्रय में आयें। यदि जिनमन्दिर निकट हों, तो सर्वप्रथम वहाँ अक्षत-नारियल द्वारा द्रव्यपूजा आदि करें। फिर गुरु भगवन्त को वन्दन करें।[79]

तदनन्तर गुरु (आचार्य या पदस्थ मुनि) वासचूर्ण को अभिमन्त्रित कर दीक्षाग्राही के मस्तक पर डालें। फिर आचार्य हों तो सूरिमन्त्र के द्वारा और उपाध्याय आदि हों तो वर्धमानविद्या के द्वारा दीक्षाग्राही की केशराशि को अभिमन्त्रित कर उसे बाँध दें।[80] फिर पुनः व्रतग्राही शिष्य के मस्तक पर वास-अक्षत का क्षेपण करें।

तदनन्तर गुरु रजोहरण आदि वेश को अभिमन्त्रित करें, उस छाब के मध्य 5-7-9 या 25 की संख्या में सुपारी रखवायें और रक्षापोटली रखें। उसके बाद अभिमन्त्रित ओढ़ी को सौभाग्यवती नारियों के मस्तक पर रखे हुए तथा उसके दोनों ओर दो विश्वस्त व्यक्तियों के हाथों में खुली तलवारों सहित चलते हुए दीक्षाग्राही के निवास स्थान पर आयें। उस बीच वाजिन्त्रादि की मंगल ध्वनियाँ निरन्तर गूंजती रहें। फिर गृहमन्दिर की पूजा करें। फिर जिनबिम्ब या शासनदेवता की प्रतिमा के आगे वेशयुक्त छाब को स्थापित कर दें। उस दिन श्रावक और श्राविकाएँ परमात्मभक्ति, गुरु के गुणगान एवं शासनदेवता के गीतपूर्वक रात्रि जागरण करें।

दीक्षा दिन की विधि

गृह विधि – दीक्षा के दिन, दीक्षाग्राही के कुटुम्बीजन प्रातःकाल में महोत्सवपूर्वक गुरु महाराज के साथ चतुर्विध संघ को अपने गृहांगण में बुलायें। फिर गुरु की वस्त्रादि के द्वारा और चतुर्विध संघ की आहार-ताम्बूल आदि के द्वारा भक्ति करें।

तत्पश्चात व्रतग्राही के माता-पिता एवं बन्धु वर्ग गुरु से सचित्त भिक्षा (दीक्षाग्राही) स्वीकार करने का निवेदन करें। तब गुरु 'वर्तमान योग' कहते हुए व्रतग्राही को भिक्षा के रूप में ग्रहण करें।

वर्षीदान – तदनन्तर गुरु सहित विशाल जनसमूह के साथ, दीक्षार्थी गज या अश्वादि वाहन पर आरूढ़ होकर, मंगलमयी ध्वनियों के गुंजारव के मध्य वस्त्रालंकार आदि का दान देते हुए जिनालय में पहुँचे। फिर जिनबिम्ब की फल-नैवेद्यादि के द्वारा द्रव्य पूजा करें और स्तुति-स्तवन आदि के द्वारा भावपूजा करें।

दीक्षा विधि प्रारम्भ – तत्पश्चात दीक्षाग्राही अक्षत से भरी हुई अंजलि सहित नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए समवसरण (त्रिगड़े) की तीन प्रदक्षिणा दें।

* दीक्षा, उपस्थापना आदि में प्रदक्षिणा देते समय नवकार गिनने संबंधी दो परम्पराएँ चल रही है। एक परम्परा के अनुसार चौमुख दर्शन करते समय हर दिशा में एक नवकार गिना जाता है। तदनुसार एक प्रदक्षिणा में चार नवकार गिने जाते हैं। जबकि दूसरी परम्परा में एक पूरी प्रदक्षिणा में एक नवकार गिना जाता है। खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में विधि ग्रन्थों के अनुसार एक प्रदक्षिणा में एक नवकार गिना जाता है

उसके बाद व्रतग्राही की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय करने हेतु गुरु महाराज पूर्व निर्दिष्ट विधिपूर्वक पुष्पों या अक्षतों के क्षेपण द्वारा परीक्षा करें।

देववन्दन – उसके बाद व्रतग्राही शिष्य ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमणसूत्रपूर्वक वन्दन कर गुरु से सर्वविरतिसामायिक के आरोपणार्थ चैत्यवन्दन करवाने का निवेदन करें। तब गुरु-शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण का निक्षेप करें। फिर गुरु भगवन्त जिनमें अक्षर और स्वर क्रमशः बढ़ते हुए हों ऐसी चार स्तुतियाँ एवं शान्तिदेवता आदि 14 प्रकार के देवी-देवताओं ऐसे कुल 18 स्तुतियों पूर्वक देववन्दन करवायें।

विधिमार्गप्रपा की सामाचारी के अनुसार देववन्दन के अन्तर्गत शक्रस्तव और परमेष्ठीस्तव सभीजन उच्च स्वर से पढ़ते हैं जबकि वर्तमान सामाचारी में देववन्दन विधि के सूत्र पाठ गुरु भगवन्त या अधिकृत शिष्य बोलते हैं।

वेशअर्पण एवं वेशधारण – तदनन्तर दीक्षाग्राही शिष्य गुरु को एक खमासमण पूर्वक वन्दन कर रजोहरणादि वेश समर्पित करने का निवेदन करें। उस समय गुरु महाराज पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुख करके, रजोहरण की दसिया को शिष्य के दाहिनी भुजा की ओर करते हुए नमस्कारमन्त्र के स्मरण पूर्वक साधु वेश समर्पित करें।

तत्पश्चात शिष्य ईशानकोण में गृहस्थ वेश का त्याग कर, मुनिवेश को धारण करें तथा कुछ केशराशि को छोड़कर मस्तक का मुण्डन करवायें। यह पाठ विधिमार्गप्रपा में नहीं है, किन्तु वर्तमान परम्परा के आधार पर यहाँ निर्दिष्ट किया है।

चोटीग्रहण – तदनन्तर नूतन दीक्षित त्रिगड़े की प्रदक्षिणा देते हुए गुरु को खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर चोटी ग्रहण करने का निवेदन करें। तब शुभ लग्न वेला के समुपस्थित होने पर शिष्य अर्धावनत मुद्रा में खड़ा रहे और गुरु

श्वास के प्रवाह को रोके हुए तीन नमस्कारमन्त्र के स्मरणपूर्वक तीन बार में चोटी (केशराशि) ग्रहण करें। उस समय एक साधु उस केशराशि को अखण्ड वस्त्र में बांधें। आजकल यह केशराशि परिवार के किसी एक सदस्य के द्वारा ग्रहण की जाती है, ऐसा देखने में आता है।

सर्वविरति सामायिकव्रत आरोपण – उसके बाद नूतन शिष्य खमासमण सूत्रपूर्वक वन्दन कर गुरु से निवेदन करें – हे भगवन् ! आपकी इच्छा हो तो सर्वविरति सामायिक व्रत के आरोपणार्थ मुझे कायोत्सर्ग करवाइये। उस समय गुरु-शिष्य दोनों ही कायोत्सर्ग में 'लोगस्ससूत्र' का चिन्तन कर, प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

उसके बाद नूतन शिष्य पुनः वन्दन कर सर्वविरति सामायिकसूत्र को उच्चरित करवाने की भावना अभिव्यक्त करें। तब गुर्वानुमतिपूर्वक नूतन शिष्य अर्धावनत मुद्रा में खड़ा रहे तथा गुरु भगवन्त तीन बार नमस्कारमन्त्र और तीन बार सामायिक पाठ का उच्चारण करें। शिष्य उस सूत्रपाठ को मनोयोग पूर्वक अवधारित करें।

सर्वविरति सामायिकव्रत का मूलपाठ यह है–

करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ – हे भगवन् ! मैं सर्वसावद्य योगों का यावज्जीवन के लिए तीन करण और तीन योगपूर्वक त्याग करता हूँ और सामायिकव्रत की साधना में स्थिर रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ। इसके साथ ही गुरु की साक्षीपूर्वक भूतकाल में किये गये सावद्य कार्यों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उससे विरत करता हूँ।

तदनन्तर गुरु जिनबिम्ब के चरणों पर वासचूर्ण का निक्षेप करें। फिर अक्षतों को अभिमन्त्रित कर उसे चतुर्विध संघ में वितरित करें।

प्रवेदन – तदनन्तर नूतन शिष्य गुरु को खमासमणसूत्रपूर्वक सात बार वन्दन करें। • प्रथम खमासमण द्वारा सर्वविरतिसामायिक व्रत को आरोपित करने का निवेदन करें। • दूसरे खमासमण द्वारा 'सर्वविरति सामायिकव्रत का

आरोपण हो चुका है' इस सम्बन्ध में कुछ कहने की अनुमति प्राप्त करें। • तीसरे खमासमण द्वारा आपने 'सर्वविरतिव्रत में आरोपित किया है या नहीं' इसका निर्णय करें। • चौथे खमासमण द्वारा सर्वसाधुओं के समक्ष अंगीकृतव्रत को निवेदित करने की अनुज्ञा प्राप्त करें। • पाँचवें खमासमण द्वारा गृहीतव्रत के विषय में सकल संघ को ज्ञापित किया जाता है। इस समय दीक्षित शिष्य समवसरण की तीन प्रदक्षिणा देता है और सकल संघ वर्धापना करते हुए उन पर तीन बार अक्षत उछालते हैं। वर्तमान सामाचारी के अनुसार साधु-साध्वी वासचूर्ण एवं श्रावक-श्राविका अक्षत का निक्षेपण करते हैं। • छठे खमासमण द्वारा सर्वविरति सामायिकव्रत को (सर्वानुमतिपूर्वक) अंगीकार करने हेतु कायोत्सर्ग करने की अनुमति प्राप्त करें। • सातवें खमासमण द्वारा सर्वविरति सामायिकव्रत के आरोपणार्थ एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करे। पुनः एक खमासमण द्वारा सर्वविरति सामायिकव्रत को स्वयं में स्थिर करने हेतु अनुमति पूर्वक एक 'लोगस्ससूत्र' का कायोत्सर्ग करें।

नामकरण – उसके बाद एक खमासमणपूर्वक शिष्य द्वारा निवेदन किये जाने पर गुरु ग्रहगोचर की शुद्धि का ध्यान रखते हुए तथा दीक्षित के मस्तक पर वासचूर्ण का निक्षेप करते हुए उसका यथोचित नामकरण करें।

फिर नूतन शिष्य सभी ज्येष्ठ साधुओं को वन्दन करें। उपस्थित श्रावक-श्राविका वर्ग भी दीक्षित को वन्दन करें। तदनन्तर गुरु महाराज संवेगादि भाव की वृद्धि करने वाला धर्मोपदेश दें। उस दिन दीक्षित के कुटुम्बीजन यथाशक्ति साधर्मी वात्सल्य करें।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की **तपागच्छ परम्परा** में दीक्षा विधि का स्वरूप लगभग पूर्ववत जानना चाहिए।

विशेष अन्तर आलापक पाठों को लेकर है। इसमें सर्वविरति सामायिक आरोवणी, नन्दी करावणी, देववन्दावणी ऐसे मरुगुर्जर भाषा के शब्दों का प्रयोग है जबकि खरतरगच्छ आम्नाय में आलापकपाठ प्राकृत भाषा में बोले जाते हैं। जैसे कि सव्वविरइसामाइय आरोवणत्थं चेइयाइं वंदावेह, सव्वविरइ सामाइयसुत्तं उच्चारावेह इत्यादि।

दूसरा मतभेद देववन्दन के समय कही जाने वाली स्तुतियों के सम्बन्ध में है। खरतरगच्छ में 18 स्तुतियों पूर्वक देववन्दन करते हैं जबकि तपागच्छ में

देववन्दन करते समय 8 स्तुतियों का विधान है। इसी तरह स्तुति, स्तवन, चैत्यवन्दन के पाठों को लेकर भी भिन्नता है।

तीसरा मतभेद नन्दीपाठ सुनाने के सम्बन्ध में है। खरतरगच्छ आम्नाय में नन्दीसूत्र सुनाने का विधान नहीं है, किन्तु तपागच्छ में देववन्दन विधि के पश्चात एवं रजोहरण प्रदान करने से पूर्व नन्दीसूत्र के रूप में तीन नमस्कारमन्त्र सुनाते हैं।[81]

यहाँ ज्ञातव्य है कि यदि दीक्षाग्राही ने दीक्षा स्वीकार के पूर्व सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत स्वीकार नहीं किये हों, तो दीक्षा विधि की क्रिया के अनन्तर सभी आलापक इस प्रकार बोले जाते हैं– 'सम्मत्तसामाइय-सुयसामाइय-देसविरइसामाइय-सव्वविरइसामाइय आरोवणत्थं ......' तथा सर्वविरतिसामायिक व्रत ग्रहण करवाने से पूर्व सम्यक्त्वव्रत दिलाया जाता है, अन्यथा सामायिकव्रत ही स्वीकार करवाते हैं।

अचलगच्छ, पायछन्दगच्छ एवं त्रिस्तुतिक इन तीनों परम्पराओं में दीक्षा विधि की क्रिया तपागच्छ आम्नाय के समान ही सम्पन्न होती हैं। अचलगच्छ में लगभग दीक्षाग्राही की परीक्षा-विधि नहीं होती।[82]

स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्पराओं में दीक्षा संस्कार की क्रिया गुरु के समक्ष होती है। उनमें समवसरण रचना, जिनबिम्बपूजा, प्रदक्षिणा, देववन्दन, वासचूर्ण निक्षेपण, प्रवेदन आदि विधान नहीं होते हैं। सामान्यतया दीक्षार्थी से अरिहन्तादि को वन्दना करवायी जाती है, सकल संघ से क्षमायाचना करवायी जाती है, माता-पिता द्वारा संघ के समक्ष अनुमति दी जाती है, शुभ लग्न में गुरु द्वारा पूर्वोक्त सामायिकपाठ का उच्चारण किया जाता है और दीक्षार्थी उसका अवधारण करता है। इस दिन उसे यथाशक्ति उपवास या अन्य तप करवाते हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार जो व्यक्ति मुनिधर्म को स्वीकार करना चाहे, वह सर्वप्रथम माता-पितादि पारिवारिक जन की अनुमति प्राप्त करे, फिर विशिष्ट गुणयुक्त आचार्य के समीप आकर दीक्षा प्रदान करने हेतु प्रार्थना करे। फिर गुरु की अनुज्ञा मिलने पर दीक्षा के पूर्व दिन दीक्षार्थी भोजनकाल में भोज्य पात्रों का तिरस्कार करते हुए चैत्यालय में आये।

दीक्षा दिन – उसके पश्चात दीक्षा दिन में बृहद् प्रत्याख्यान की प्रतिस्थापना करने के लिए सिद्धयोग भक्ति पढ़े। फिर गुरु के समीप उपवास तप का प्रत्याख्यान ग्रहण करे। फिर आचार्य, शान्ति एवं समाधि इन तीन भक्ति

पाठों को पढ़कर गुरु को प्रणाम करे। तदनन्तर दीक्षा दानी गृहस्थ शान्तिक एवं गणधरवलय की यथाशक्ति पूजादि करवाये। फिर दीक्षार्थी को स्नानादि करवाकर आभूषणों से सज्जित कर, हर्षोल्लास पूर्वक चैत्यालय लेकर आये। वहाँ दीक्षार्थी देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करे और सकल संघ से क्षमायाचना करे। फिर गुरु के सम्मुख उपस्थित होकर दीक्षा दान की प्रार्थना करे।

लोच विधि – गुर्वानुमति के प्राप्त होने पर सौभाग्यवती नारी भूमि पर स्वस्तिक कर उसके ऊपर श्वेत वस्त्र आच्छादित करे। फिर मुमुक्षु को पूर्व दिशा की ओर मुख करके उस पर बिठा दें। गुरु उत्तर दिशा की ओर सुख करके संघ की स्वीकृति पूर्वक उसका लोच करें।

लोच विधि के अन्तर्गत सबसे पहले सिद्धयोगि भक्ति पाठ पढ़ें। गन्धोदक को शान्तिमन्त्र से तीन बार अभिमन्त्रित कर मुमुक्षु के मस्तक पर डालें। पुनः शान्तिमन्त्र से गन्धोदक को तीन बार सिञ्चित कर उसके मस्तक से उसे स्पर्श करवायें। तत्पश्चात दीक्षार्थी के मस्तक पर वर्धमानमन्त्र लिखकर उस पर दही-अक्षत-गोरस-दूर्वा का निक्षेप करें। फिर मन्त्रपाठ पढ़कर भस्मपात्र को ग्रहण करें। उसके बाद कर्पूर मिश्रित भस्म (राख) को सिर पर डालकर मन्त्रोच्चारपूर्वक केशोत्पाटन करें। तत्पश्चात सिद्धभक्ति का कायोत्सर्ग करें, फिर लघुसिद्धभक्ति पढ़ें। फिर मस्तक का प्रक्षालन एवं गुरुभक्ति पाठ पढ़कर वस्त्राभूषणों का परित्याग करें। उसके बाद गुरु शिष्य के मस्तक पर 'श्रीकार' लिखें। उस श्रीकार के चारों दिशाओं में यानी पूर्व में 3, दक्षिण में 24, पश्चिम में 5 और उत्तर में 2 का अंक लिखें।

व्रतादि स्वीकार – तत्पश्चात शिष्य के अक्षतभरी अञ्जलि के ऊपर नारियल और पूँगीफल रखकर सिद्ध चारित्र योगिभक्ति पढ़कर व्रतादि दिलवायें। व्रतपाठ का तीन बार उच्चारण कर शान्तिभक्ति पढ़ें।

सोलह संस्कार – उसके बाद अञ्जलि खाली करवाकर सोलह संस्कारों का आरोपण करें। फिर उसके मस्तक पर लवंग-पुष्पों का निक्षेप करें।

नामकरण – तदनन्तर दीक्षाग्राही की गुरु परम्परा पढ़ें, फिर अमुक गुरु के शिष्य ऐसा निर्धारण कर नया नामकरण करें।

उपकरण प्रदान – फिर मन्त्रोच्चारण के साथ पिच्छिका, शास्त्र एवं कमण्डलु प्रदान करें। उसके बाद नवदीक्षित समाधिभक्ति पढ़े। फिर गुरुभक्ति

पूर्वक गुरु को तथा अन्य मुनियों को वन्दन कर बैठ जाये। उसके बाद दीक्षादानी गृहस्थजन नूतन मुनि के आगे उत्तम फल चढ़ायें और 'नमोऽस्तु' कहकर उन्हें प्रणाम करें। दीक्षा के अनन्तर मुनि के अट्ठाईस मूलगुणों को धारण करने की प्रतिज्ञा या संकल्प दिलवाया जाता है। इसी के साथ चौरासी लाख गुणों और अठारह हजार शील रूप उत्तर गुणों का आरोपण किया जाता है।

दिगम्बर अनगारधर्मामृत के मतानुसार मुनि द्वारा आचरणीय 28 मूलगुण निम्न हैं[83] —

1-5. पाँच महाव्रत, 6-10. पाँच समिति, 11-15. पाँच इन्द्रियों को वश में रखना, 16. भूमि पर शयन करना, 17. दन्त धावन नहीं करना, 18. खड़े होकर भोजन करना, 19. दिन में एक बार भोजन करना, 20. केशलोच करना, 21-26. छह आवश्यक का पालन करना, 27. वस्त्र पात्र का त्याग करना और 28. स्नान नहीं करना।

पिच्छिका आदि उपकरण निम्न मन्त्रों से अभिमन्त्रित करते हैं —

पिच्छिकादानमन्त्र – ॐ नमो अरहंताणं भो अन्तेवासिन्! षड्जीव-निकायरक्षणाय मार्दवादि पंचगुणोपेत मिदं पिच्छोपकरणं गृहाण गृहाण।

शास्त्रदानमन्त्र – ॐ णमो अरहंताणं मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलज्ञानाय द्वादशांग श्रुताय नमः। भो अन्तेवासिन्। इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाण।

कमण्डलुदानमन्त्र – ॐ नमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तरमल शुद्धाय नमः। भो अन्तेवासिन् ! इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाण।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा की दीक्षा विधि में भक्ति पाठ, अनुमतिग्रहण, लोच क्रिया, व्रत स्वीकार, सोलह संस्कार आरोपण, उपकरण दान, नाग्न्यत्व प्रदान, नया नामकरण आदि क्रियाएँ होती हैं।

बौद्ध परम्परा में प्रव्रज्या को प्राथमिक संस्कार के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना गया है, चाहे वह अल्पकालिक हो या पूर्णकालिक। प्रव्रजित होने के लिए माता-पिता एवं दीक्षित की स्वीकृति अनिवार्य मानी गयी है। दीक्षाग्राही की अल्पतम आयु पन्द्रह वर्ष होना आवश्यक है। इस संस्कार की प्रविष्टि हेतु कुछ योग्यताएँ भी स्वीकारी गयी हैं।

विनयपिटक के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संघ में प्रव्रज्या इच्छुक को यह संस्कार सम्पन्न करने से पूर्व पूछा जाता है कि वह पितृ हन्ता, मातृ हन्ता

या अर्हत हन्ता तो नहीं है ? तब इन दोषों से रहित व्यक्ति को ही दीक्षा दी जाती है। तत्पश्चात उसे संन्यास जीवन की दैनिक एवं कठिन चर्याओं से परिचित करवाया जाता है, जैसे भूमि पर घास बिछाकर शयन करना, श्वान की भांति अल्प भोजन करना, श्मशान में रहना, वन्य पशुओं के भयावह गर्जन को सुनना, मांस आदि का वर्जन करना आदि। इससे वह इच्छा सामर्थ्य को तदनुरूप विकसित कर सकता है। यहाँ जैन परम्परा की भांति मुमुक्षु की स्वीकृति के साथ-साथ माता-पिता की अनुमति भी अनिवार्य मानी गयी है। यदि वह विवाहित हो तो पत्नी के स्वीकृति की भी आवश्यकता होती है।[84]

बौद्ध संघ में प्रवेश करने के इच्छुक व्यक्ति का सर्वप्रथम शिर, दाढ़ी और मूंछ का मुण्डन किया जाता है। वहाँ इस क्रिया को केशकर्म, जटाकर्म, चूड़ाकरण एवं मुण्डन आदि नामों से अभिहित किया गया है। तत्पश्चात कषाय वस्त्र धारण करवाए जाते हैं। फिर वह भिक्षुओं के चरणों में वन्दन कर तथा करबद्ध मुद्रा में उकडू बैठकर शरणत्रयी के उच्चारणपूर्वक बुद्ध, संघ व धर्म की शरण स्वीकार करता है। शरणत्रयी का पाठ तीन बार बुलवाया जाता है[85] — 1. बुद्धं शरणं गच्छामि, 2. संघं शरणं गच्छामि, 3. धम्मं शरणं गच्छामि। इसके अनन्तर पंचशील की शिक्षा दी जाती है, किन्तु विनयपिटक के अनुसार दस शिक्षापद के परिपालन की प्रतिज्ञा करवाई जाती है।[86]

दस शिक्षापदों के नाम ये हैं – 1. जीव हिंसा नहीं करना। 2. चोरी नहीं करना। 3. मैथुन सेवन नहीं करना। 4. असत्य नहीं बोलना। 5. मद्यपान नहीं करना। 6. मध्याह्नकाल में भोजन करना। 7. नृत्य, गीत, वाद्य से दूर रहना। 8. माला, गन्ध एवं उबटन धारण नहीं करना। 9. मूल्यवान शय्या का उपयोग नहीं करना। 10. स्वर्ण-चांदी आदि ग्रहण नहीं करना।

प्राचीनकाल में प्रव्रज्यादान के पूर्व मुनि जीवन की कठिन चर्याओं से परिचित करवाया जाता था। इस परम्परा में प्रव्रजित को श्रामणेर या श्रामणेरी कहा जाता है। दीक्षित साधक उपसम्पदा प्राप्त न होने तक किसी योग्य भिक्षु के निश्रा में दीक्षित साधक रहते हैं, ऐसा सैद्धान्तिक नियम है।[87]

दीक्षा संस्कार की क्रिया पूर्ण होने के बाद विद्यार्थी गुरु को प्रणाम कर उनके उपदेश एवं आदेश को स्वीकार करता है।

वैदिक-परम्परा में भी दीक्षाव्रत की व्यवस्था है। वहाँ सामान्यतया चातुर्वर्ण

को संन्यास धारण का अधिकारी माना गया है। संन्यास कब धारण करना चाहिए? इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। मनु के अनुसार वेदाध्ययन, सन्तानोत्पत्ति एवं यज्ञ क्रिया के अनन्तर मोक्ष की चिन्ता करनी चाहिए। बौधायनधर्मसूत्र एवं वैखानसधर्मसूत्र के अनुसार वह गृहस्थ जिसे सन्तान न हो, पत्नी मृत्युलोक पहुंच चुकी हो या जिसके पुत्र धर्म-मार्ग में प्रवृत्त हो चुके हों या जो स्वयं सत्तर वर्ष से अधिक का हो, उसे संन्यास धारण करना चाहिए।[88]

पूर्वोक्त विवेचन से यह फलित होता है कि जैन धर्म की मूर्तिपूजक परम्परा में दीक्षा विधि का स्वरूप सामान्यतया एक समान ही है। स्थानक एवं तेरापंथी परम्परा की दीक्षा विधि श्वेताम्बर शाखा से कुछ पृथक् है, किन्तु सामायिकव्रत ग्रहण का पाठ यथावत है। दिगम्बर परम्परा में सामान्य विधिपूर्वक दीक्षा प्रदान करते हैं।

दीक्षा सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य

श्वेताम्बर परम्परा में प्रव्रज्या ग्रहण के समय अनेक विधि-विधान सम्पन्न किये जाते हैं। उनमें कुछ के प्रयोजन निम्न प्रकार हैं–

रजोहरण का उपयोग किसलिए? रज + हरण इन दो शब्दों के संयोग से रजोहरण निष्पन्न है। रज यानी धूल, हरण यानी दूर करने वाला। इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार बाह्य धूलादि को दूर करने वाला तथा द्वितीय अर्थ के अनुसार जीव के साथ बंधने वाली कर्म रूपी आभ्यन्तर रज को दूर करने वाला उपकरण रजोहरण कहलाता है।[89]

जैन परम्परा में रजोहरण का दूसरा अर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तो प्रथम अर्थ भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। रजोहरण जैन मुनियों का मुख्य उपकरण है। इसका उद्देश्य जीव रक्षा, संयम रक्षा और आत्म रक्षा है। मुनिधर्म के मुख्य उद्देश्य की सम्पूर्ति रजोहरण के माध्यम से सहज सम्भव होती है।

यद्यपि यह बाह्य लिंग है तथापि संयम-योग का कारण होने से दोनों ही दृष्टियों से उसका रजोहरण नाम सार्थक है।[90] इस प्रकार अहिंसादि महाव्रतों का परिपालन एवं मुनि धर्म की समस्त चर्याओं का निर्दोष समाचरण करने के उदेश्य से रजोहरण प्रदान किया जाता है। रजोहरण प्रदान के अन्य प्रयोजन भी मननीय हैं।

चोटीग्रहण क्यों? श्वेताम्बर-परम्परा में दीक्षा के दिन, दीक्षित का मुण्डन नाई के द्वारा करवाया जाता है, किन्तु शिखा स्थान पर कुछ केश रख दिये जाते हैं जिन्हें शुभलग्न में गुरु द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उसे चोटी ग्रहण कहते हैं। इसे शास्त्रीय भाषा में 'केशलूंचन' कहा जाता है, किन्तु यहाँ चोटी जितने केश ग्रहण किये जाने से 'चोटीग्रहण' नाम अधिक सार्थक है।

मस्तक के जिस भाग से चोटीग्रहण की जाती है वह मूलस्थान सहस्त्रार चक्र का माना गया है। उस चक्र स्थान पर दबाव पड़ने से ज्ञानकेन्द्र जागृत होता है तथा अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्रकट होती हैं। चूँकि सहस्त्रारचक्र साधना की पूर्णाहुति का केन्द्र माना गया है। इस चक्र के अनावृत्त होने पर ही केवलज्ञान रूपी दीपक प्रज्वलित होता है। सहस्त्रारचक्र शरीर का सर्वोच्च भाग है अत: सद्ज्ञान को प्रगट करने के लिए शिखा ग्रहण का विधान है।

दिगम्बर परम्परा में तो दीक्षा के दिन भी मस्तक मुण्डन न करवाकर सम्पूर्ण लोच करते हैं ताकि दीक्षा के प्रारम्भ दिन से ही कष्ट-सहिष्णुता एवं सद्ज्ञान की विशिष्ट साधना के द्वार खुल जायें।

दूसरा प्रयोजन यह माना जा सकता है जैसे वस्त्र-आभूषणादि शरीर की शोभा है, शील सती की शोभा है, सदाचार सज्जनों की शोभा है, समता साधक की शोभा है, वैसे ही केश सिर की शोभा है, किन्तु संयमी जीवन में विशेषकर बाह्य शोभा का त्याग करना होता है, अत: केश-त्याग आवश्यक है। इस प्रकार बाह्य शोभा का त्याग करने के लिए मस्तक मुण्डन एवं चोटीग्रहण का प्रावधान है।

तीसरा प्रयोजन शिष्य की कष्ट सहिष्णुता और समता भाव की साधना का परीक्षण भी माना जा सकता है। संक्षेप में शरीर शोभा का त्याग, अज्ञानावरण का विनाश, सद्ज्ञान का जागरण एवं समता की साधना का श्री गणेश करना चोटीग्रहण के मुख्य उद्देश्य हैं।

वेश परिवर्तन की आवश्यकता किस दृष्टि से? श्रमण संस्कृति की समग्र परम्पराओं में यह नियम सामान्य रूप से प्रवर्तित है कि संन्यास जीवन में प्रवेश करने से पूर्व वेश-परिवर्तन करना आवश्यक है। वेश के माध्यम से व्यक्ति का न केवल बाह्य जगत अपितु आभ्यन्तर जगत भी परिवर्तित होता है

यदि आकर्षक वेश-भूषा धारण कर ली जाये और व्यक्ति विषय-विकार से

ग्रस्त न बने, मुश्किल है। व्यक्ति की वेश-भूषा उसके स्वयं के मन को तो प्रभावित करती ही है साथ में बाह्य वातावरण को भी प्रभावित करती है। अत: वेशभूषा सात्विक और सभ्य होनी चाहिए।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने जैन श्रावक का एक आवश्यक गुण बतलाते हुए कहा है कि वह उत्तेजना पैदा करने वाली वेश-भूषा न पहने। श्रावक की अपेक्षा जैन श्रमण का स्थान अपेक्षाकृत ऊँचा है, उसके लिए सात्विक वेश धारण करना, अधिक प्रासंगिक है। यदि पोशाक सही हो,तो विचार निर्मल और भावनाएँ पवित्र बनी रहती है। संसार सर्जन और मोक्ष प्राप्ति का आधार मन है। कहा भी है 'परिणामे बन्ध परिणामे मोक्ष'। अतएव मन को निर्दोष एवं निर्विकारी बनाये रखना परमावश्यक है।

वेश परिवर्तन का एक प्रयोजन मुनि होने की स्मृति को सतत बनाये रखना भी है। इस स्मृति के कारण दीक्षित पापाचरण से भयभीत रहता है और आचार-विचार को पवित्र बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

जैन मुनि श्वेत वस्त्र पहनते हैं। श्वेत वर्ण उज्ज्वलता, निर्मलता, शान्तिप्रियता, एकाग्रचित्तता, निर्विकारता का प्रतीक है। इसका तात्पर्य है कि मुनि वेशानुरूप गुणों से युक्त होते हैं तथा उनके सन्निकट आने वाले व्यक्तियों में भी वे गुण विकसित होते हैं।

नया नामकरण क्यों किया जाए ? नूतन नामकरण करना या नाम परिवर्तन करना, एक विशिष्ट प्रक्रिया है। इसे नामकरण संस्कार कहा जा सकता है। यह ऐसा संस्कार है जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की जीवन्तावस्था से लेकर मरणोत्तरकालिक अवस्था पर्यन्त बना रहता है। नाम व्यक्ति के जीवन का अटूट हिस्सा होता है जिसे कदापि अलग नहीं किया जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में नाम का विशेष महत्त्व होता है। प्राय: नामानुरूप बनने की चाह सभी को रहती है। नाम का मोह व्यक्ति को उच्चतम और निम्नतम दोनों स्थितियों में पहुँचा देता है। यहाँ नाम परिवर्तन से तात्पर्य जीवन परिवर्तन के साथ आचार-विचार, व्यवहार, वेशभूषा आदि सब कुछ बदल जाना है।

नूतन नामकरण के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने इतना तक कहा है कि नामन्यास ही दीक्षान्यास है।[91] किसी शिष्य के द्वारा यह

प्रश्न किये जाने पर कि व्रत प्रतिज्ञा के अवसर पर शास्त्रविहित आचार कौन सा है, जिस आचार का पालन करने से 'दीक्षान्यास हुआ' ऐसा कहा जा सकता है? आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसके समाधान में कहा है कि गुरु द्वारा जीत व्यवहार के अनुसार दीक्षा-सम्बन्धी नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चार निक्षेपों का आरोपण करना दीक्षान्यास कहलाता है। यही तात्त्विक एवं शास्त्रीय दीक्षा है।

नामकरण करना **नाम दीक्षा** है। रजोहरण आदि धारण करना **स्थापना दीक्षा** है। आचारांगादि श्रुत पढ़ना या प्रतिलेखन, प्रमार्जन, प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करना **द्रव्य दीक्षा** है। सम्यक्त्व भावों का प्रकर्ष होना, निर्मल अध्यवसायों का बने रहना **भाव दीक्षा** है।

ध्यातव्य है कि दीक्षित का नाम गुणसूचक हो, क्योंकि गुणसूचक नामादि रखने से चार प्रकार के विशिष्ट लाभ प्राप्त होते हैं —

1. **कीर्ति** – यदि विशिष्टगुणसूचक या सार्थक नाम हो, तो केवल नाम लेने मात्र से ही शब्दार्थ का ज्ञान होने से विद्वज्जन और सामान्य लोगों का मन प्रसन्न हो जाता है, उससे उस दीक्षित की कीर्ति (प्रशंसा) फैलती है।

2. **आरोग्य प्राप्ति** – रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि के रूप में गृहीत स्थापना दीक्षा द्वारा भावगर्भित आरोग्य की उत्पत्ति होती है यानी शुभ अध्यवसायों के द्वारा आत्मा निरोग बनती है।

3. **स्थिरतावृद्धि** – द्रव्य दीक्षा यानी आचारांग आदि श्रुत तथा अभ्यासपूर्वक की जाने वाली साधु जीवन की क्रियाएँ व्रत को स्थिर रखने में निमित्त बनती हैं।

4. **पदसम्प्राप्ति** – सम्यग्दर्शनादि रूप भाव दीक्षा विशिष्ट आचार्यादि पद उपलब्ध करवाने में निमित्त बनती है। सामान्यतया नामादि का न्यास कीर्ति, आरोग्य और मोक्ष (ध्रुवपद) प्राप्ति का सूचक है।[92]

विधिपूर्वक नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों का आरोपण करने से दृढ़प्रतिज्ञाधारी व्यक्ति सोचता है कि मैं दीक्षित बना हूँ, अब मुझे हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप नहीं करने चाहिए, जिनाज्ञा-गुर्वाज्ञा के अनुसार ही जीवन जीना चाहिए, इत्यादि संस्कार उत्पन्न होते हैं। उससे वह भावदीक्षा को सम्प्राप्त कर लेता है। तथाविध शुभ संस्कारों के कारण वह गुरु के प्रति समर्पित रहता है। गुरु वचनानुसार जीवन जीता है। उसके फलस्वरूप पापरुचि, पापक्रिया एवं पापकर्म

का नाश होता है और क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य आदि गुणों का विकास होता है।[93] यदि दीक्षित होने वाला उच्चकुलीन हो, तो गुणप्रधान नाम सुनने मात्र से मुनि जीवन के गुणों को प्रकट करने का पुरुषार्थ प्रबल हो जाता है और पुरुषार्थ के बल पर वे गुण प्रकट भी हो जाते हैं। इस प्रकार शुभ नामादि का न्यास करना ही दीक्षान्यास है। यह दीक्षान्यास मोक्षपद प्राप्ति का अचूक उपाय है। इस प्रकार नाम परिवर्तन के अनेक प्रयोजन हैं।

एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि नाम आदि का न्यास अपनी सामाचारी के अनुसार किया जाना चाहिए, क्योंकि स्व सामाचारी का पालन करने से दीक्षित व्यक्ति का जीवन विघ्नरहित होता है।[94] आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि दीक्षित का नामकरण स्वयं के सम्प्रदाय के अनुसार किये जाने पर उपद्रव नहीं होते हैं।[95]

आत्मरक्षा का विधान किसलिए? सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, दीक्षाव्रत आदि के प्रसंग पर गुरु द्वारा आत्मरक्षा की विधि की जाती है। यह प्रक्रिया दीक्षादि ग्रहण की मूल विधि प्रारम्भ करने से पूर्व होती है। इस विधि-क्रिया में गुरु सर्वप्रथम स्वयं की आत्मरक्षा करते हैं। उसके पश्चात व्रतग्राही शिष्य की आत्मरक्षा करते हैं।

यह विधान अशुभ उपद्रवों का उपशमन, आसुरी शक्तियों का विध्वंसन, एवं भाव परिवर्तन के ध्येय से किया जाता है।

समवशरण की पूजा क्यों करें? यह दीक्षाग्रहण का प्रारम्भिक चरण है कि दीक्षार्थी दीक्षा दिन में समवसरणस्थ जिनबिम्ब की पुष्प-नैवेद्यादि द्वारा विशिष्ट पूजा करे। यहाँ पूजा करने का आशय अरिहन्त परमात्मा के प्रति बहुमान प्रकट करते हुए मंगलकार्य को सिद्ध करना है।

जैन-विचारणा में उत्तम कार्य की सिद्धि के लिए मन की पवित्रता को आवश्यक माना गया है। यह पवित्रता देव-गुरु-धर्म की भक्ति-आराधना करने से जीव में प्रकट होती है, अत: प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में देवपूजन, गुरुदर्शन, नमस्कारमन्त्र का स्मरण आदि करना व्यवहारत: भी देखा जाता है।

अरिहन्त परमात्मा की पूजा-अर्चना करना लोकोत्तर मंगल भी है। इस मंगल के माध्यम से कार्य की सिद्धि में आने वाले विघ्न दूर होते हैं। कितनी बार मंगल करने पर भी कार्य-सिद्धि नहीं होती, उस समय विघ्न बलवान है, ऐसा

समझना चाहिए। तब विघ्नों का नाश करने के लिए मंगल भी उतना ही बलवान होना चाहिए।

कई बार मंगल किये बिना भी कार्यसिद्ध होता हुआ देखा जाता है। वहाँ जन्मान्तर मंगल से विघ्नों का नाश हुआ, ऐसा मानना चाहिए। मूलत: परमोपकारी अरिहन्त के प्रति भाव प्रकट करने के लिए और ग्रहण किये जा रहे व्रत की सम्यक् सिद्धि के लिए समवसरण की पूजा की जाती है।

दूसरे, अरिहन्त परमात्मा भावमंगल है अत: उनके स्मरणमात्र से सर्व कार्य मंगलरूप बनते हैं यह वचन आगम-प्रमाण से सिद्ध है।

दीक्षानुष्ठान की जरूरत क्यों? कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि यदि विरति (संयम) के परिणाम उत्पन्न हो जाये, तो चैत्यवन्दन, कायोत्सर्ग, वासदान आदि अनुष्ठान करना क्यों जरूरी है जैसे कि भरतचक्रवर्ती, माता मरुदेवी को पूर्वोक्त अनुष्ठान के अभाव में भी विरति परिणाम उत्पन्न हो गये थे। यदि मात्र अनुष्ठान के द्वारा ही विरति परिणाम उत्पन्न होते हों तो उस स्थिति में किसी भी जीव को संयमी बनाया जा सकता है?

इसका समाधान करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है कि उपर्युक्त अनुष्ठान जिनाज्ञारूप है और जिनाज्ञा का पालन करने से समस्त क्रियाएँ सफल होती हैं। साथ ही पूर्वोक्त अनुष्ठान आवश्यक विधिरूप भी है। शास्त्रवचन है कि विधिपूर्वक दीक्षा प्रदान करने से गुरु बहुनिर्जरा के भागी होते हैं, क्योंकि उस समय गुरु के अन्तरंग में "यह आत्मा सांसारिक दुःखों से मुक्त बने" ऐसे परहितकारी शुभ अध्यवसाय होते हैं, यही अध्यवसाय अनन्तगुणी निर्जरा के कारण होते हैं। अत: दीक्षा विधि का पालन करना शास्त्रोक्त है, अन्यथा तीर्थोच्छेद, अनुकम्पा का अभाव आदि अनेक दोषों की सम्भावनाएँ बन सकती हैं।[96]

प्रदक्षिणा किसलिए? जैन धर्म की मूर्तिपूजक आम्नाय में किसी भी प्रकार के व्रत ग्रहण का प्रसंग हो, समवसरण (जिनबिम्ब) की पूजा और उसकी प्रदक्षिणा ये दोनों कृत्य प्रमुख रूप से किये जाते हैं। प्रदक्षिणा के माध्यम से यह प्रार्थना की जाती है कि इस व्रताचरण के द्वारा रत्नत्रय की उपलब्धि हो, चूंकि साधना की समग्रता इसी में है।

यह ध्यातव्य है कि पूर्वकाल में जिनालय के बाहरी मण्डप में व्याख्यानादि

देने की परम्परा थी, तब व्रतग्रहण आदि के समय जिन मन्दिर की प्रदक्षिणा दी जाती थी, किन्तु वर्तमान में उपाश्रय या अन्य विशाल मण्डप बनवाकर दीक्षा के आयोजन किये जाते हैं तब समवसरण (त्रिगड़े) में विराजमान जिनबिम्ब की प्रदक्षिणा दी जाती है, अत: विधि सम्बन्धी ग्रन्थों में जिनालय एवं समवसरण दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है।

'खमासमणाणं हत्थेणं' वाक्य का प्रयोग किस अभिप्राय से? जैन धर्म की मूर्तिपूजक परम्परानुसार दीक्षा (सामायिक व्रतारोपण), उपस्थापना (पाँच महाव्रतों का आरोपण), योगोद्‌वहन (तपपूर्वक आगमसूत्रों का अध्ययन) आदि क्रियाकलापों के दौरान गुरु भगवन्त 'खमासमणाणं हत्थेणं ....' अर्थात क्षमाश्रमणों के हाथ से ऐसा बोलकर व्रतधारियों को आशीर्वचन देते हैं और उनके मस्तक पर वासचूर्ण डालते हैं। यहाँ इस वाक्यपद का रहस्यात्मक अर्थ बतलाते हुए गुरु कहते हैं कि मैं सर्वविरति का आरोपण आदि स्वतन्त्र रूप से नहीं कर रहा हूँ, किन्तु क्षमाश्रमणों के अधीन बनकर कर रहा हूँ। गुरु ऐसा आशय कहकर सूचित करते हैं कि जिनशासन में स्वच्छन्दता को स्थान नहीं है। यहाँ पूर्व परम्परागत गुरु के अधीन होकर ही कुछ किया जा सकता है।

इससे विनयगुण का सर्जन और अहंकार-दम्भ आदि का विसर्जन होता है। विनम्रता से चेतना के अध्यवसाय ॠजु एवं मृदु बनते हैं। फलत: वह निश्चित रूप से मोक्षाधिकारी होता है।

तीन बार चोटी ग्रहण क्यों ? श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में छोटी दीक्षा के समय बालों (शिखा) का मुण्डन नापित द्वारा किया जाता है, किन्तु कुछ केशराशि सिर के मूलस्थान पर छोड़ दी जाती है जिसे गुरु शुभमुहूर्त्त में तीन चोटी द्वारा अर्थात तीन बार में ग्रहण करते हैं। शिखा, यह सहस्रार चक्र, ज्ञान केन्द्र एवं पिनियल ग्रन्थि का स्थल मानी जाती है। जब गुरु के द्वारा चोटी ग्रहण की जाती है तब ये केन्द्र जागृत और सक्रिय बनते हैं। संयमी जीवन में ज्ञान एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसी के साथ मस्तक में स्थित ग्रन्थियाँ भी सक्रिय बनती हैं एवं उनका स्राव सन्तुलित होता है।

जैन धर्म में तीन की संख्या का विशेष महत्त्व है। अनेकों कार्य तीन बार किये जाते हैं जैसे कि व्रत का उच्चारण, परमात्मा दर्शन, प्रभु प्रदक्षिणा आदि। व्यवहार जगत में भी देखते हैं कि किसी भी कार्य को निश्चित करने के लिए

उसे तीन बार किया जाता है। मुस्लिम समाज में निकाह (शादी) या तलाक जब तक तीन बार कुबूल नहीं किये जाते उन्हें जायज़ नहीं माना जाता, वैसे ही तीन बार चोटी लेने से शिष्य के भीतर तक उसके संयमी होने की बात रम जाती है तथा सुषुप्त ग्रन्थियाँ भी जागृत हो जाती हैं।

ओढ़ी में पान एवं पूंगीफल (सुपारी) का निक्षेप क्यों? दीक्षार्थी के लिए दीक्षा उपकरणों की जो ओढ़ी तैयार की जाती है उसमें पान एवं पूंगीफल (सुपारी) रखने का विधान है। प्रश्न उठता है कि दीक्षा के उपकरण तो स्वयं मंगल स्वरूप हैं, फिर इनकी आवश्यकता क्यों? चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि दीक्षा एक मांगलिक कार्य है और हम देखते हैं कि प्रत्येक मांगलिक क्रिया में पान एवं सुपारी का प्रयोग धार्मिक एवं व्यावहारिक जगत में किया जाता है। अत: मंगल एवं व्यवहार जगत के अनुकरण रूप यह क्रिया समयानुसार सम्मिलित हो गयी है।

दूसरा तथ्य यह है कि पान एवं सुपारी देवताओं को प्रिय है। इसे रखने से क्षुद्र देवी-देवताओं का उपद्रव या ऊपरी शक्तियों का प्रभाव दीक्षा उपकरणों एवं दीक्षार्थी के जीवन में नहीं होता।

तीसरा प्रयोजन यह है कि सुपारी श्रेष्ठ फलों में मानी जाती है। यह अखण्डता एवं सौभाग्य की भी सूचक है। इसी के साथ पान के पत्ते को पवित्रता एवं शुद्धिकरण के लिए उत्तम माना है, अत: संयमग्राही के भावों की शुद्धता, अखण्डता एवं सौभाग्य के हेतु से इन्हें ओढ़ी में रखा जाता होगा, ऐसा सम्भव है।

ओढ़ी के दोनों ओर तलवार किस प्रयोजन से रखी जाए? दीक्षा की ओढ़ी के आगे दोनों तरफ तलवार रखी जाती है। प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा क्यों? जैन धर्म तो अहिंसावादी धर्म है तथा संयममार्ग का ग्रहण पूर्ण अहिंसा का स्वीकार है तो फिर वहाँ तलवार रखने का क्या प्रयोजन?

संयम मार्ग को "खांडे की धार" असिधारा पथ कहा गया है, अत: जब दीक्षार्थी उस कठिन पथ पर आरूढ़ हो रहा होता है, उस समय दु:साध्य दुस्तर रूप में तलवार आगे लेकर चलते हैं। दूसरा तथ्य यह सम्भावित है कि इसके द्वारा दीक्षार्थी को प्रेरणा दी जाती है कि अब तुम्हें जीवन में इन उपकरणों का प्रयोग उतनी ही सजगता के साथ करना है जितनी सजगता से तलवार का प्रयोग

किया जाता है। तीसरा तथ्य यह है कि अब तुम जिस मार्ग पर बढ़ रहे हो वह वीरों का मार्ग है, वीर अपना शिरोच्छेद करवा देता है, परन्तु अपने मार्ग एवं वचन से नहीं मुड़ता, वैसे ही तुम्हें अब इस संसार में प्रत्यावर्त्तन नहीं करना है।

इस सन्दर्भ में एक कथानक भी प्रसिद्ध है। एक बार किसी अन्य परम्परा में दीक्षित शिष्य किसी जैन मुनि के पास दीक्षा लेने आया तब उस साधु ने दीक्षा में विघ्न उपस्थित करने हेतु प्रयास किया। ऐसी स्थिति में जिन धर्म की महिमा, सामर्थ्य एवं शक्ति को सिद्ध करने के लिए गुरु ने दो तलवारें ओढ़ी के आगे रखवा दी ताकि वह साधु उपकरणों को क्षत-विक्षत न कर सकें और यदि कोई ऐसी मानसिकता से विघ्न करेगा तो इन तलवारों से उसका सिरच्छेद हो जाएगा। इस प्रकार सम्भवत: विघ्न निवारण हेतु असि युगल का प्रयोग किया जाता है।

दीक्षामण्डप में परिवारजनों की अनुमति आवश्यक क्यों? आचार्य जिनप्रभसूरि ने 'विधिमार्गप्रपा' में दीक्षा ग्रहण से पूर्व परिवारजनों की अनुमति ग्रहण का उल्लेख किया है, परन्तु यह परम्परा मध्यकाल में प्रचलन में आई ऐसा प्रतीत होता है। यदि आगम युग की बात करें तो यह परम्परा आवश्यक रूप में नहीं थी, आज्ञा ली जाती थी और नहीं भी। जैसे कि ऋषभदेव के पास दीक्षा लेने से पूर्व सुन्दरी ने भरत से आज्ञा लेने के लिए बारह हजार वर्ष तक इन्तजार किया। उधर बाहुबली आदि बिना किसी की आज्ञा से दीक्षित हो गये। ऐसे ही भगवान महावीर के समवसरण में गौतम स्वामी आदि को तो अनुमति हेतु भेजने का उल्लेख नहीं है, परन्तु अतिमुक्तकुमार, मेघकुमार आदि को अनुमति लेने के लिए भेजा गया। इसका एक कारण यह हो सकता है कि जो स्वयं निर्णय लेने में समर्थ होते थे, किसी के अधीनस्थ नहीं होते थे, उन्हें वैराग्य उत्पन्न होते ही अनुमति के बिना भी दीक्षित कर दिया जाता था, परन्तु अतिमुक्त जैसे बालकों को तथा मेघकुमार आदि युवा राजकुमारों को आज्ञा ग्रहण के बाद दीक्षित किया जाता था ताकि बाद में मोहवश कोई उपद्रव उपस्थित न हो।

यदि वर्तमान परम्परा पर दृष्टिपात करें तो वर्तमान में अनुमति ग्रहण को आवश्यक माना गया है। अपवाद रूप में कोई उत्कृष्ट वैराग्यधारी हो और उसे मोहवश या स्वार्थवश परिवारजन आज्ञा न दे रहे हों अथवा उसके घर वाले कोई उपद्रव उपस्थित नहीं करेंगे, ऐसा विश्वास हो तो बिना अनुमति के भी दीक्षा दी

जाती है। वर्तमान में आज्ञा ग्रहण इसलिए भी आवश्यक हो सकता है कि यह युग सामाजिक युग है, अत: इसे लेकर कोई सामाजिक विवाद उत्पन्न न हो। इससे दीक्षार्थी की पूर्ण जानकारी भी मिल जाती है।

मुखवस्त्रिका का धारण अनामिका पर क्यों? पंच महाव्रत स्वीकार करते समय मुखवस्त्रिका को इस प्रकार धारण किया जाता है कि अनामिका को छोड़कर शेष अंगुलियाँ बाहर की तरफ, अनामिका अन्दर की तरफ हाथीदाँत की भांति निकली हुई और उसी के आधार पर मुहपत्ति ग्रहण की जाती है तथा हाथों को ऊपर की तरफ रखा जाता है। इस विधि के अन्तर्भूत रहस्य निम्न हो सकते हैं– जिस तरह उन्नत मुद्रा से व्रतादि ग्रहण किये जा रहे हैं वैसे ही उत्कर्ष भाव व्रत पालन में भी सदैव रहें।

जिस प्रकार हाथी के दाँत एक बार निकलने के बाद अन्दर नहीं जाते वैसे ही सांसारिक रिश्तों का त्याग करने के बाद पुन: संसार के भावों में नहीं मुड़ें और संयम के प्रति हमेशा तटस्थ रहें।

अनामिका का सम्बन्ध सीधा हृदय से है तथा इसे पवित्र भी माना गया है, इसलिए परमात्मा की पूजा के लिए भी इसी अंगुली का प्रयोग किया जाता है। शेष अंगुलियाँ तो न्यून कार्यों के लिए उपयोग की जाती हैं जैसे कनिष्ठिका लघुशंका के लिए, मध्यमा और तर्जनी मिलकर बड़ी शंका के लिए, तर्जनी किसी की तरफ इशारा करने के लिए तथा अंगूठा दिखाना ठगने का प्रतीक है, परन्तु अनामिका का ऐसा कोई प्रयोजन नहीं है। अनामिका से निकलने वाली विद्युत चुम्बकीय तरंगें कार्य सिद्धि में विशेष प्रभावशाली हैं।

इस प्रकार मुखवस्त्रिका को अनामिका के आधार पर धारण करने के उक्त प्रयोजन मालूम होते हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

यदि प्रस्तुत दीक्षा विधि का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो नि:सन्देह अनेक पहलुओं का स्पष्ट बोध हो जाता है।

यहाँ मननीय है कि दीक्षा विधि से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु वर्तमान प्रचलित परम्परा एवं प्रामाणिकता को ख्याल में रखते हुए हमने विधिमार्गप्रपा में वर्णित दीक्षा विधि को मुख्य आधार बनाया है। वर्तमान सामाचारी में अधिकांश विधि-विधान इसी ग्रन्थ के अनुसार किए-करवाए जाते हैं।

ग्रन्थ की अपेक्षा– आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचवस्तुक (गा. 125-163) में दीक्षा विधि की चर्चा करते हुए चैत्यवन्दन, रजोहरण अर्पण, तीन बार चोटी ग्रहण, सामायिक ग्रहण के निमित्त कायोत्सर्ग, तीन बार सामायिकव्रत ग्रहण, जिनबिम्ब पर वासदान, वासाभिमन्त्रण, तीन प्रदक्षिणा, प्रवेदन (सात थोभवन्दन), प्रत्याख्यान, धर्मोपदेश आदि कृत्यों का निरूपण किया गया है। वर्तमान परम्परा में भी ये विधि-विधान किये जाते हैं। हमें दीक्षा विधि का प्रारम्भिक एवं प्राचीन स्वरूप पंचवस्तुक में उपलब्ध होता है।

इसके अतिरिक्त पंचवस्तुक में दीक्षा शब्द के पर्याय, दीक्षाप्रदाता गुरु के लक्षण, दीक्षा के लिए आवश्यक योग्यता, दीक्षा की वय, दीक्षा की दुष्करता, स्वजनत्याग विधि, सूत्रप्रदान विधि, दीक्षा विधि न करने से लगने वाले दोष, दीक्षा विधि की सार्थकता के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष, रजोहरणादि उपकरणों का प्रयोजन, पुण्योदय से गृहवास त्याग, गुणवान गुरु से होने वाले लाभ, शिष्य को हितकारी प्रवृत्ति से न जोड़ने पर लगने वाले दोष ऐसे अनेक बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है जो लगभग अन्य ग्रन्थों में अनुपलब्ध है।

आचार्य हरिभद्रसूरि कृत पंचाशकप्रकरण में जिनदीक्षाविधि नाम से एक स्वतन्त्र प्रकरण है। यदि तुलना की दृष्टि से पंचाशकप्रकरण (गा. 2/1-44) का अवलोकन किया जाए तो इसमें दीक्षा की मूलविधि जैसे चैत्यवन्दन, रजोहरण दान, चोटी ग्रहण, सामायिकव्रत दण्डक उच्चारण, वासनिक्षेपण, प्रदक्षिणा आदि का उल्लेख नहीं है, किन्तु दीक्षा प्रदान करने से पूर्व और पश्चात किये जाने योग्य कार्यों का सुन्दर वर्णन किया गया है, जैसे कि दीक्षा स्थल की शुद्धि किस प्रकार की जाए, दीक्षार्थी समवसरण में किस प्रकार प्रवेश करें, दीक्षार्थी की शुभाशुभ गति जानने के उपाय क्या हैं, दीक्षार्थी की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय किस प्रकार किया जा सकता है, दीक्षा की योग्यता का निर्णय होने के पश्चात गुरु के द्वारा करने योग्य कार्य, दीक्षित व्यक्ति के करने योग्य कार्य, इत्यादि का सविधि विवेचन है।

इसमें दीक्षा का स्वरूप, दीक्षा ग्रहण करने का समय, दीक्षा का अधिकारी, दीक्षा से होने वाले लाभ आदि की चर्चा भी की गई है। इस तरह दीक्षा पंचाशक में दीक्षा की मूल विधि का स्पष्ट उल्लेख न होकर दीक्षा ग्रहण के पूर्व और पश्चात की आवश्यक विधियों का सम्यक् वर्णन किया गया है।

आचार्य हरिभद्रसूरिकृत षोडशकप्रकरण (12वीं शती) में 'दीक्षाषोडशक' नाम का एक पृथक् प्रकरण है। इस प्रकरण में दीक्षा की मूल विधि जैसे देववन्दन, रजोहरणदान, वासदान, चोटीग्रहण, सामायिकव्रतोच्चारण आदि का वर्णन नहीं है। यह प्रकरण दीक्षा विधि से सम्बन्धित अन्य बिन्दुओं की विशेष चर्चा करता है। सामान्यतया इस प्रकरण (12/1-16) में दीक्षा अधिकारी को जानने के उपाय, दीक्षा का अर्थ, अयोग्य को दीक्षा प्रदान करने से होने वाले अनिष्ट, दीक्षा के प्रकार, नामादि न्यास का फल, भाव दीक्षा का स्वरूप, मुनि धर्म के लक्षण आदि का सयुक्ति विवेचन है।

पादलिप्ताचार्यकृत निर्वाणकलिका (11वीं शती) का दूसरा अध्याय दीक्षाविधि की दृष्टि से निःसन्देह अवलोकनीय है। उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य पादलिप्त ने इसमें दीक्षा विधि का उल्लेख परवर्ती ग्रन्थों एवं वर्तमान सामाचारी से बहुशः अलग हटकर किया है। इसमें वर्णित अधिकांश विधान वर्तमान की किन्हीं सामाचारियों में प्रचलित हों, ऐसा देखने, सुनने या पढ़ने में नहीं आया है। इस ग्रन्थ (पृ. 5-7) में मुख्यतया क्षेत्रपाल देवों को बलि अर्पण, शान्तिक कर्म विधान, दन्त धावन, भूतबलिदान, सर्वतोभद्रमण्डल विधान, पूजा विधान, गुरु को सुवर्ण की दक्षिणा, गुरु द्वारा आठ प्रकार के नियमों का अभिग्रह दान आदि का वर्णन किया गया है इससे अनुमानित है कि निर्वाणकलिका वर्णित दीक्षा विधि हिन्दू परम्परा से प्रभावित है।

श्रीचन्द्राचार्यकृत सुबोधासामाचारी (12वीं शती) में दीक्षा विधि का स्वरूप प्रायः विधिमार्गप्रपा के समान ही ज्ञात होता है। अतिरिक्त बिन्दुओं का उल्लेख इन्हीं पृष्ठों पर आगे किया जा रहा है।

तिलकाचार्य सामाचारी (13वीं शती) में वर्णित प्रव्रज्या विधि कुछ विशेष घटनाओं का उल्लेख करती हैं। तदनुसार इस सामाचारी (पृ. 21-22) में निम्न विधान विशेष रूप से प्राप्त होते हैं–

1. गुरु के द्वारा दीक्षा दिन से पूर्व दिन में दीक्षाग्राही के पारिवारिक सदस्यों द्वारा लाये गये वेश के अभिमन्त्रण के साथ पटलक दिये जाने का निर्देश है।
2. दीक्षा ग्रहण के लिए गृह त्याग करने से पूर्व माता-पिता-बहन आदि के द्वारा उसकी पोंखण-क्रिया और तिलकादि मांगलिक कृत्य करने का

वर्णन है।

3. दीक्षाग्राही के द्वारा स्वगृह से बाहर निकलने के बाद पुनः स्वगृह की ओर मुख करके मंगलसूचक अक्षतों का निक्षेपण और तुम्हारे गृह में ऋद्धि-वृद्धि हो ऐसा आशीष वचन कहे जाने का विवेचन है।
4. वर्षीदान का आचार निभाने हेतु किन वस्तुओं का दान दिया जाना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।
5. दीक्षाग्राही चतुर्विध संघ के साथ जिन चैत्य के मुख्यद्वार पर पहुँच जाये तब पुनः पोंखण-क्रिया करने का निर्देश है।
6. गीतार्थ साधु के द्वारा दीक्षा वेश पहनाया जाये, ऐसा सूचन है।
7. मुनिवेश समर्पित करने की विधि का दो बार उल्लेख है। पहली बार में चोलपट्टक-कंदोरा आदि दिये जाते हैं। दूसरी बार प्रोंछनक, मुखवस्त्रिका एवं रजोहरण प्रदान किया जाता है। दोनों समय के आलापक पाठ भिन्न-भिन्न हैं।
8. चोटी ग्रहण के स्थान पर 'लोच' शब्द का प्रयोग है, किन्तु मूल सामाचारी के अनुसार केशोत्पाटन की क्रिया तीन बार करने का ही निर्देश है।
9. शुभ लग्न वेला के उपस्थित होने पर, शिष्य के अधिवासित दाहिने कर्ण में गुरु द्वारा तीन बार सर्वविरति सामायिक दण्डक कहने का उल्लेख है।

इस प्रकार प्रस्तुत सामाचारी में कई विधियाँ प्रचलित परम्परा से कुछ भिन्न परिलक्षित होती हैं। सम्भवतः यह ग्रन्थकार की गुरु परम्परागत सामाचारी के आवश्यक नियम रहे होंगे। शेष विधि लगभग प्रचलित परम्परा के समतुल्य है।

जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा (14वीं शती) में प्रतिपादित दीक्षा विधि का स्वरूप पूर्व में कह चुके हैं।

वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर (15वीं शती, पृ. 78-83) में दीक्षा विधि से सम्बन्धित अतिरिक्त बिन्दु इस प्रकार हैं-

1. प्रव्रज्या के लिए उपस्थित हुए व्रतग्राही से ये प्रश्न किये जाने चाहिए कि तुम कौन हो? अथवा किस प्रयोजन से दीक्षित बन रहे हो?
2. दीक्षा विधि की क्रिया के समय शिष्य पूर्वाभिमुख होकर और गुरु उत्तराभिमुख होकर बैठें।

3. दीक्षा की मूल विधि प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु स्वयं के लिए और शिष्य के लिए आत्मरक्षा कवच का विधान करें।
4. सूरिमन्त्र या वर्धमानविद्या के द्वारा गन्ध को विशिष्ट विधिपूर्वक अभिमन्त्रित करें। इसमें वासाभिमन्त्रण की विशिष्ट प्रक्रिया का भी उल्लेख किया गया है।
5. नया नामकरण सात प्रकार की शुद्धि देखकर करने का निर्देश है।
6. नामकरण की प्रक्रिया सम्पन्न होने के अनन्तर दीक्षित शिष्य के दाहिने कर्ण में **'ॐ ह्रीं ह्रूँ नमः वीराय स्वाहा असिआउसावेवु'** यह मन्त्र 21 या 7 बार सुनाने का सूचन किया गया है। ये मन्त्राक्षर ग्रन्थकार के सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित हैं, ऐसा भी कथन किया गया है।
7. दीक्षा विधि की मूल क्रिया सम्पन्न हो जाने के पश्चात मुनि की दैनिक चर्या के रूप में अनुष्ठित की जाने वाली स्वाध्याय विधि, उपयोग विधि, सचित्त-अचित्तरज सम्बन्धी दोष के निवारणार्थ एवं क्षुद्रोपद्रव दोष के उपशमनार्थ कायोत्सर्ग विधि करवाने का भी उल्लेख किया गया है। उस दिन नूतन दीक्षित को ईशानकोण की ओर मुख करके 108 बार नमस्कारमन्त्र का जाप करना चाहिए, ऐसा भी कहा गया है।

देववन्दन की अपेक्षा– वर्तमान सामाचारी में दीक्षा विधि की प्रारम्भिक क्रिया के अनन्तर देववन्दन विधि होती है। पंचवस्तुक, सामाचारीप्रकरण, विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में इसका सुस्पष्ट उल्लेख है, किन्तु मतान्तर यह है कि पंचवस्तुक में देववन्दन का उल्लेख मात्र है, वह वन्दन-क्रिया कितनी स्तुतियों पूर्वक की जानी चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है। इससे अनुमान होता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि तक देववन्दन क्रिया के साथ सम्यक्त्वी देवी-देवताओं की आराधना का कोई स्थान नहीं था।

सुबोधासामाचारी (पृ. 14) में क्रमशः बढ़ते हुए अक्षर वाली चार स्तुतियों के द्वारा देववन्दन करने का निर्देश है। तिलकाचार्यकृत सामाचारी (पृ. 2-6) में लगभग आठ स्तुतियों, विधिमार्गप्रपा (पृ. 1) में कुल अठारह स्तुतियों और आचारदिनकर (पृ. 80-81) में कुल आठ स्तुतियों के साथ देववन्दन करने का वर्णन है।

खरतरगच्छ की वर्तमान सामाचारी में अठारह स्तुतियों से देववन्दन किया

जाता है जबकि तपागच्छ आदि शेष परम्पराओं में आठ स्तुतियों पूर्वक यह क्रिया की जाती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आचारदिनकर में प्रतिपादित देववन्दन विधि एवं आलापक पाठ तपागच्छ आदि अन्य परम्पराओं में यथावत रूप से प्रचलित हैं यानी उनमें सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, दीक्षाव्रत, उपस्थापना, पदस्थापना आदि प्रसंगों पर जो देववन्दन क्रिया की जाती है वह आचारदिनकर के अनुसार होती है।

नन्दीश्रवण की अपेक्षा– दीक्षा स्वीकार के दिन दीक्षाग्राही को नन्दी पाठ सुनाना चाहिए या नहीं? इस सम्बन्ध में पंचवस्तुक एवं विधिमार्गप्रपा के सिवाय सुबोधासामाचारी (पृ. 14), सामाचारी (पृ. 21), आचारदिनकर (पृ. 82) आदि में नन्दीपाठ सुनाने का और तद्‌निमित्त वास दान करने का स्पष्ट उल्लेख है। आचारदिनकर में यह भी कहा गया है कि प्राचीन विधि के अनुसार दीक्षा विधि के अन्तर्गत नन्दीसूत्र सुनाने की परम्परा नहीं है यद्यपि आधुनिक काल में नन्दीसूत्र सुनाते हैं। अतः नन्दीसूत्र का लघुपाठ भी दिया गया है। तपागच्छ आदि परम्पराओं में नन्दीपाठ के स्थान पर तीन नमस्कारमन्त्र सुनाने की प्रथा है।

तपप्रत्याख्यान की अपेक्षा– दीक्षाग्राही को दीक्षा के दिन कौन सा तप करना चाहिए, इस सम्बन्ध में पंचवस्तुक (गा. 152) का कहना है कि आचार्यों की पूर्व-परम्परा से उस दिन आयंबिल करना चाहिए, किन्तु अनिवार्य नियम नहीं है। इससे यह फलित होता है कि कुछ आचार्य आयंबिल नहीं करवाते हैं, किन्तु इसमें कोई दोष भी नहीं है। प्रचलित पूर्व-परम्परा के अनुसार दीक्षित को आयंबिल करवाया जाना चाहिए। सुबोधासामाचारी (पृ. 14) में नियमतः आयंबिल तप करवाने का निर्देश है तथा आचारदिनकर (पृ. 83) में यथाशक्ति आयंबिल या उपवासादि तप करवाने का सूचन है। तिलकाचार्यकृत सामाचारी, निर्वाणकलिका, विधिमार्गप्रपादि में तप करने के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं दिया गया है। वर्तमान की सभी परम्पराओं में उपवास तप करने की प्रथा है।

वास-अक्षतदान की अपेक्षा– दीक्षाग्राही के मस्तक पर वासचूर्ण या अक्षत में से किसका निक्षेप किया जाना चाहिए? पंचवस्तुक की टीका (गा. 151) में वासदान का उल्लेख है, अक्षत निक्षेप का कोई विवरण नहीं है। तिलकाचार्यकृत सामाचारी (पृ. 22) और आचारदिनकर (पृ. 83) में वासनिक्षेप

का वर्णन है, किन्तु आचारदिनकर के अनुसार साधु-साध्वियों को वासचूर्ण तथा गृहस्थों को अक्षत डालना चाहिए, ऐसा भी कहा गया है।

सुबोधासामाचारी (पृ. 14) के अनुसार वास-अक्षत दोनों का प्रक्षेप करना चाहिए। विधिमार्गप्रपाकार (पृ. 35) के अभिमत से गुरु वासदान और चतुर्विधसंघ अक्षतदान करते हैं। इस प्रकार वास-अक्षत डालने के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मान्यताएँ रही हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की वर्तमानकालिक सभी परम्पराओं में साधु-साध्वी वासचूर्ण और श्रावक-श्राविकावर्ग अक्षत का निक्षेपण करते हैं, ऐसा देखा जाता है।

वासाभिमन्त्रण की अपेक्षा- पंचवस्तुक (गा. 144) के अभिमतानुसार आचार्य द्वारा सूरिमन्त्र या नमस्कारमन्त्र से वासाभिमन्त्रण किया जाना चाहिए, जबकि अन्य ग्रन्थों के अनुसार आचार्य हो तो सूरिमन्त्र द्वारा और उपाध्याय आदि हों तो वर्धमान विद्या द्वारा वास एवं अक्षत को अभिमन्त्रित करना चाहिए।

दीक्षा द्वार एवं क्रम की अपेक्षा - दीक्षा विधि से सम्बन्धित प्रामाणिक ग्रन्थों में दीक्षा-विधि के क्रम एवं दीक्षा दान के चरणों को लेकर भी भिन्नताएँ हैं।

सुबोधासामाचारी (पृ. 14) एवं विधिमार्गप्रपा में दीक्षा-विधि के आठ द्वार (चरण) वर्णित हैं। तिलकाचार्यकृत सामाचारी (पृ. 22) में ग्यारह चरणों का उल्लेख है तथा आचारदिनकर (पृ. 78) में बारह चरणों का निर्देश है।

पूर्वोक्त ग्रन्थों में दीक्षा अनुष्ठान के क्रम को लेकर भी पारस्परिक विविधताएँ हैं एतदर्थ मूलपाठ निम्न रूप से द्रष्टव्य है-

सुबोधासामाचारी और विधिमार्गप्रपा के अनुसार दीक्षा विधि क्रम का मूलपाठ निम्न है-

चीवंदण[1]वेसप्पण[2], समइय उस्सग्ग[3] लग्ग[4] अट्ठगहो।
सामाइय[5] तियकड्ढण, तिपयाहिण[6] वास[7] उस्सग्गो[8]।।

तिलकाचार्यकृत सामाचारी का मूलपाठ यह है —

वास[1]क्खेवो वेसो वीबं[2], रयहरणं[3] वंद[4]णुस्सेग्गो[5]।
वासप्पण[6]भट्ठाउ,[7] सामाइय[8] पया[9]हिनाम[10]अणुसट्ठी[11]।।

आचारदिनकर में दीक्षाद्वार विषयक यह गाथा दी गयी है —

पुच्छा[1] वासे[2] चिइ[3] वेस[4], वंदणु[5] स्सग्ग[6] लग्ग अट्ठतिअं[7]।
समइअतिय[8] तिपयाहिणं,[9] उस्सग्गो नाम[10] अणुसट्ठी[11]।।

सार रूप में कहा जा सकता है कि जैन धर्म में विधि-विधानों को लेकर अनेक परम्पराएँ विकसित हुईं, जिनमें सामाचारी एवं गुरु परम्परागत भेद की अपेक्षा दीक्षा की उपविधियों में भी अन्तर आया है फिर भी मूल विधि का स्वरूप यथावत रूप से विद्यमान हैं।

बौद्ध परम्परा में भी श्रमण जीवन का तात्पर्य समभाव की साधना ही है। जिस प्रकार जैन-विचारधारा में श्रमण जीवन का अर्थ इच्छाओं एवं आसक्तियों से ऊपर उठना तथा पापवृत्तियों का शमन माना गया है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी तृष्णा का परित्याग एवं पापों का शमन श्रमण-जीवन का हार्द रहा है। बुद्ध ने कहा है - जो व्रतहीन है, मिथ्याभाषी है, वह मुण्डित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा हुआ मनुष्य क्या श्रमण बनेगा? जो छोटे-बड़े सभी पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमनकर्ता होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है।[97] इस प्रकार बौद्धदर्शन में भी श्रमण-जीवन की साधना के दो पक्ष हैं– आन्तरिक रूप से चित्तशुद्धि और बाह्यरूप से पापविरति।

वैदिक परम्परा में भी संन्यास जीवन का तात्त्पर्य फलाकांक्षा का त्याग माना गया है। उसमें समस्त लौकिक एषणाओं से ऊपर उठना एवं सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना संन्यास का हार्द है। वैदिक-परम्परा में साधक संन्यास ग्रहण करते समय प्रतिज्ञा करता है कि "मैं पुत्रैषणा (कामवासना), वित्तैषणा (लोभ) और लोकैषणा (सम्मान की आकांक्षा) का परित्याग करता हूँ और सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता हूँ।"[98]

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के सभी आचार-दर्शनों के सिद्धान्तानुसार समत्व की साधना करना, राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना और सामाजिक जगत में अहिंसक एवं निष्पाप जीवन जीना, यही संन्यास ग्रहण का मुख्य हार्द है।

उपसंहार

दीक्षा एक उच्चस्तरीय साधना का जीवन है। यह जीवन परिवर्तन की अनूठी प्रयोगशाला है। इन्द्रिय नियन्त्रण का सम्यक् उपक्रम है। आध्यात्मिक विकास का श्रेष्ठ उपाय है। वह ऐसी अखण्ड ज्योतिर्मय यात्रा है जिसमें साधक असत से सत की ओर, तमस् से आलोक की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर अग्रसर होता है। यह अन्तर्मुखी साधना है जिसमें साधक बाहर से अन्दर

सिमटता है, अशुभ का बहिष्कार कर शुभ संस्कारों से जीवनयापन करता है और शुद्धत्व की ओर दृढ़ कदम बढ़ाता है। दीक्षा में साधक अपने आप पर शासन करता है।

यदि दीक्षा संस्कार के सम्बन्ध में समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाये, तो यह कहा जा सकता है कि जैन-परम्परा में श्रमण संस्था में प्रविष्ट होने का इच्छुक साधक गुरु के समक्ष सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा करता है कि "हे भगवन्! मैं समत्व भाव को स्वीकार करता हूँ और सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का परित्याग करता हूँ। जीवनपर्यन्त इस प्रतिज्ञा का पालन करूँगा। मन-वचन-काया से न तो कोई अशुभ प्रवृत्ति करूँगा, न करवाऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा।"

जैन-विचारणा के अनुसार साधना के दो पक्ष हैं– बाह्य और आभ्यन्तर। समत्व की साधना करना और रागद्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठना आभ्यन्तर पक्ष है तथा हिंसक प्रवृत्तियों का त्याग करना साधना का बाह्य पक्ष है। तथ्य यह है कि समभाव की उपलब्धि प्राथमिक है, जबकि सावद्य व्यापारों से दूर होना द्वितीयक है। यह अनुभूतिपरक सत्य है कि जब तक विचारों में समत्व नहीं आता, तब तक साधक स्वयं को सावद्य क्रियाओं से भी पूर्णतया निवृत्त नहीं रख सकता। अतः दीक्षित जीवन का मूल आधार समत्व की साधना है। यही वजह है कि दीक्षाव्रत प्रदान करने के लिए 'सामायिक दण्डक' के माध्यम से समभाव की साधना में तटस्थ रहने का संकल्प करवाया जाता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *जिणधम्मो, आचार्य नानेश, पृ. 634*
2. *दीयते ज्ञानसद्भावः, क्षीयते पशुबन्धनाः।*
   दानाक्ष-परमसंयुक्तः, दीक्षा तेनेह कीर्तिता।।
   जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 438
3. *श्रेयोदानादशिव क्षपणाच्च सतां मतेह दीक्षेति।*
   षोडशकप्रकरण, 12/2
4. *दिक्खा मुंडनमेत्थं तं, पुण चित्तस्स होइ विण्णेयं।*
   ण हि अप्पसंतचित्तो, धम्महिगारी जओ होइ।।
   पंचाशकप्रकरण, 2/2
5. *स्थानांगटीका, पत्र 123*

6. पंचाशकटीका, अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5, पृ. 730
7. पंचवस्तुक, 5 की टीका
8. धर्मसंग्रह, अधिकार 3, पृ. 3
9. पव्वज्जा निक्खमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठिआइं तु।।
पंचवस्तुक, 1/9
10. उपधान स्मारिका, सन् 1989
11. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/4/576-577
12. वही, 5/3/177
13. धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 16-17
14. पव्वज्जाजोग्गगुणेहिं, संगओ विहिपवण्णपव्वज्जो।
सेविअगुरुकुलवासो, सययं अक्खलिअसीलो अ।।
सम्मं अहीअसुत्तो, तत्तो विमलयर बोहजोगाओ।
तत्तण्णू उवसंतो, पवयण वच्छल्लजुत्तो अ।।
सत्ताहिअरओ अ तहा, आएओ अणुवत्तगो अ गंभीरो।
अविसाई परलोए, उवसमलद्धीइ कलिओ अ।।
तह पवयणत्थवत्ता, सगुरु अणुन्नाय गुरुपओ चेव।
एआरिसो गुरु खलु, भणिओ रागाइरहिएहिं।।
पंचवस्तुक, गा. 10-13
15. कडजोगी, चारित्ती तहय गाहवाकुसलो।
अणुवत्तगो विसाई, बीओ पव्वावणायरिओ।।
वही, गा. 31
16. वही, गा. 32-36
17. धर्मसंग्रह, भा. 3, पृ. 2
18. अट्ठारसपुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणा अणरिहा, इति अणला इत्तिया भणिया।।
बाले वुड्ढे णपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए।
तेणे रायावकारी य, उम्मत्ते च अदंसणे।।
दासे दुट्ठे य मूढे य, अणत्ते जुंगिए इ या।
उबद्धए य भयए, सोहणिप्फेडियाइ या।।
(क) निशीथभाष्य, संपा. अमरमुनि, 3505-3507
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 107/790-791.

19. पंचवस्तुक, 51
20. वही, 73
21. (क) निशीथभाष्य, 3542-3546 की चूर्णि
    (ख) प्रवचनसारोद्धार, अनु. हेमप्रभाश्री, पृ. 107
22. धर्मसंग्रह, अनु. श्री पद्मविजयगणि, भा.3, पृ. 9
23. निशीथभाष्य, गा. 3625, 3631-33
24. गुव्विणि बालवच्छा य, पव्वावेउं ण कप्पती।
    (क) निशीथभाष्य, भा. 2, गा. 3508
    (ख) प्रवचनसारोद्धार, 108/792
25. पंडए वातिए कीवे, कुंभी इस्सालुए त्ति य।
    सउणी तक्कम्मसेवी य, पक्खियापक्खित्ते ति य।।
    सोगंधिए य आसित्ते, वद्धिए चिप्पिते ति य।
    मंतोसही उवहते, इसिसत्ते देवसत्ते य।।
    (क) निशीथभाष्य, गा. 3561-62
    (ख) प्रवचनसारोद्धार, 109/793-94
26. प्रवचनसारोद्धार, 109/793-794
27. निशीथभाष्य, 3602-3604
28. प्रवचनसारोद्धार, 110/795-96.
29. सुदेशकुलजात्यङ्गे, ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि।
    निष्कलंके क्षमे स्थाप्या, जिनमुद्रार्चिता सताम्।।
    अनगारधर्मामृत, 9/88 की टीका
30. विशुद्धकुलगोत्रस्य, सद्वृत्तस्य वपुष्मतः।
    दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं, सुमुखस्य सुमेधसः।।
    आदिपुराण, 39/158
31. वही, 74/493
32. न भिक्खवे, हत्थच्छिन्नो वब्बाजेतब्बो ....
    .... अन्धमूगबधिरो पव्वाजेतव्वो।।
    (क) विनयपिटक- (विनयसंग्रह- अट्ठकथा) भदन्तसारिपुत्र, पृ. 135
    (ख) विनयपिटक- राहुलसांकृत्यायन, पृ. 122-123
33. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/15
34. स्थानांग अभयदेवटीका, पत्र 449
35. स्थानांगसूत्र, 3/180

36. वही, 3/181
37. वही, 3/182
38. वही, 3/183
39. (क) छव्वरिसो पव्वइयो। भगवतीटीका, 5-3
    (ख) अन्तकृद्दशासूत्र, 6/18
40. अन्तकृद्दशासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, वर्ग 3, अ. 8
41. बाल दीक्षा समर्थन विशेषांक (सन्मार्ग). सन् 2008, नवम्बर
42. भण्णइ खुड्डगभावो, कम्मखओवसमभावपभवेणं।
    चरणेणं किं विरूज्झइ ? जेणम जोग्गत्ति सग्गाहो।।
    पंचवस्तुक, गा. 57-60
43. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 202-03
44. निशीथभाष्य, गा. 3556
45. वही, गा. 3556
46. वही, गा. 3560
47. बृहत्कल्पभाष्य, गा.1139-42
48. पंचाशकप्रकरण, अनु. दीनानाथ शर्मा, 2/25
49. वही, 2/26
50. वही, 2/27
51. विधिमार्गप्रपा सानुवाद, पृ. 97
52. (क) भगवतीसूत्र, 14/ 9
    (ख) पंचवस्तुक, गा. 200-201
53. पंचाशकप्रकरण, 2/38-44
54. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.448
55. उच्छुवणे सालिवणे, पउमसरे कुसुमिए व वणसंडे
    गंभीरसाणुणाए, पयाहिणजले जिणहरे वा।
    विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3404
56. मिगसरअद्दा पुस्से, तिन्नि य पुव्वाइं मूलमस्से सा।
    हत्थो चित्ता य तहा, दस विद्धिकराइं णाणस्स।।
    (क) स्थानांगसूत्र, 10/170
    (ख) समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/65
    (ग) विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3408
    (घ) गणिविद्या, गा.23, 27, 29, 41

57. (क) विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3409
    (ख) गणिविद्या, गा.15
58. हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह, प्रथमखण्ड, पृ. 488
59. चाउद्दसिं पण्णरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।
    छट्ठिं च चउत्थिं, बारसिं च सेसासु देज्जाहि।।
    (क) विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3407
    (ख) गणिविद्या, गा. 7
60. गणिविद्या, गा. 45
61. वही, गा. 47
62. वही, गा. 56-57
63. वही, गा. 64
64. वही, गा. 59
65. वही, गा. 73,79
66. आचारदिनकर, पृ. 77
67. पुव्वाभिमुहो उत्तरमुहो व, दिज्जाहवा पडिच्छेज्जा।
    जाए जिणादयो वा, दिसाइ जिण चेइआइं वा।।
    विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3405
68. आदिपुराण, 39/159-161
69. पंचवस्तुक, गा. 114
70. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ. 8
71. आचारांगसूत्र (अंगसुत्ताणि), 2/15/36
72. ज्ञाताधर्मकथा (अंगसुत्ताणि), 5/10
73. उपासकदशासूत्र (अंगसुत्ताणि), 1/4
74. अनुत्तरोपपातिकसूत्र (अंगसुत्ताणि), 3/1/12
75. प्रश्नव्याकरणसूत्र (अंगसुत्ताणि), 2/5
76. विपाकसूत्र (अंगसुत्ताणि), 1/24
77. (क) ज्ञाताधर्मकथासूत्र (अंगसुत्ताणि), 8/11
    (ख) वही, 5/19-21
78. निशीथभाष्यचूर्णि, संपा. अमरमुनि, 3748-51
79. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 96
80. वर्तमान में केशराशि बांधने की परम्परा लुप्त है।
81. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.1-7

82. दीक्षा-बड़ी दीक्षादि विधि संग्रह, पृ. 1-9
83. (क) श्रमणाचार, पृ. 338-346
(ख) अनगारधर्मामृत, 9/83
84. जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 183
85. (क) वही, पृ. 183
(ख) विनयपिटक, राहुल सांकृत्यायन, पृ. 123
86. (क) जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 183
(ख) विनयपिटक, राहुल सांकृत्यायन, पृ. 123-124
87. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ, डॉ. अरुणप्रताप सिंह, पृ. 136
88. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा. 1, पृ.491
89. (क) पंचवस्तुकभाष्य, गा. 132
(ख) विशेषावश्यक, गा. 3405
90. पंचवस्तुक, गा. 133
91. षोडशकप्रकरण, 12/8
92. वही, 12/9
93. वही, 12/10
94. (क) द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, 28/4
(ख) प्राचीनसामाचारी, पृ. 14
95. षोडशकप्रकरण, 12/7
96. पंचवस्तुक, गा. 164-177
97. धम्मपद, 264-65 उद्धृत- जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भा.2, पृ. 327
98. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा. 2, पृ. 327

●

अध्याय-5

मण्डली तप विधि की तात्त्विक विमर्शना

जैन धर्म की प्राय: सभी परम्पराओं में सामूहिक अनुष्ठान को श्रेष्ठ माना गया है। इसके पीछे यह अभिप्रेत है कि सामूहिक आराधना से भावोल्लास में अनन्तगुणा वृद्धि होती है और एक-दूसरे को देखकर अरुचिवन्त साधक भी उद्यम परायण हो जाते हैं। अनेक आराधकों के मुख से एक साथ उच्चरित हो रहे सूत्र पाठ या स्तवन आदि को सुनकर क्रिया के प्रति स्वत: तन्मयता बढ़ जाती है। इससे वातावरण शान्त होता है फलत: चित्त की स्थिरता एवं मन की एकाग्रता बढ़ती है और वचन का संयम हो जाता है। बृहद् अनुष्ठानों को देखकर दर्शकगण भी उसके प्रति अनायास आकृष्ट होकर चले आते हैं अत: सामूहिक आराधना विविध दृष्टियों से लाभदायी है।

जैन गृहस्थ के लिए मण्डली तप के सम्बन्ध में किसी प्रकार का कोई प्रावधान नहीं है। वह प्रत्येक धर्म आयोजनों में बिना किसी रुकावट के सम्मिलित हो सकता है। केवल मार्गानुसारी के 35 गुणों से युक्त होना आवश्यक है जबकि जैन श्रमण के लिए कुछ विशिष्ट संविधान बनाये गये हैं। यदि एक साधु को अन्य साधु के साथ या समूह के साथ प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कृत्य सम्पन्न करने हों तो उसके लिए एक बार तप करना जरूरी होता है। उसके बिना सामूहिक क्रियाकलापों में उसे अनुमति नहीं दी जाती।

मूलत: साधु जीवन से सम्बन्धित सात क्रियाएँ सामूहिक रूप से की जाती हैं, अत: मण्डली सात प्रकार की कही गई है।

मण्डली का अर्थ एवं उसके प्रकार

मण्डली का सामान्य अर्थ है – समूह, समुदाय। यह समूह वाचक शब्द है। यहाँ मण्डली से तात्पर्य मुनियों का समूह या मुनियों का समुदाय है।

पंचवस्तुक, प्रवचनसारोद्धार, विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों के अनुसार सात प्रकार की मण्डली के नाम इस प्रकार हैं – 1. सूत्र मण्डली 2. अर्थ मण्डली

3. भोजन मण्डली 4. काल मण्डली 5. आवश्यक मण्डली 6. स्वाध्याय मण्डली और 7. संस्तारक मण्डली।

1. सूत्र मण्डली – श्रमण या श्रमणी समूह के साथ बैठकर शास्त्र ग्रन्थों का अभ्यास करना, सूत्रों का स्मरण करना, सूत्रों का पुनरावर्तन करना सूत्र मण्डली है।

2. अर्थ मण्डली – श्रमण या श्रमणी समुदाय के साथ बैठकर सूत्रों के अर्थ का अध्ययन करना या पुनरावर्तन करना अर्थ मण्डली है।

3. भोजन मण्डली – श्रमण या श्रमणी समूह के साथ बैठकर भोजन करना, एक-दूसरे में परस्पर आदान-प्रदान करना, संघाटक (समूह) के रूप में भिक्षागमन करना इस तरह आहार विषयक क्रियाओं को सम्मिलित रूप से करना भोजन मण्डली है।

4. काल मण्डली – श्रमण या श्रमणी समूह के साथ नियत काल में किये जाने वाले आवश्यक अनुष्ठान जैसे– प्रतिलेखना, प्रमार्जना, उग्घाड़ा पौरुषी, बहुपडिपुन्ना पौरुषी, चौबीस माण्डला इत्यादि क्रियाकलाप सम्पन्न करना काल मण्डली है।

5. आवश्यक मण्डली – श्रमण या श्रमणी समूह के साथ बैठकर प्रतिक्रमण, वन्दन, कायोत्सर्ग आदि करना आवश्यक मण्डली है। यहाँ आवश्यक का तात्पर्य सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान रूप षडावश्यक से है।

6. स्वाध्याय मण्डली – उत्कालिक, आगाढ़-अनागाढ़, अंग-उपांगादि सूत्रों की वाचना ग्रहण करना, स्वाध्याय के पाँच प्रकारों का अभ्यास करना या उनका प्रयोग करना स्वाध्याय मण्डली है।

7. संस्तारक मण्डली – श्रमण या श्रमणी समूह के समीप आसन लगाना, संस्तारक बिछाना, बैठना या सोना संस्तारक मण्डली है।

यह ध्यातव्य है कि जिन परम्पराओं में यह तप विधि प्रचलित है उनमें सात मण्डली के योग (तप) करवाने के पश्चात ही नवदीक्षित मुनि को समूह में सम्मिलित करते हैं। इस मण्डली के योग में सात दिन आयम्बिल करवाये जाते हैं। इस तपो विधान को करवाते हुए जिस मण्डली का तप पूर्ण होता है मुनि को उस मण्डली में प्रवेश दे दिया जाता है। इस प्रकार सात मण्डली के योग पूर्ण होने तक वह श्रमण समुदाय की समस्त क्रियाओं को युगपद् रूप से

करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। इससे पूर्व नवदीक्षित (शैक्ष) प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ एकाकी करता है अथवा मण्डली से पृथक् करता है।

मण्डली तप की आवश्यकता कब से और क्यों ?

मण्डली प्रवेश – मुनि धर्म की विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर साधु मण्डली में प्रवेश करना, साधु समुदाय में सम्मिलित होना मण्डली प्रवेश कहलाता है।

मण्डली तप – प्रतिक्रमण आदि सात प्रकार की आवश्यक क्रियाओं को सामूहिक रूप से सम्पन्न करने की अनुमति के निमित्त किया जाने वाला तप मण्डलीतप कहलाता है।

तीर्थंकरों के शासनकाल में दीक्षा रूप में सामान्यत: सामायिक चारित्र देने की ही परम्परा थी। भगवान के समीप जो भी मुमुक्षु आते उन्हें उसी समय चारित्र धर्म स्वीकार करवा दिया जाता था। परमात्मा कहते थे– **'जहा सुयं देवाणुप्पिया मा पडिबद्धं करेह'** हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुखकर लगे, उसे शीघ्र करो, अच्छे कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिए। ऐसे वचनों को सुनकर साधक का वैराग्य पक्ष और अधिक पुष्ट होता था। लेकिन काल क्रम से परिस्थितियों में बदलाव आया, तब पूर्वाचार्यों ने ऐसा नियम बनाया कि कदाच नूतन शिष्य स्वयं को संयम पालन में असमर्थ महसूस कर पुन: गृहवास को अपना लें तो भी उसके एक व्रत का ही खण्डन हो, अन्यथा पाँच महाव्रत खण्डित होंगे। छोटी दीक्षा धारण करने के बाद पुन: गृहस्थ जीवन स्वीकार किया जाए तो केवल सामायिक चारित्र के खण्डन का ही दोष लगता है।

छोटी दीक्षा का उत्कृष्ट काल छह महीना माना गया है। इसके पीछे मूल हार्द यह है कि इस अवधि में नवदीक्षित संयम धर्म के सभी नियमों का ज्ञाता और अभ्यासी होकर स्वयं को उस योग्य तैयार कर लें, ताकि महाव्रतों का निरतिचार पालन किया जा सके।

मण्डली तप, महाव्रतों को अंगीकार कर सकें उसके लिए प्रमाणपत्र के समान है। यह तप करने के पश्चात गुरु की दृष्टि में वह सर्वविरति चारित्र के योग्य हो जाता है और उसे तद्रूप में स्वीकार भी कर लिया जाता है।

खरतरगच्छाचार्य पू. महोदयसागरजी म.सा. के शिष्य रत्न पूज्य कल्परत्नसागरजी म.सा. के अनुसार देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण तक मण्डली तप का प्रचलन नहीं था। आहार आदि की प्राप्ति हेतु पृथक्-पृथक् गमन करने का ही

उल्लेख मिलता है। देश कालगत बदलती स्थितियों के अनुसार जब साधु-साध्वी अधिक संख्या में एक साथ रहने लगें तब व्यवस्था की दृष्टि से इस विधि का संयोजन हुआ। किसी में परस्पर विवाद न हो इसलिए तपोनुष्ठान पूर्वक सामूहिक क्रियाओं की अनुमति दी गयी।

तीर्थङ्करों के शासन में भी स्थविरकल्पी साधु-साध्वी एक साथ रहते थे किन्तु उस समय देश-कालगत स्थितियों का ऐसा प्रभाव था कि उन मुनियों की मनःस्थिति एकाकी साधना में सुगमतया जुड़ जाती थी, अतः मण्डली तप की आवश्यकता नहीं रही, परन्तु कालान्तर में सामूहिक क्रियाओं को महत्त्व देना आवश्यक होने से समानाधिकार हेतु मण्डली योग का प्रस्थापन हुआ।

जब हम यह विचार करते हैं कि मण्डली तप की आवश्यकता किन दृष्टियों से है? तब पूर्व वर्णन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह तप श्रमण या श्रमणी समुदाय के साथ आवश्यकादि क्रियाएँ करने की अनुमति प्राप्त करने हेतु किया जाता है। इसके अतिरिक्त जब नवदीक्षित मुनि आवश्यकसूत्र के माध्यम से षडावश्यक का ज्ञान और दशवैकालिकसूत्र के द्वारा पृथ्वीकायादि जीवों का परिज्ञान कर लेता है, तब उसकी योग्यता का परीक्षण करने हेतु पहले तप करवाया जाता है। उसमें सफलता पाने के बाद ही उसे श्रमण संघ की सदस्यता प्रदान की जाती है, अतः मण्डली तप का मुख्य उद्देश्य मुनि संघ की सदस्यता प्राप्त करना है। उस दिन से उसके वरिष्ठता क्रम का निर्धारण भी हो जाता है।

यह तप सामुदायिक सामाचारियों के प्रति निष्ठा, श्रद्धा एवं बहुमान के भाव जागृत करने के उद्देश्य से भी करवाया जाता है। जब शिष्य किसी अधिकार को विधि पूर्वक प्राप्त करता है, कठोर साधना पूर्वक प्राप्त करता है तब उसका यथार्थ मूल्यांकन वह स्वयं करने लगता है और उसे सहेज कर रखता है। विशिष्ट पुरुषार्थ के बल पर प्राप्त अधिकारों का दुरुपयोग नहीं होता, बल्कि वह सभी के लिए विशेष मूल्य रखता है अतः मण्डली तप की आवश्यकता नैष्ठिक गुण जागृत करने के उद्देश्य से भी सिद्ध होती है।

इस तप का तीसरा हेतु मुनि जीवन की समग्र आचार मर्यादाओं एवं विविध सामाचारियों का सम्यक् ज्ञान अर्जित करना भी माना गया है। जब शैक्ष आचार नियमों का निपुण ज्ञाता बन जाता है तभी सामुदायिक क्रियाकलापों के प्रति अन्तरंग रुचि जगती है और उसे श्रमण संघ का अधिकार दिया जाता है। अतः यह उद्देश्य उसके समग्र भावी जीवन के लिए सुदृढ़ नींव बनता है।

इस तप का चौथा प्रयोजन शास्त्रों का गहन एवं गूढ़ार्थ अध्ययन करने से सम्बन्धित है। जब नूतन दीक्षित समूह के साथ बैठकर स्वाध्याय करे तभी शास्त्र वचन के मर्म एवं हार्द को समझ सकता है क्योंकि वाचना, पृच्छना, परावर्तना के माध्यम से किया गया अध्ययन धारणा पूर्वक गृहीत होता है, वह ज्ञान स्मृति कोष में दीर्घ अवधि तक टिका रहता है, अत: सम्यक् ज्ञानार्जन के उद्देश्य से भी मण्डली तप की अनिवार्यता सिद्ध होती है।

यह तप आवश्यक क्रियाओं के प्रति एवं आत्म साधना के प्रति हर पल सतर्क एवं सावधान बने रहने के ध्येय से भी करवाया जाता है। यह अनुभव सिद्ध है कि संस्कारी परिवार के साथ रहने वाला व्यक्ति बिना किसी पापोदय के न तो असत आचरण कर सकता है और न ही आपराधिक क्रूर कृत्य ही। वह सदैव अपने व्यक्तित्व को ऊँचा बनाये रखने में प्रयत्नशील रहता है। यही तथ्य श्रमण-श्रमणी समुदाय में भी घटित करना चाहिए। इस दुषमकाल में जो मुनिगण सामुदायिक सामाचारियों (नियमों) का अनुसरण करते हैं वे प्रतिपल संयम में जागरूक रहते हैं तथा उन्हें लोक निन्दा, धर्म, अपयश एवं शासन हीलना का भय सतत बना रहता है।

मण्डली तप का अन्तिम प्रयोजन यह माना जा सकता है कि जिस प्रकार एक कुंवारी कन्या को अग्नि की साक्षी एवं मन्त्रोच्चारण पूर्वक सात फेरा आदि कर लेने पर ससुराल भेजा जाता है उसी प्रकार सात मण्डली के योग करने के पश्चात नूतन साधु को मण्डली के साथ स्वाध्याय, आहार, आवश्यक आदि करने का प्रवेश पत्र प्राप्त होता हैं।

इस प्रकार मण्डली प्रवेश तप की आवश्यकता विविध दृष्टिकोणों से सार्थक मालूम होती हैं।

विविध सन्दर्भों में मण्डली तपोनुष्ठान की प्रासंगिकता

मण्डल अर्थात समूह। जैन मुनियों में जिनकल्पी साधु एकल साधना करते हैं। शेष सभी के लिए सामूहिक साधना का विधान है अत: हम यह भी कह सकते हैं कि जैन धर्म में मात्र लोक कल्याण की चर्चा या नैश्चयिक जीवन ही नहीं, व्यावहारिक जीवन एवं लोकोत्तर कल्याण का भी चिन्तन है। यदि मण्डली विधि का मनोवैज्ञानिक धरातल पर विश्लेषण करें तो अवगत होता है कि यह समूह में प्रवेश पाने की क्रिया है। समुदाय में रहने और सामूहिक क्रियाकलाप

करने से साधना के प्रति जागरुकता रहती है। प्रमाद आदि दोष पैदा भी हो जाएँ तो शीघ्र दूर हो जाते हैं। समूह में रहने से वैयक्तिक कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का भान रहता है। एकाकी साधना करते हुए मन संयम से उचट सकता है जबकि समुदाय में रहने पर संयम पालन में अधिक दृढ़ता आती है। सामूहिक रूप से किया गया अध्ययन तथा सूत्र-अर्थ आदि अधिक स्थायी होते हैं। मण्डली प्रवेश हेतु जो तप करवाया जाता है उसमें साधक अभिरुचि की तारतम्यता के अनुसार उसकी संयम निष्ठा का ज्ञान होता है।

यदि मण्डली अनुष्ठान के वैयक्तिक लाभ के बारे में सोचें तो समूह में रहने के कई लाभ हैं। यद्यपि मण्डली विधि आगमोक्त नहीं है, परन्तु घटते मनोबल एवं आत्मबल को देखते हुए गीतार्थ गुरुओं द्वारा 8वीं शती के आस पास इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

मण्डली तप के द्वारा नूतन दीक्षित संयम के क्षेत्र में अपना वैयक्तिक परीक्षण करता है। मण्डली में सम्मिलित होने पर कनिष्ठ साधु अतिरिक्त चिन्ताओं से मुक्त हो जाते हैं। परिपक्व एवं स्थविर साधुओं के साथ रहने से ज्ञान-ध्यान-संयम आदि सभी में वृद्धि होती है तथा उनकी सेवा आदि का भी लाभ प्राप्त होता है। प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ सामुदायिक हो तो स्वकृत दोषों की आलोचना की जा सकती है। नूतन दीक्षित आदि को अपनी परम्परा का समुचित ज्ञान होता है।

यदि सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मण्डली विधि की उपयुज्यता देखें तो यह व्यवहार जगत से प्रेरित विधि लगती है। इससे पूर्वकाल में जो संगठित परिवार का प्रचलन था उसकी पुष्टि होती है। किसी योग्य मुनि के मण्डली में प्रविष्ट होने पर वह कई लोगों को धर्म में जुड़ने की प्रेरणा आदि देकर संयम मार्ग पर ला सकता है, कई नास्तिकों को आस्तिक बना सकता है जिससे जिन धर्म की प्रभावना होती है। नव दीक्षित साधु-साध्वी के परिवार एवं परिचित आदि भी धर्म से जुड़ते हैं। मण्डली प्रवेश से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि संयमी जीवन में प्रविष्ट होना कोई सामान्य खेल नहीं, अपितु एक कठोर साधना है। समुदाय या संगठन में रहने से जिनशासन का अधिक प्रचार-प्रसार होता है। समाज में भी संगठन बढ़ता है।

यदि मण्डली तप विधि का प्रभाव प्रबन्धन के क्षेत्र में देखें तो यह योगानुष्ठान समूह संचालन, सामूहिक जीवन आदि में विशेष रूप से अपनी

भूमिका निभाता है। इसी के साथ व्यवहार प्रबन्धन, वाणी प्रबन्धन आदि में भी लाभदायी है।

जब किसी भी स्थान या कार्य में कठिनाई से प्रवेश प्राप्त होता है तो उसकी मूल्यवत्ता अधिक समझ में आती है तथा उस कार्य में उतनी ही जागरुकता एवं निष्ठा रहती है। मण्डली तप भी साधु समुदाय में प्रवेश पाने की एक ऐसी ही क्रिया है जिससे साधक को स्वीकृत चारित्र धर्म एवं समूह की महत्ता ज्ञात होती है और वह संयम धर्म के प्रति पूर्ण वफादार रहता है। प्रबन्धन में वफादरी आवश्यक है। कौन सी क्रियाएँ किस प्रकार करने से अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, इसका ज्ञान होता है जो कि कार्य नियोजन के लिए सहायक है। समूह में कार्य करने से कठिनतर कार्य भी शीघ्रता से पूर्ण होता है जो किसी भी प्रबन्धन का मुख्य लक्ष्य है। इस तपाराधना की शक्ति से साधक अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होता। समुदाय में किस प्रकार रहना आदि का ज्ञान अधिक परिपक्व बनता है। समुदाय नियोजन एवं नियन्त्रण की कला विकसित होती है। इसी प्रकार वैयक्तिक प्रबन्धन में भी मण्डली-विधि सहयोगी है। क्योंकि भीड़ में या समुदाय में रहकर भी किस प्रकार निर्लिप्त रहा जा सकता है, इसकी कला सुगमता से सीखी जा सकती है।

सामुदायिक उत्तरदायित्वों को अच्छे ढंग से निभाते हुए भी उसमें कर्त्तव्य भाव से निर्लिप्त रहने तथा निरपेक्ष वर्तन करने से मन शान्त और एकाग्र रहता है। इसी के साथ विशेष रूप से क्रोध एवं मान प्रबन्धन में यह उपयोगी है, क्योंकि मण्डली में नव दीक्षित मुनि के द्वारा उससे पूर्व दीक्षित उन सभी मुनियों को वन्दन किया जाता है जो भले ही आयु, ज्ञान, क्षयोपशम आदि में अल्प हो अथवा गृहस्थ अवस्था में उसके आश्रित रह चुका हो। मान कषाय को शमित करने का इससे श्रेष्ठ उपाय क्या हो सकता है ? इसी प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों में क्रोधादि आवेश पर भी नियन्त्रण रखना होता है, जिससे क्रोध प्रबन्धन की सीख मिलती है।

इस प्रकार मण्डली तप का अनुष्ठान जीवन को नियन्त्रित एवं सन्तुलित करने का श्रेष्ठ उपाय है।

मण्डली क्रिया की उपादेयता यदि वर्तमान समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में देखी जाए तो इसके द्वारा व्यक्तिगत समस्याएँ जैसे कि मन-वचन-काया की चंचलता, संकल्पशक्ति की कमजोरी आदि को दूर किया जा सकता है। समूह में रहने से

सामुदायिक समस्याएँ जैसे कि आपसी स्पर्धा, मन-मुटाव, एक दूसरे के प्रति अप्रीतिपूर्ण स्थिति, असहयोग आदि को नियन्त्रित करने की शिक्षा मिलती है, क्योंकि साधु जीवन में इन सबके लिए स्थान नहीं होता। इसी प्रकार सामाजिक समस्याएँ जैसे कि टूटते परिवार, एकल परिवार की संस्कृति, कर्त्तव्य विमुखता, सम्बन्धों में बढ़ती स्वार्थवृत्ति आदि नियन्त्रित हो सकती है। किस प्रकार साधु समुदाय निःस्वार्थ भाव से एक-दूसरे के लिए उपयोगी बनते हैं तथा पूर्ण सजगता के साथ समुदाय एवं समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं आदि से समाज को आपसी सहयोग एवं कर्त्तव्य परायणता का बोध मिलता है।

मण्डली योगतप की विधि

आचार्य हरिभद्रसूरि एवं आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार मण्डली प्रवेश के योग उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) के पश्चात करवाये जाने चाहिए, किन्तु वर्तमान में मण्डली योग उपस्थापना के पूर्व भी करवाये जाते हैं। स्पष्टार्थ है कि आवश्यकसूत्र एवं माण्डली के योग चल रहे हो उस दौरान अथवा इन योगों के पूर्ण होने के पश्चात उपस्थापना की जाती है। मांडली योग के प्रत्येक दिन में कुछ खास विधियाँ की जाती हैं। प्रव्रज्या योग विधि (संकलित उपाध्याय मणिप्रभसागरजी म.सा.) के अनुसार तत्सम्बन्धी विधियों का स्वरूप निम्न प्रकार हैं–[1]

प्रातःकालीन विधि

1. वसति संशोधन विधि – इसमें गुरु के आदेश पूर्वक योगवहन करने वाले मुनियों के द्वारा वसति (उपाश्रय) के चारों ओर किसी प्रकार की अशुद्धि न हो, उसका निरीक्षण कर गुरु से निवेदन किया जाता है कि 'वसति शुद्ध' है। यह विधि निम्न है —

सर्वप्रथम वसति संशोधन करें। फिर उपाश्रय में प्रवेश करते समय तीन बार निसीहि कहें। फिर गुरु के समीप जाकर हाथ जोड़कर सिर झुकाकर **'भगवन् सुद्धावसहि'** कहें।

शिष्य – खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने का आदेश लें। **गुरु** - ईर्यापथिक की अनुमति दें। **शिष्य** – इरियावहि॰ तस्स॰ अन्नत्थ॰ कहकर एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग 'सागरवरगंभीरा' तक करें। प्रकट में लोगस्स सूत्र कहें।

शिष्य – खमा. इच्छा. संदि. भगवन् वसति पवेवा मुहपत्ति पडिलेहुं? **गुरु** – पडिलेहेह। **शिष्य** – इच्छं, **शिष्य** – मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदिसह भगवन्! वसति संदिसाहुं? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. भगवन् सुद्धावसहि। **गुरु** – तहत्ति। **शिष्य** – इच्छं।

2. **प्रतिलेखन विधि** – इस विधि के द्वारा रजोहरण- आसन आदि का प्रतिलेखन, शरीरस्थ वस्त्रों का प्रतिलेखन एवं कम्बली-संस्तारक आदि अतिरिक्त वस्त्रों का प्रतिलेखन करने की अनुमति प्राप्त की जाती है।

शिष्य – खमा. इच्छा. संदि. भगवन् इरियावहियं पडिक्कमामि? **गुरु** – पडिक्कमेह। **शिष्य** – इच्छं। पूर्ववत इरियावहि. तस्स. अन्नत्थ. कहकर 'सागरवरगंभीरा' तक लोगस्स का कायोत्सर्ग करें, फिर प्रकट में लोगस्स कहें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! पडिलेहण संदिसाहुं ? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदिसह भगवन्! पडिलेहण करूँ ? **गुरु** – करेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन करें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदिसह भगवन्! अंगपडिलेहण संदिसाहुं ? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदिसह भगवन्! अंग पडिलेहण करूं? **गुरु** – करेह। **शिष्य** – इच्छं। मुखवस्त्रिका सहित अंगस्थ वस्त्रों की प्रतिलेखना करें। यदि अनुकूलता न हो तो केवल मुखवस्त्रिका ही प्रतिलेखित करें। **शिष्य** – खमा. इच्छाकारेण संदिसह भगवन् पसायकरी पडिलेहण पडिलावोजी। **गुरु** – पडिलेहेह। **शिष्य** – इच्छं। मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदिसह भगवन्! उपधि पडिलेहण संदिसाहुं ? **गुरु** – संदिसादेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदिसह भगवन्! उपधि पडिलेहण करूँ? **गुरु** – करेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** –अणुजाणह जस्सुग्गहो वोसिरामि वोसिरामि वोसिरामि। **शिष्य** – खमा. ईर्यापथिक प्रतिक्रमण का आदेश लें।

सूत्र मण्डली उत्क्षेप (प्रवेश) विधि– यह विधि सूत्र मण्डली में प्रवेश करने से सम्बन्धित है। इस विधि के द्वारा मुनि मण्डल के साथ बैठकर सूत्राभ्यास करने की अनुमति प्राप्त की जाती है।

सर्वप्रथम **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सुत्त मण्डली तवं उक्खिवह? **गुरु** – उक्खिवामो। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सुत्त मंडली तवं उक्खिवणत्थं काउसग्गं करूँ? **गुरु** – करेह। **शिष्य** –

इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सुत्त मण्डली तवं उक्खिवणत्थं करेमि काउसग्गं, अन्नत्थसूत्र कह एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें! पूर्णकर प्रकट में नमस्कारमन्त्र बोलें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सुत्त मण्डली तवं उक्खिवणत्थं चेइयाइं वंदावेह। **गुरु** – वंदावेमो। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – वासक्षेप करावेह। **गुरु** – करावेमो। **शिष्य** – इच्छं।

शिष्य– तीन नमस्कारमन्त्र गिनते हुए और तीन प्रदक्षिणा देते हुए तीन बार वासचूर्ण ग्रहण करें। फिर गुरु के वचनों का हृदय से अनुकरण करते हुए खमा. इच्छा. संदि. भगवन् चैत्यवंदन करेमि। इच्छं कह बायाँ घुटना ऊँचा करके चैत्यवन्दन के रूप में जंकिंचि०, णमुत्थुणं०, जावंति०, खमा०, जावंत०, नमोऽर्हत०, उवसग्गहरं०, स्तवन, जयवीयराय०, अरिहंत चेइयाणं०, अन्नत्थ०, एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग कर स्तुति बोलें।

4. प्रवेदन विधि – यह विधि प्रत्याख्यान ग्रहण करने के उद्देश्य से की जाती है।

शिष्य – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा मुहपत्ति पडिलेहुं ? **गुरु** – पडिलेहेह । **शिष्य** – इच्छं। मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा पवेंउ? **गुरु** – पवेयह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! तुम्हे अम्हं श्री सुत्त मण्डली तवं उक्खिवणत्थं पाली तप करशुं ? **गुरु** – करेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. संदि. भगवन्! पसायकरी पच्चक्खाण करावोजी। गुरु आयंबिल का प्रत्याख्यान करावें।

5. स्वाध्याय विधि – यह विधि स्वाध्याय एवं आहार आदि के विषय में उपयोग रखने से सम्बन्धित है। इस क्रिया के द्वारा स्वाध्याय करने और भिक्षाटन करने की अनुज्ञा ली जाती है।

शिष्य – सर्वप्रथम खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसाहुं ? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करूं? **गुरु** – करेह। **शिष्य** – इच्छं। **गुरु** – एक नमस्कारमन्त्र पूर्वक 'धम्मोमंगल' की पाँच गाथाएँ बोलें। फिर पुनः एक नमस्कारमन्त्र कहें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! उपयोग संदिसाहुं ? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! उपयोग करूँ ? **गुरु** – करेह।

शिष्य – इच्छं। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! उपयोग निमित्तं करेमि काउसग्गं, अन्नत्थसूत्र बोलकर एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। प्रकट में पुनः नमस्कारमन्त्र बोलें। **शिष्य** – इच्छा. संदि. भगवन्! **गुरु** – लाभ। **शिष्य** – कहं लेसहं। **गुरु** – जह गहियं पुव्वसाहूहिं। **शिष्य** – इच्छं आवस्सियाए। **गुरु** – जस्स जोगुत्ति। **शिष्य** – शय्यातर घर। **गुरु** – जिसका शय्यातर करना हो उस घर के मालिक का नाम बोलें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! राइ मुहपत्ति पडिलेहुं। **गुरु** – पडिलेहेह। **शिष्य** – इच्छं, मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! राइयं आलोउं? **गुरु** –आलोएह। **शिष्य** – 'इच्छं आलोएमि जो मे राइओ॰ सूत्र' बोलें **शिष्य** – सव्वस्सवि राइय दुच्चिंतिय दुब्भासिय दुचिट्ठिय इच्छा. संदि. भगवन्! **गुरु** – पडिक्कमेह। **शिष्य** – इच्छं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

फिर द्वादशावर्त्त वन्दन पूर्वक इच्छकार सुहराई॰ एवं अब्भुट्ठिओमिसूत्र से गुरुवन्दन करें।

6. अष्ट खमासमण विधि – इस विधि के माध्यम से दो खमासमण द्वारा सूक्ष्म क्रियाएँ जो बहुत बार होती हैं जैसे पलक झपकना, श्वास लेना आदि, जिनका पुनः-पुनः आदेश लेना असम्भव है, उन क्रियाओं को करने की अनुज्ञा ली जाती है। इसी क्रम में दो खमासमण द्वारा आसन पर बैठने का, दो खमासमण द्वारा स्वाध्याय करने का और दो खमासमण द्वारा कंबली आदि ओढ़ने का आदेश लिया जाता है। वह आदेश विधि इस प्रकार है –

1. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! बहुवेलं संदिसाहुं? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। 2. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! बहुवेलं करूँ? **गुरु** – करेह। **शिष्य** – इच्छं। 3. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! बेसणो संदिसाहुं ? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। 4. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! बेसणो ठाउं ? **गुरु** – ठावेह। **शिष्य** – इच्छं। 5. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसाउं? **गुरु** – संदिसावेह।

शिष्य – इच्छं। 6. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करूं ? **गुरु** – करेह। **शिष्य** –इच्छं। 7. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! पांगरणो संदिसाउं ? **गुरु** – संदिसावेह। **शिष्य** – इच्छं। 8. **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! पांगरणो पडिग्गहुं ? **गुरु** – पडिग्गहेह। **शिष्य** – इच्छं।

सायंकालीन विधि

वसति संशोधन विधि – प्रात: काल के समान वसति निरीक्षण कर गुरु से निवेदन करें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! वसति पवेवा मुहपत्ति पडिलेहुं ? **गुरु –** पडिलेहेह। **शिष्य –** इच्छं। योगवाही शिष्य मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर दो वांदणा दें। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! वसति संदिसाहुं ? **गुरु –** संदिसावेह। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. भगवन् सुद्धावसहि! **गुरु –** तहत्ति। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! बहुपडिपुण्णापोरिसी। **गुरु –** तहत्ति। पुन: ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

प्रतिलेखन विधि– शिष्य – खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! पडिलेहण करूँ ? **गुरु –** करेह। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! वसहिं पमज्जेमि? **गुरु-** पमज्जेह। **शिष्य –** इच्छं। शिष्य मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! अंगपडिलेहण संदिसाहुं ? **गुरु –** संदिसावेह। **शिष्य –** इच्छं। मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! इरियावहियं पडिक्कमामि ? **गुरु –** पडिक्कमेह। **शिष्य –** इच्छं। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। **शिष्य –** खमा. इच्छकारी भगवन् पसायकरी पडिलेहण पडिलावोजी। **गुरु –** पडिलेहेह। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! उपधि मुहपत्ति पडिलेहुं ? **गुरु –** पडिलेहेह। **शिष्य –** इच्छं। योगवाही शिष्य मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसाहुं ? **गुरु-** संदिसावेह। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय करूं ? **गुरु –** करेह। **शिष्य –** इच्छं।

गुरु एक नमस्कारमन्त्र बोलकर दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की 'धम्मोमंगल' आदि पाँच गाथाएँ बोलकर पुन: एक नमस्कारमन्त्र बोलें।

सूत्र मण्डली निक्षेप (बाहर निकलने की) विधि– शिष्य – खमा. इच्छा. संदि. भगवन् सुत्त मण्डली तवं निक्खिवह? **गुरु –** निक्खिवामो। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन् सुत्त मण्डली तवं निक्खिवणत्थं काउस्सग्गं करूँ? **गुरु –** करेह। **शिष्य –** इच्छं। **शिष्य –** खमा. इच्छा. संदि. भगवन् सुत्त मण्डली तवं निक्खिवणत्थं करेमि काउसग्गं,

अन्नत्थसूत्र कहकर एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। फिर पूर्णकर पुनः नवकार मन्त्र बोलें। **शिष्य** – खमा. इच्छा. संदि. भगवन् सुत्त मण्डली तवं निक्खिवणत्थं चेइयाइं वंदावेह? **गुरु** – वंदावेमो। **शिष्य** – इच्छं **शिष्य** – वासक्षेपं करावेह। **गुरु** – करावेमो। **शिष्य** – इच्छं।

फिर पूर्ववत चैत्यवन्दन से लेकर गुरुवंदन तक सम्पूर्ण विधि करें।

खमासमण विधि– सर्वप्रथम पूर्ववत दो खमासमण के द्वारा स्वाध्याय करने की अनुज्ञा लें। फिर दो खमासमण द्वारा आसन पर बैठने की अनुमति लें। फिर दो खमासमण पूर्वक पांगरणो-कंबली आदि ओढ़ने का आदेश लें।

अन्त में यह विधि करते हुए अविधि आशातना लगी हो, उसका मिच्छामि दुक्कडं दें।[1]

उपर्युक्त विधियाँ सूत्र मण्डली की अपेक्षा कही गयी हैं। ये विधियाँ मण्डली योग के प्रथम दिन की जाती हैं। अन्य दिनों में छः मण्डली के निमित्त उस-उस मण्डली का नाम लेकर पूर्वोक्त विधियाँ ही करते हैं।

तुलनात्मक विवेचन

जब हम मण्डली प्रवेश तप विधि के सम्बन्ध में तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो इसका प्राचीन और अर्वाचीन उभय स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यदि प्राचीनता की दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो आगम एवं आगमिक टीका-साहित्य में लगभग मण्डली-विधि की चर्चा प्राप्त नहीं होती है। इससे अनुमानित होता है कि यह तप-विधि आगमेतर कालीन है।

इस विधि का सर्वप्रथम उल्लेख पंचवस्तुक में प्राप्त होता है, किन्तु उसमें मण्डली प्रवेश हेतु सात आयंबिल करने मात्र का ही निर्देश है। वे सात आयंबिल किस मण्डली के निमित्त किये जाने चाहिए एवं उसकी विधि क्या है? इसका कोई वर्णन नहीं है।[2] इसके पश्चात सात मण्डली के नाम सर्वप्रथम प्रवचनसारोद्धार में उपलब्ध होते हैं।[3] इसके अनन्तर सप्त मण्डली के नाम क्रमशः तिलकाचार्य सामाचारी,[4] सुबोधासामाचारी,[5] सामाचारी प्रकरण,[6] विधिमार्गप्रपा,[7] आचारदिनकर[8] आदि ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं किन्तु मण्डली प्रवेश किस विधि पूर्वक किया जाना चाहिए, इसका वर्णन अप्राप्त है। परवर्ती मौलिक ग्रन्थों में भी इसकी चर्चा लगभग नहीं है, परन्तु सामाचारी प्रधान संकलित ग्रन्थों में इस विधि का उल्लेख अवश्य है और वह निःसन्देह

परम्परागत आचार्यों द्वारा निर्मित मालूम होती है।

यदि तुलनापरक दृष्टि से मनन किया जाए तो पूर्वोक्त ग्रन्थों में मण्डली के प्रकारों एवं नामों को लेकर कहीं भी असमानता नहीं है केवल मूल गाथा पाठ में किञ्चिद् शाब्दिक भिन्नता देखी जाती है, अर्थ की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। यह पाठ भेद भी प्रवचनसारोद्धार,[9] तिलकाचार्य सामाचारी[10] एवं सुबोधा सामाचारी[11] में है शेष ग्रन्थों में यह विवरण सुबोधासामाचारी के अनुसार दिया गया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भले ही मण्डली तप विधि विक्रम की 5वीं शती और आठवीं शती के मध्य अस्तित्व में आयी हों किन्तु अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने से श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय में यह आज भी प्रचलित है।

उपसंहार

मण्डली तप यह श्रमण संघ में प्रविष्टि का सिंह द्वार है। मुनि धर्म की चर्याओं का प्राथमिक उपक्रम है। यह एक ऐसा द्वार है, जिसमें प्रवेश करने वाला साधक चारित्रधर्म की अनुपालना कठोरता के साथ करने हेतु प्रयत्नशील बन जाता है। वस्तुत: जिस साधक के भीतर चारित्रिक क्रियाओं के प्रति गहरी रुचि हो, आन्तरिक उत्साह हो, वही नूतन दीक्षित मुनि इस तपाराधना के लिए तत्पर बनता है, क्योंकि एकाकी साधना जघन्योत्कृष्ट दोनों प्रकार की हो सकती है वहाँ अन्य मुनि साथी क्या कहेंगे ? क्या सोचेंगे ? यह भय नहीं रहता है जबकि सामूहिक साधना में यह स्थिति निरन्तर बनी रहती है, इसलिए बहुश: अनचाहे भी संयम धर्म की निर्दोष परिपालना हो जाती है। इसी के साथ कमजोर साधक भी कठोर एवं शुद्धचर्या पालन के अभ्यासी हो जाते हैं। यह इस तप की उपादेयता कही जा सकती है।

सामान्यतया यह तप नवदीक्षित शैक्ष को बलात या हठात नहीं, अपितु उसकी पूर्ण स्वीकृति पूर्वक श्रमण मण्डल में सम्मिलित करने हेतु करवाया जाता है। इस तपोनुष्ठान के माध्यम से शैक्ष को यह संकेत दिया जाता है कि श्रमण मण्डली के साथ आराधनारत रहते हुए तुम्हें अहंकार-आग्रह आदि दूषणों का त्याग करना होगा, विनय-नम्रता-सरलता आदि गुणों को विकसित करना होगा और गुरु की अनुशासन मर्यादा को स्वीकार करना होगा, तभी मण्डली प्रवेश की सार्थकता है और इसी में चारित्र धर्म की मूल्यवत्ता है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि मण्डली में प्रवेश देने हेतु तप क्यों जरूरी है? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि जैसे बालक को पाठशाला में प्रवेश दिलवाने से पूर्व शुल्क जमा करना जरूरी है, सुयोग्य गृहिणी बनने के लिए गृह कार्यों में निपुण बनना एवं उस योग्यता को अर्जित करने हेतु पूर्वाभ्यास करना आवश्यक है, श्रेष्ठ व्यापारी बनने के लिए उस तरह का शिक्षण प्राप्त करना अनिवार्य है, वैसे ही मुनि जीवन की विशिष्ट योग्यता पाने हेतु तप साधना का उपक्रम अत्यावश्यक है।

दूसरा तथ्य यह है कि डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक जैसे सामान्य पद भी बिना श्रम या पुरुषार्थ के प्राप्त नहीं होता तब मुनि संघ की सदस्यता बिना किसी विशिष्ट साधना के कैसे प्रदान की जा सकती है ? तपश्चरण एक विशिष्ट साधना का अंग है। इसे मण्डली प्रवेश का शुल्क भी कह सकते हैं।

तीसरा महत्त्वपूर्ण हेतु यह है कि इस तपश्चरण के द्वारा विशिष्ट योग्यताएँ भी हासिल होती है क्योंकि मण्डली प्रवेश योग्य मुनि को ही दिया जाता है और वही मुनि चारित्र धर्म का विस्तार कर सकता है। यह युक्तिसंगत भी है, क्योंकि योग्य व्यक्ति के हाथ में दिये गये धन का सदुपयोग ही नहीं अपितु उसका सहस्रगुणा विस्तार भी होता है। चारित्र धर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भी यह तपोविधान परमावश्यक मालूम होता है।

आचार्यों की दृष्टि में इसका उद्देश्य चारित्र धर्म का विकास करना है। इसे श्रमण जीवन का प्रथम सोपान कहा जा सकता है। इसके अंतर्गत नव दीक्षित मुनि को यह प्रबोध दिया जाता है कि वह श्रमण मंडल के साथ आराधनारत रहते हुए अहंकार-आग्रह आदि बुराइयों का त्याग करें, विनय, नम्रता, सरलता आदि गुणों को अपनाए। मुनि जीवन की विशिष्ट योग्यता पाने के लिए तप साधना का उपक्रम आवश्यक माना गया।

सन्दर्भ-सूची

1. *प्रव्रज्यायोगविधि, पृ. 77-120.*
2. *तत्तो य कारविज्जइ, तहाणुरूवं तवोवहाणं तु।*
   आयंबिलाणि सत्त उ, किल निअमा मंडलि पवेसो।।
   पंचवस्तुक, गा. 674

3. *सुत्ते अत्थे भोयण काले, आवस्सए य सज्झाए।*
संथारे चेव तहा, सत्तेया मंडली जइणो।।

प्रवचनसारोद्धार, 87/692

4. *सुत्ते अत्थे भोयण काले, आवस्सए य सज्झाए।*
संथारए य मंडलि, अंबिलए सत्ततो कुणइ।।

तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 26

5. *सुत्ते अत्थे भोयण काले, आवस्सए य सज्झाए।*
संथारएऽवि य तहा, सत्तेया मंडली हुंति।।

सुबोधासामाचारी, पृ. 15

6. *सामाचारीप्रकरण, पृ. 16*
7. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 109*
8. *आचारदिनकर, पृ. 88*
9. *प्रवचनसारोद्धार, 87/692*
10. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 26*
11. *सुबोधासामाचारी, पृ. 15*

●

अध्याय-6

केशलोच विधि की आगमिक अवधारणा

केशलुंचन जैन श्रमण की आचार संहिता का अभिन्न अंग है। जैन धर्म के अतिरिक्त यह चर्या अन्य किसी धर्म में विद्यमान नहीं है। जैन धर्म की यह वैशिष्ट्य पूर्ण क्रिया मुनि जीवन की कठोरतम साधना है और कष्ट सहिष्णुता का अनुपम उदाहरण है। वस्तुतः इस आचार का पालन दैहिक आसक्ति को न्यून करने एवं कषायों के उत्पाटन के उद्देश्य से किया जाता है।

केश लोच का शाब्दिक अर्थ

'लुञ्च्' धातु से निष्पन्न लोच शब्द के कई अर्थ हैं – तोड़ना, खींचना, उखाड़ना आदि।[1] यहाँ उखाड़ना अर्थ अभीष्ट है क्योंकि केशराशि को हाथ से उखाड़ना या निकालना लोच या केशलुञ्चन कहलाता है। इसे केशोत्पाटन भी कहते हैं।

केशलुंचन की आवश्यकता क्यों ?

केशलुंचन की अनिवार्यता को सुसिद्ध किया जा सके, ऐसे कुछ प्रयोजन निम्न हैं–

जैन श्रमण निष्परिग्रही होते हैं, उनके पास एक कौड़ी भी नहीं रहती है तब वे दूसरों से क्षौर कर्म कैसे करवा सकते हैं ?

केशलोच का दूसरा प्रयोजन अयाचना है। जैन श्रमण किसी भी स्थिति में दीनता नहीं दिखलाते, किन्तु दूसरों से क्षौर कर्म करवाने पर उसे देने के लिए पैसे की याचना करनी होगी, जो दीनता को व्यक्त करता है।

केशलुंचन का तीसरा प्रयोजन अहिंसा व्रत का परिपालन है। यदि केशराशि बढ़ा दी जाये और उसकी साफ-सफाई भलीभांति न की जाये तो पसीना आदि के कारण जूं, लीख आदि के उत्पत्ति की पूर्ण सम्भावना रहती हैं जिससे हिंसाजन्य दोष लगता है।

केशलोच का चौथा प्रयोजन कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास करना है। केशोत्पाटन क्रिया से कष्ट सहन का अभ्यास होता है और सुखशीलता का नाश होता है।[2]

इन उद्देश्यों के अतिरिक्त 'जैन साधना का मार्ग विशुद्ध है' ऐसा अहोभाव पैदा होता है। 'जैन श्रमण के आचारमूलक नियम अति विशिष्ट हैं' ऐसी अन्तरंग श्रद्धा प्रस्फुटित होती है। 'मैं परम सौभाग्यशाली हूँ– मैंने तीर्थङ्करों द्वारा आचरित सम्यक् पथ का अनुकरण किया है' ऐसा आत्मिक भावोल्लास पैदा होता है आदि अनेक हेतुओं से केशलोच की आवश्यकता पुष्ट होती है।

केशलोच अन्य अपेक्षाओं से भी उपादेय है जैसे कि जो व्यक्ति सुखशील होते हैं वे केशोत्पाटन की कल्पना ही नहीं कर सकते। यदि यह सच्चाई समझ में आ जाये तो हृदय अनुमोदना से भर जाता है। जो धर्मपरायण होते हैं वे प्रतिक्षण ऐसे साधकों की छवि उच्चादर्श के रूप में अपने समक्ष रखते हैं। जो व्यक्ति विकास की चरम सीमा को पार करना चाहते हैं वे कठिन परिस्थितियों एवं बाधाओं के समुपस्थित होने पर केश लुंचन करने वाले साधकों का स्मरण करते हुए स्वयं को बाधाओं से पार ले जाते हैं। जो संवेदनशील होते हैं वे उन महापुरुषों को भगवान तुल्य समझते हुए स्वयं को सर्वात्मना समर्पित कर देते हैं।

विविध दृष्टियों से केशलोच की प्रासंगिकता

केशलोच जैन साधना पक्ष से सम्बन्धित एक कठिनतम क्रिया है। इसे देखकर जैन मुनि की दुष्कर साधना का परिज्ञान होता है। यदि केश लुंचन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव देखा जाये तो यह साधक मन को संयम मार्ग की दुष्कर स्थितियाँ सहन करने के लिए तैयार करता है। साधना पक्ष को परिपुष्ट और मनोबल को सुदृढ़ करता है। मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से आरोग्य लाभ होता है तथा स्वयं का लोच करते समय विरक्ति के भाव अधिक तीव्र बनते हैं।

यदि वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो केशलोच करने एवं करवाने से कर्म निर्जरा होती है। परम्परा का निर्वाह होता है, स्वयं के द्वारा कष्ट सहने की सीमा का अहसास होता है, सहिष्णुता विकसित होती है। दीक्षा दाता गुरुजनों के प्रति अहोभाव में वृद्धि होती है। बालों में पसीने आदि के कारण जीवोत्पत्ति की सम्भावना रहती है जिससे अहिंसा व्रत दूषित होता है। मस्तिष्क में खुजली आदि करने से फुन्सी फोड़ा आदि भी हो सकता है जिसके लिए

शल्यक्रिया आदि करवाने पर साधु दोष का भागी बनता है।

केश सुन्दरता के प्रतीक हैं, अतः इनके कारण मुनियों के शीलव्रत खण्डित होने की सम्भावना भी रहती है तथा उन्हें संवारने के लिए साधनों की भी आवश्यकता रहती है। लोच करवाने से साधु इन सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है।

यदि लोच क्रिया की उपादेयता के विषय में सामाजिक अनुशीलन किया जाए तो साधु के स्वावलम्बी जीवन का एहसास होता है। मुनि धर्म के प्रति आस्था का उदय होता है। साधु को मुण्डन आदि के लिए नापित पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। इन नियमों से परिचित होने पर सामान्य गृहस्थ में भी कष्ट सहिष्णुता का अभ्यास होता है। बालों को उखाड़ने से मस्तिष्क तन्त्र प्रभावित होता है तथा स्नायु तन्त्र एवं रक्त प्रवाह सन्तुलित बनता है। इसके द्वारा ब्रह्मचर्य पालन में दृढ़ता आती है।

यदि लोच के विषय में प्रबन्धन की दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो यह क्रिया कषाय प्रबन्धन, वासना प्रबन्धन एवं इन्द्रिय प्रबन्धन में मुख्य सहायक हो सकती है। लोच-क्रिया करने एवं करवाने में साहस की आवश्यकता होती है। उस समय हो रहे कष्ट को सहने से क्रोध आदि कषाय को उपशान्त करने में भी सहायता प्राप्त होती है। लोच करवाने हेतु व्यक्ति को अपना मस्तक झुकाना पड़ता है जिससे मान गलता है तथा पारस्परिक स्नेह भाव में भी वृद्धि होती है। इससे क्रोधादि कषाय नियन्त्रित होते हैं जिसके फलस्वरूप कषाय प्रबन्धन में सहायता मिलती है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण सधता है। लोच करते समय मन, वचन और काया तीनों की एकाग्रता आवश्यक है। इसी के साथ लम्बी अवधि तक एक स्थान पर बैठने से कायक्लेश तप का लाभ मिलता है। इन्द्रिय चेष्टाओं में भी न्यूनता आती है। इससे इन्द्रिय-प्रबन्धन में सहयोग मिलता है। काम वासनाओं पर विजय पाने का भी यह उत्तम उपाय है। लोच से अप्रमत्तता में विकास होता है और कामोत्तेजक ग्रन्थियाँ शान्त होती हैं फलतः कामवासना स्वतः नियन्त्रित होती है। साधु की अन्य क्रियाएँ भिक्षाटन आदि भी विषय नियन्त्रण में सहयोगी होती हैं, अतः केशलोच के द्वारा वासना प्रबन्धन (Sensuary pleasure management) भी होता है।

यदि आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में लोच विधि का महत्त्व आंका जाए

तो लोच के द्वारा वैयक्तिक समस्याएँ जैसे कि चित्त एवं काया की अस्थिरता, क्रोधादि कषाय पर अनियन्त्रण, इन्द्रिय असंयम आदि पर विजय प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि लोच क्रिया में चित्त स्थैर्य, क्षमाभाव आदि का होना अत्यन्त अनिवार्य है। इस साधना से पारिवारिक समस्याएँ जैसे कि आपसी मनमुटाव, असहिष्णुता, बड़ों के प्रति अविनय आदि को सुलझाया जा सकता है, क्योंकि लोच करने एवं करवाने वाले में आपसी सहयोग और सामञ्जस्य के भाव होना जरूरी है। आज साम्प्रदायिक तनाव, आपसी मनमुटाव आदि का मूल कारण असहिष्णुता भी है, लोच के द्वारा इस पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।

केशलुंचन के प्रकार

श्रमणाचार का प्रतिपादक श्री कल्पसूत्र नामक आगम में लुंचन के तीन प्रकार उल्लिखित हैं[3] —

1. केशलुंचन (अपने हाथों से केश उखाड़ना)
2. क्षुरमुण्डन (उस्तरे द्वारा मुण्डन करवाना)
3. कर्त्तरीमुण्डन (कैंची द्वारा बाल काटना)।

इन तीन प्रकारों में केशलुंचन उत्सर्ग मार्ग है तथा क्षुर एवं कर्त्तरीमुण्डन अपवादमार्ग है। यथासम्भव उत्सर्ग मार्ग का ही सेवन करना चाहिए।

केशलुंचन के अधिकारी कौन ?

पूर्वोक्त तीन प्रकारों में कौन- किस प्रकार के मुण्डन का अधिकारी है? इस सम्बन्ध में आगमिक प्रमाण तो प्राप्त नहीं है, किन्तु परम्परागत रूप से कहा जाता है कि स्वस्थ, सक्षम, पुष्टकाय एवं परिपक्व आयु वाले मुनि को केशलोच करना चाहिए, अन्यथा वह प्रायश्चित्त का भागी होता है। बाल, तपस्वी, निर्बल, रूग्ण या अपरिपक्व मुनि केशलोच में असमर्थ हो तो उनकी मानसिक स्थिति का आंकलन करते हुए क्षुरमुण्डन करना चाहिए। यदि केशलोच करवाने में सक्षम हों तो बाल, तपस्वी आदि मुनियों का केशलुंचन ही करना चाहिए। क्षुरमुण्डन में किसी प्रकार का दोष तो नहीं; किन्तु यह मूलमार्ग नहीं है।

किसी मुनि के सिर पर छाले, फुन्सी आदि हो गयी हों अथवा कोई मुनि मस्तिष्क ज्वर आदि से पीड़ित हो तो कैंची द्वारा मुण्डन करना चाहिए। फुन्सी आदि की स्थिति में क्षुर का प्रयोग और अधिक हानिकारक हो सकता है, अतः तीसरा प्रकार कुछ स्थितियों में ही आचरणीय है।

इस प्रकार केशलोच के तीन प्रकार भिन्न-भिन्न पात्रों की अपेक्षा निर्दिष्ट हैं। अत: जो जिस मार्ग का अधिकारी हो उसे उस मार्ग का अनुगमन करना चाहिए। यद्यपि केशलुंचन सर्वोत्कृष्ट एवं बहुनिर्जरा का कारण है।

केशलुंचन की काल मर्यादा

केशलोच के इन तीन प्रकारों में कौन-सा लोच, कितने समय की अवधि के पश्चात किया जाना चाहिए ? जैन शास्त्रों में इस विषयक भिन्न-भिन्न अवधि निर्धारित की गयी है।

स्थानांग-व्यवहार आदि सूत्रों में तीन प्रकार के स्थविर निरूपित हैं[4]—

1. वयस्थविर – सत्तर वर्ष की पर्याय वाला श्रमण वयस्थविर कहलाता है।
2. ज्ञानस्थविर – अनेक आगम ग्रन्थों का ज्ञाता ज्ञानस्थविर कहलाता है।
3. प्रव्रज्यास्थविर – बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण प्रव्रज्या स्थविर कहलाता है।

कल्पसूत्र के अनुसार इन तीन प्रकार के स्थविर मुनियों के अतिरिक्त अन्य मुनियों को छह-छह मास के अन्तर से केशलूंचन कर लेना चाहिए। यह परम्परा लगभग आज भी मौजूद है।

उक्त तीन प्रकार के स्थविरों में से जो एक भी प्रकार का स्थविर हो तो उसे एक-एक वर्ष के अन्तर से केशलुंचन करना चाहिए।[5] यदि अपवादमार्ग का सेवन कर रहे हों तो—

1. उस्तरे के द्वारा एक-एक मास के बाद मुण्डन करना चाहिए। क्योंकि इस विधि में केशराशि जल्दी बढ़ जाती है। केश- शरीर शोभा का एक प्रकार है जो मुनि के लिए सर्वथा त्याज्य है।

2. कैंची के द्वारा पन्द्रह-पन्द्रह दिन के अन्तर से केशलुंचन करते रहना चाहिए। उस्तरे की अपेक्षा कैंची से काटे गये केश और जल्दी बढ़ जाते हैं अत: इस मुण्डन की काल मर्यादा पन्द्रह दिन की बतायी गयी है।

दिगम्बर परम्परानुसार प्रत्येक दो माह के पश्चात केशलोच करना उत्कृष्ट है। तीन-तीन माह के पश्चात केशलोच करना मध्यम है और चार-चार माह के बाद केशलुंचन करना जघन्य है।[6] इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी काल की अपेक्षा से केशलुंचन के तीन प्रकार माने गये हैं। इस परम्परा में केशलोच का ही विधान है, क्षुरमुण्डन या कर्त्तरीमुण्डन को किसी भी स्थिति में मान्य नहीं

किया गया है। यही वजह है कि दीक्षाग्रहण के दिन भी केशलोच ही किया जाता है जबकि शेष परम्पराओं में नापित द्वारा केशमुण्डन होता है।

केशलुंचन से होने वाले लाभ

आचार्य जिनचन्द्रसूरि रचित संवेगरंगशाला में केशलुंचन के कई लाभ इस प्रकार प्रतिपादित हैं[7]–

1. इससे महासात्विकता प्रकट होती है। 2. तीर्थङ्कर परमात्मा की आज्ञा का अनुपालन होता है। 3. तीर्थङ्कर की आज्ञा का अनुगमन करने से उनका बहुमान होता है। 4. कष्ट अथवा पीड़ा सहन करने की क्षमता प्रकट होती है। 5. नरकादि कष्टों का स्मरण करने से निर्वेद गुण प्रकट होता है। 6. स्वयं की सहनशीलता की परीक्षा होती है। 7. सहनशीलता में सफल होने पर धर्म के प्रति श्रद्धा होती है। 8. सुखशीलता का त्याग होता है। 9. क्षुरकर्म के द्वारा होने वाले पुरःकर्म एवं पश्चातकर्म के दोषों से साधक बच जाता है। 10. शारीरिक ममत्व बुद्धि अल्प होकर निर्ममत्व की साधना विकसित हो जाती है। 11. शरीर शोभा का त्याग होता है। 12. निर्विकार गुण प्रकट होता है। 13. क्षुधा, मल, अज्ञान आदि बाईस परीषहों को सहन करने की क्षमता भी पैदा हो जाती है और 14. आत्मा का दमन होता है। इस प्रकार लोच करने-करवाने वाला मुनि विविध गुणों से लाभान्वित होता है।

केशलुंचन न करने से लगने वाले दोष

संवेगरंगशाला के अनुसार केशलोच न करने पर निम्नोक्त दोषोत्पत्तियाँ होती हैं[8]–

1. जैन मुनि देहशुद्धि नहीं करते हैं उनका शरीर स्वेदमलादि से युक्त होता है और हवादि से सूख भी जाता है। मैल भी खिर जाता है, किन्तु केश पसीने से गीले रहते हैं तो उसमें मैल जमता रहता है और उस स्थिति में षट्पद जीवों– जूं, लीख आदि के उत्पन्न होने की पूर्ण सम्भावना रहती हैं। अत: मुनि को किसी भी परिस्थिति में लम्बे केश रखना उचित नहीं है।

2. सिर पर मल और जूं के संयोग से खुजली उत्पन्न होती है और बार-बार खुजली करने से जूएँ- लीख आदि मर जाती हैं अथवा उन्हें परिताप पहुँचता है। इस प्रकार अहिंसाव्रत दूषित एवं खण्डित हो जाता है।

3. बार-बार खाज खुजलाने से नख द्वारा घाव भी हो सकता है तथा उससे अन्य पीड़ा भी हो सकती है।

4. उस्तरे या कैंची से सिरमुण्डन करने पर संयम की विराधना होती है और मन का शैथिल्य बढ़ता है।

5. नाई के द्वारा केश साफ कराने पर पूर्वकर्म एवं पश्चात्कर्म का दोष लगता है और जिनशासन की अवहेलना होती है।

6. केश बढ़े हुए रहने से साज-शृंगार शोभा आदि के भाव जागृत हो सकते हैं और पूर्व भोगों का पुनर्स्मरण हो सकता है।

इस प्रकार केशलुंचन न करने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं।

केशलुंचन करने-करवाने वाले मुनि की आवश्यक योग्यताएँ

केशलोच कौन कर सकता है? और केशलोच कौन करवा सकता है ? इस विषय में कहीं कुछ पढ़ने में नहीं आया है।

सामान्यतया केशलुंचन श्रमणाचार का उत्सर्ग मार्ग होने से इस नियम का पालन साधु-साध्वी करते ही हैं तब योग्यता-अयोग्यता का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता इसी कारण तत्सम्बन्धी वर्णन नहीं किया गया हो।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि सामर्थ्य हो तो केशलुंचन स्वयं के द्वारा किया जाना चाहिए। चूंकि तीर्थङ्कर आदि महापुरुषों ने स्वयं ही अपना केश लोच किया था। यदि स्वयं के द्वारा लोच करने का साहस न हो तो अन्य मुनियों से लोच करवाया जा सकता है, किन्तु लोच करने वाला मुनि अभ्यस्त, अनुभवी, परिपक्व आदि गुणों से समन्वित होना चाहिए। लोचग्राही की भी यही योग्यताएँ आवश्यक रूप से स्वीकृत रही हैं। लोच करना भी एक कला है। यदि लोच करने वाला मुनि उस कला में निपुण न हो तो लोच करवाने वाले के लिए पीड़ाकारी बन सकता है। इस सन्दर्भ में सामान्य योग्यताएँ अनुभव के आधार पर समझ लेनी चाहिए।

केशलुंचन के लिए शुभ दिन का विचार

केशलोच किस दिन किया जाना चाहिए ? केशलोच के लिए कौन-सी तिथि, नक्षत्र, वार शुभ माना गया है ? इस सम्बन्ध में विचार करते हैं तो यह चर्चा यत्किञ्चित रूप से सर्वप्रथम गणिविद्या प्रकीर्णक में प्राप्त होती है। इसमें लोच सम्बन्धी अशुभ नक्षत्रों के साथ लोच क्रिया के लिए उत्तम नक्षत्र भी बताये

गये हैं। इसके अतिरिक्त वार, तिथि, दिशा आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है। इस सन्दर्भ में सुस्पष्ट वर्णन विधिमार्गप्रपा में निम्नवत दृष्टिगत होता है–

तिथि एवं दिशा – आचार्य जिनप्रभसूरि के अनुसार एकम और नवमी को पूर्व दिशा में, तृतीया और एकादशी को आग्नेयकोण में, पंचमी और त्रयोदशी को दक्षिण दिशा में, द्वादशी (बारस) और चतुर्थी को नैऋत्य कोण में, षष्ठी और चतुर्दशी को पश्चिम दिशा में, सप्तमी और पूर्णिमा को वायव्य दिशा में, अष्टमी और अमावस्या को ईशानकोण में मुख करके लोच करना या करवाना चाहिए।[9]

वार– केशलोच के लिए सोम, बुध, गुरु, शुक्र ये चार वार श्रेष्ठ माने गये हैं।[10]

नक्षत्र– गणिविद्या के अनुसार केशलोच हेतु हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, धनिष्ठा, पुनर्वसु, रोहिणी एवं पुष्य नक्षत्र प्रशस्त हैं।[11] विधिमार्गप्रपा के मतानुसार पुष्य, पुनर्वसु, रेवती, चित्रा, श्रवण, धनिष्ठा, मृगशिरा, अश्विनी और हस्त – इन नक्षत्रों को शुभ मानना चाहिए।[12]

गणिविद्या के निर्देशानुसार पुनर्वसु, पुष्य, श्रवण, धनिष्ठा इन चारों नक्षत्रों में केशलोच की क्रिया करनी चाहिए।[13] गणिविद्या एवं विधिमार्गप्रपा के अनुसार कृतिका, विशाखा, मघा एवं भरणी इन चार नक्षत्रों में कभी भी लोच नहीं करना चाहिए।[14]

विधिमार्गप्रपाकार ने यह निर्देश भी दिया है कि लोच करवाते समय योगिनी को बायीं ओर अथवा पीठ पीछे रखनी चाहिए तथा लोच करवाने वाले साधु का चन्द्रबल भी देखना चाहिए।

आचारदिनकर में लोच मुहूर्त्त का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि क्षौरकर्म के नक्षत्र न होने पर भी क्षौरकर्म की उत्सुकता हो तो हस्त, चित्रा, स्वाति, मृगशीर्ष, ज्येष्ठा, रेवती, पुनर्वसु, श्रवण एवं धनिष्ठा नक्षत्र में क्षौरकर्म करना शुभ है। जैसा कि कहा गया है कार्य उत्सुकता की स्थिति में, तीर्थ में, प्रेतक्रिया के समय, दीक्षा एवं जन्म के समय, माता-पिता की मृत्यु के समय क्षौरकर्म कराने हेतु नक्षत्रादि का चिन्तन नहीं करना चाहिए।[15]

मुनि कब, किन स्थितियों में लोच करवाएं ?

पूर्वाचार्यों के अनुसार मुनि को उपस्थापना, प्रव्रज्या, वाचनाचार्य पदस्थापना, आचार्य पदस्थापना, प्रवर्त्तिनी पदस्थापना, महत्तरा पदस्थापना एवं पर्यूषण आदि में नियम से लोच करना चाहिए। यदि इस समय शुभ नक्षत्र नहीं हो तो भी कार्य उत्सुकतावश पूर्वोक्त हस्त आदि नक्षत्रों से भिन्न नक्षत्रों में भी लोचादि क्षौरकर्म कर सकते हैं।

कुछ साधु-साध्वी भाद्रमास, पौषमास एवं वैशाखमास में यानी तीनों चातुर्मास में केशलोच करते हैं। कुछ भाद्रमास और फाल्गुनमास यानी छः-छः मास में लोच करते हैं एवं कुछ मुनिगण पर्यूषण पर्व में एक बार ही केशलोच करते हैं। प्रत्येक चार माह के पश्चात केशलोच करना उत्सर्ग मार्ग है।[16]

केशलोच विधि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

जैन-संस्कृति शम प्रधान संस्कृति है। उसमें तपश्चरण एवं उग्र-क्रिया का कुछ अधिक महत्त्व है, परन्तु वास्तविक मूल्य संयम, समता और समत्ववृत्ति का है। जब तक समत्व की भूमिका का निर्माण नहीं होता, उत्कृष्ट रूप से किया गया तप भी कुछ नहीं कर पाता है। समत्व के साथ विवेक का समन्वय भली-भांति होना चाहिए। संस्तारक प्रकीर्णक में यहाँ तक कहा गया है कि अज्ञानी साधक करोड़ों वर्षों में तपश्चरण के द्वारा जितने कर्मों का क्षय नहीं करता है, उतने कर्मों को संयमी एवं विवेकी साधक एक श्वासोश्वास जितने अल्पकाल में नष्ट कर डालता है।[17] विवेकशून्य तप, तप नहीं होता, वह केवल देहदण्डन होता है। यह देहदण्डन तो नारकी जीव हजारों वर्षों तक सहते रहते हैं, परन्तु उनकी कितनी आत्मशुद्धि होती है ?

भगवतीसूत्र के छठवें शतक में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा है जिस प्रकार सूखे घास का गट्ठा अग्नि में डालने के साथ शीघ्रता से भस्म हो जाता है, आग से तप्त लोहे के तवे पर रही हुई जल-बिन्दु तत्काल समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार संयमी की साधनारूपी अग्नि से पापकर्मों के दल के दल तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। अत: जैन साधना में संयम (समता) साधना का स्थान विराट् एवं व्यापक है।

केशलुंचन समत्व अभ्यास की विशिष्टतम प्रक्रिया है। इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि यह साधक अशुभ कर्मों का क्षरण करने हेतु पूर्णत:

कटिबद्ध है और विषम पीड़ाओं को सहन करने में तत्पर बन चुका है। साथ ही यह मुनि अनुदित कर्मों की उदीरणा कर रहा है तथा कायिक कष्टानुभूतियों से स्वयं को पृथक् करने का पुरुषार्थ कर रहा है।

जब हम इसके बाह्य पक्ष को देखते हैं तो यह साधना देहदण्डन के समान लगती है; किन्तु आभ्यन्तर पक्ष से विचार करने पर इसकी मूल्यवत्ता अनेक दृष्टियों से मालूम होती है। यह जैन धर्म की अपनी स्वतन्त्र साधना है। इस विधि का अस्तित्व केवल जैन परम्परा में ही है। इस अपेक्षा से भी जैन धर्म की परिगणना कठोर साधना प्रधान धर्मों में की गयी है।

यहाँ मुख्य रूप से लोच-विधि के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करना है। यदि इस सन्दर्भ में आगम साहित्य का आलोडन करते हैं तो यह विधि प्राचीनतम सिद्ध होती है। यद्यपि आगमों में तद्विषयक विस्तृत चर्चा नहीं है। आचारांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, अनुत्तरौपपातिकदशा, अन्तकृतदशा आदि में 'पंचमुष्टि लोच क्रिया' अथवा 'मुण्डित होकर अणगार बने' इतना मात्र सूचन है, परन्तु केशलोच करने से पूर्व या पश्चात किस प्रकार की विधि सम्पन्न की जाये, इस सम्बन्ध में किंचित भी उल्लेख नहीं है।

आचारांगसूत्र में वर्णन आता है कि 'श्रमण भगवान् महावीर दाहिने हाथ से दायीं ओर का एवं बायें हाथ से बायीं ओर का पंचमुष्टि लोच करते हैं।'[18]

भगवतीसूत्र में उल्लेख है कि 'मुद्गल परिव्राजक ने स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया और श्रमण भगवान महावीर के पास ऋषभदत्त की तरह प्रव्रज्या अंगीकार की।' इस प्रकार के उल्लेख मेघकुमार, अर्जुनमाली, धन्यअणगार आदि के सन्दर्भ में भी मिलते हैं।[19]

जैसे कि ज्ञाताधर्मकथासूत्र[20] में मेघकुमार के द्वारा, अन्तकृद्दशासूत्र[21] में अर्जुनमाली के द्वारा, अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र[22] में काकन्दी निवासी धन्ना अणगार के द्वारा प्रव्रजित होते समय पंचमुष्टि लोच करने का निर्देश उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी प्रकार के विधि-विधान का नामोल्लेख मात्र भी नहीं है। इसी तरह आगमिक टीका साहित्य एवं विक्रम की 10वीं शती तक उपलब्ध ग्रन्थों में भी लगभग इस विधि-सम्बन्धी चर्चा नहीं है।

तदनन्तर केशलोच विधि का प्रारम्भिक एवं सुविकसित स्वरूप सर्वप्रथम तिलकाचार्य सामाचारी में देखा जाता है। तत्पश्चात सुबोधासामाचारी,

सामाचारीप्रकरण, सामाचारी संग्रह, विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है, उसके बाद के परवर्ती ग्रन्थों में यह विधि संकलित रूप से प्राप्त होतीं है, जो विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों के निर्देशानुसार ही वर्णित की गयी है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि केशलोच की परम्परा शास्त्रविहित होने पर भी उसकी विधि 10वीं से 15वीं शती के मध्यवर्ती आचार्यों द्वारा लिखी गयी, जो वर्तमान में अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार प्रचलित है।

केशलोच की प्रचलित विधि

केशलोच से पूर्व करने योग्य विधि

विधिमार्गप्रपा के अनुसार लोच इच्छुक शिष्य गुरु के समीप जायें। फिर दो बार खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन करें। फिर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

तदनन्तर एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर शिष्य कहे – **'इच्छाकारेण संदिसह लोयं संदिसावेमि'** हे भगवन् ! आप अपनी इच्छानुसार लोच करवाने की अनुमति प्रदान करें।

फिर दूसरा खमासमण देकर कहें – **'इच्छा. संदि. लोयं कारेमि'** आपकी अनुमति हो तो लोच करवाऊँ।

फिर तीसरा खमासमण देकर कहें – **'इच्छा. संदि. उच्चासणं संदिसावेमि'** हे भगवन् ! आप उच्च आसन पर बैठने की अनुज्ञा प्रदान करें।

फिर चौथा खमासमण देकर बोलें – **'इच्छा. संदि. उच्चासणं ठामि'** हे भगवन् ! आपकी अनुमति से उच्च आसन पर बैठता हूँ।

उसके बाद वह शिष्य लोच करने वाले मुनि को एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर निवेदन करें – **'इच्छाकारि लोयं करेह'** आप अपनी स्वेच्छा से मेरा लोच करिये। तब लोच करने वाला मुनि लोच करना प्रारम्भ करें।[23]

केशलोच के पश्चात करने योग्य विधि

केशलुंचन हो जाने के पश्चात लोचकृत शिष्य स्थापनाचार्य के सम्मुख ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करे। फिर शक्रस्तव बोलकर चैत्यवन्दन करे। तत्पश्चात गुरु के समीप आकर दो खमासमणपूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्त वन्दन करें।

प्रवेदन विधि – तदनन्तर लोच करवाया हुआ शिष्य एक खमासमण देकर

लोच क्रिया को प्रकट करने की अनुमति ग्रहण करें। फिर दूसरा खमासमण देकर लोच का प्रवेदन किस प्रकार करूँ? इसकी अनुज्ञा ग्रहण करें। फिर तीसरा खमासमण देकर लोच के सम्बन्ध में बताएं कि मैंने लोच की पर्युपासना की है। • फिर चौथा खमासमण देकर मुनि संघ के समक्ष लोच का निवेदन करने की अनुमति प्राप्त करें। • फिर पांचवाँ खमासमण देकर एक नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करें। • फिर छठा खमासमण देकर केशलोच करवाते समय किसी प्रकार का दोष लगा हो, तो उस दोष से निवृत्त होने के लिए कायोत्सर्ग करने की अनुमति मांगें। • फिर सातवाँ खमासमण देकर लगे हुए दोषों का चिन्तन करते हुए अन्नत्थसूत्र बोलकर 'सागरवरगम्भीरा' तक लोगस्स का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। • फिर बड़े-छोटे के क्रम से सभी साधुओं को वन्दन करें। उसके बाद स्वयं विश्राम करें।

जो मुनि अपना लोच स्वयं करता है उसे संदिसावण एवं प्रवेदन विधि नहीं करनी चाहिए।

तपागच्छ आदि परम्पराओं में केशलोच के पूर्व एवं पश्चात कौन सी विधि करते हैं? तत्सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थ देखने में नहीं आये हैं, परन्तु उनके द्वारा संकलित ग्रन्थों में इसकी विधि सामान्य अन्तर के साथ पूर्ववत ही निर्दिष्ट है।

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार **स्थानकवासी** एवं **तेरापंथी परम्पराओं** में मात्र केशलुंचन करने से पूर्व वन्दनपूर्वक गुरु की अनुमति ली जाती है और केशलोच होने के पश्चात गुरु को वन्दना की जाती है। इसके अतिरिक्त कोई क्रियाकाण्ड नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केशलुंचन की यह विधि है[24]– • सर्वप्रथम केशलोचक मुनि पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करे। • फिर 'लोच-प्रतिष्ठापन-क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकल-कर्म-क्षयार्थं, भावपूजावंदना-स्तव समेतं, श्रीलघुसिद्धभक्ति कायोत्सर्ग कुर्वेऽहं' इतना पाठ बोलकर नौ बार नमस्कारमन्त्र का जाप करे। • तदनन्तर लघुसिद्धभक्ति का पाठ बोले। • उसके बाद पूर्ववत 'लोच प्रतिष्ठापन क्रियायां, पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकल कर्म क्षयार्थं, भावपूजा-वंदना-स्तव समेतं, श्रीलघुयोगिभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं' इतना कहकर पूर्ववत नौ बार नमस्कार मन्त्र का चिन्तन करे। • फिर लघुयोगिभक्ति पाठ बोले। इस प्रकार लघुसिद्ध और

लघुयोगिभक्ति पढ़कर लोच प्रारम्भ करे। • लोच समाप्त हो जाने पर पुनः लघुसिद्धभक्ति के निमित्त कायोत्सर्ग करे और वह पाठ बोले।

अनगारधर्मामृत के अनुसार केशलुंचन के दिन उपवास करना चाहिए और केशलोंच सम्बन्धी क्रिया का प्रतिक्रमण भी करना चाहिए।[25]

तुलनात्मक अध्ययन

जैन धर्म में केशलोच-विधि से सम्बन्धित तिलकाचार्यसामाचारी, सुबोधा-सामाचारी, सामाचारीसंग्रह, विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों की परस्पर तुलना की जाए तो निम्न तथ्य ज्ञात होते हैं–

खमासमणसूत्र की दृष्टि से – तिलकाचार्य सामाचारी,[26] सामाचारी-संग्रह[27] एवं विधिमार्गप्रपा[28] में दो खमासमण लोच करने की अनुमति निमित्त एवं दो खमासमण उच्चासन पर बैठने की अनुज्ञा निमित्त, ऐसे चार खमासमण देने का उल्लेख है जबकि सुबोधासामाचारी[29] में दो खमासमण देने का ही निर्देश है। इसमें 1. उच्चासण संदिसावेमि और 2. उच्चासण ठामि के आदेश का उल्लेख नहीं है।

चैत्यवन्दन की दृष्टि से – विधिमार्गप्रपा[30] के अनुसार केशलोच की क्रिया पूर्ण होने के बाद लोच किये हुए साधु को स्थापनाचार्य के समक्ष ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करना चाहिए, फिर शक्रस्तव बोलकर चैत्यवन्दन करना चाहिए। उसके बाद मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर गुरु को द्वादशावर्त्तवन्दन करना चाहिए। यह विधि तिलकाचार्यसामाचारी,[31] एवं सामाचारीसंग्रह[32] में भी समान रूप से कही गयी है, किन्तु इनमें चैत्यवन्दन के बाद 'अड्ढाइज्जेसु सूत्र' बोलने का भी निर्देश दिया गया है जबकि यह निर्देश विधिमार्गप्रपा आदि में नहीं है।

इस सम्बन्ध में सुबोधासामाचारी[33] का पाठ कुछ भिन्न है। इसमें लोच करने के बाद ईर्यापथिक प्रतिक्रमण एवं चैत्यवन्दन करने का उल्लेख नहीं है। इस सामाचारी के अनुसार लोच किया हुआ साधु गुरु के समीप आकर उन्हें द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

तिलकाचार्य सामाचारी एवं सामाचारीसंग्रह में चैत्यवन्दन का उल्लेख भी है, किन्तु चैत्यवन्दन के रूप में कौनसा सूत्र बोला जाना चाहिए, इसका निर्देश नहीं है जबकि विधिमार्गप्रपा में चैत्यवन्दन के रूप में शक्रस्तव बोलने का निर्देश है।

लोचकार के प्रति निवेदन करने की दृष्टि से – जैन संस्कृति विनय प्रधान है। यहाँ प्रत्येक क्रिया करने से पूर्व गुरु की अनुमति प्राप्त करना, गुरु से निवेदन करना, ज्येष्ठ साधुओं का सम्मान करना आदि अपरिहार्य होते हैं। अत: इस सामाचारी के परिपालन एवं विनयधर्म की अक्षुण्णता बनाये रखने हेतु लोच कराने वाले साधु को, लोच करने वाले साधु के प्रति लोच करने का निवेदन करना चाहिए। इस सन्दर्भ में किञ्चित पाठ भिन्नता भी मिलती है।

तिलकाचार्यसामाचारी[34] एवं सामाचारीसंग्रह[35] में लोचकार के प्रति निवेदन करने के दो भिन्न-भिन्न आलापक दिये गये हैं। यदि लोच करने वाला साधु ज्येष्ठ हो तो **'पसायकरी लोच करउं'** यह बोलना चाहिए और लोच करने वाला साधु कनिष्ठ हो तो **'इच्छकार लोच करउं'** ऐसा बोलना चाहिए। इस प्रकार ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ मुनि के प्रति निवेदन करने सम्बन्धी भिन्न-भिन्न पाठ हैं जबकि विधिमार्गप्रपा[36] में लोचकार ज्येष्ठ हो या कनिष्ठ निवेदन करने से सम्बन्धित एक ही आलापकपाठ है। सुबोधासामाचारी[37] में इस प्रकार का कोई निर्देश ही नहीं है।

इस वर्णन से निश्चित होता है कि एक ही परम्परा से सम्बन्धित उक्त ग्रन्थों में जो भी साम्य और वैषम्य है वह सामाचारी या गच्छप्रतिबद्धता की अपेक्षा से ही है मूलत: भेद नहीं है।

उपसंहार

मुनि जीवन पवित्रता का प्रतीक माना जाता है। उसके इस मानदण्ड को बनाये रखने के लिए उनसे कुछ विशेष साधना की अपेक्षा की जाती है। एतदर्थ केशलुंचन करना या करवाना अत्यावश्यक समझा गया है। दिगम्बर-परम्परा में मुनि के अट्ठाइस मूलगुणों में एक मूलगुण केशलुंचन है। इसकी परिगणना मुनि की कठिनतम चर्याओं में की गयी है।

जैन शास्त्र इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर प्रभु ऋषभदेव ने स्वयमेव चार मुष्टि लोच किया था और भगवान महावीर ने स्वयं पंचमुष्टि केशलोच किया था। ऐसा आगमिक उल्लेख है कि आगामी उत्सर्पिणी में होने वाले प्रथम तीर्थङ्कर पद्मनाभ प्रभु स्वयं पंचमुष्टि केशलुंचन करेंगे। इस तरह भूत, वर्तमान और भविष्य में सर्वविरतिधर सभी आत्माएँ जैसे तीर्थङ्कर, सामान्य केवली, गणधर आदि स्वशक्ति के अनुसार

केशलुंचन करते हैं। यह विधि वर्तमान में भी प्रवर्तित है। यद्यपि तीर्थङ्करों के केशलोच और सामान्य मुनियों के केशलोच में अन्तर है। जैसे कि तीर्थङ्कर पुरुषों का संहननबल- धृतिबल प्रकृष्ट होने से वे सम्पूर्ण केशराशि को चार या पांच मुष्टि में ही उखाड़ देते हैं जबकि सामान्य साधकों में वैसा बल न होने के कारण केश उत्पाटन में समय लगता है।[38]

जैनागमों में स्वयं के द्वारा केशलोच करने के भी स्पष्ट उद्धरण मिलते हैं। किसी साधु ने साध्वी का अथवा किसी साध्वी ने साधु का केशलुंचन किया हो, ऐसा उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है। आगमों के अनुसार तो अतिमुक्त, गजसुकुमाल, मेघकुमार आदि लघुवयी राजकुमारों, श्रेष्ठिपुत्रों आदि ने अपने केशों का उत्पाटन स्वयं ही किया था। राजमती आदि निर्ग्रन्थिनियों ने भी अपने केश स्वयं ही उखाड़े, ऐसा प्रमाण उपलब्ध है। अधुनाऽपि बहुत से साधु-साध्वी अपना केशलुंचन स्वयं ही करते हैं और दूसरों से भी करवाते हैं। इस समय दोनों परम्पराएँ प्रचलित हैं।

यह भी उल्लेख्य है कि लोच-विधि का व्यवस्थित स्वरूप 10वीं शती के अनन्तर दिखाई देता है। तदनुसार लोच करते समय गुर्वानुमति प्राप्त करना, लोचकार को लोच करने का निवेदन करना एवं लोच करने के पश्चात पूर्ण होने की सूचना देना, अरिहन्त का विनय करने हेतु चैत्यवन्दन करना तथा लगे हुए दोषों की शुद्धि करना आदि कृत्य सम्पन्न किये जाते हैं। इन क्रियाओं का मूलोद्देश्य नम्रता गुण को प्रकट करना है। जैन धर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है। विनय जिनशासन का मूल है 'विणओ जिणसासणमूलं।'

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन है, उसका कैसा धर्म और कैसा तप?

लोच विधि का समीक्षात्मक पहलू से विचार किया जाए तो पाते हैं कि यह शारीरिक दृष्टि से आरोग्यता प्रदान करता है। सिर पर केश, पसीना और मल जमा नहीं होने से दिमाग तरोताजा या शान्त रहता है, केश उखाड़ने से मस्तिष्कीय नाड़ीतन्त्र सक्रिय हो जाता है। इससे बुद्धि तीक्ष्ण एवं सूक्ष्मग्राही बनती है।

धार्मिक दृष्टि से यह समभाव की साधना का एक प्रयोग है। आध्यात्मिक दृष्टि से साधक को आत्मा और शरीर के भेद का बोध होता है। केशलोच

सुखशीलता का त्याग करने वाला और साधनामय जीवन की कठिनाइयों का अनुभव कराते हुए अकिंचनता का बोध कराने वाला उपक्रम है। वस्तुतः केशलोचन मुनि जीवन की पवित्रता को रेखांकित करने वाला एक चर्या है।

केशलोचन के फलस्वरूप कषाय, आवेश, आवेग के नियंत्रण, मन, वचन और काया की एकाग्रता, चित्त की स्थिरता, क्षमाभाव, आत्मनियंत्रण आदि भावों की उत्पत्ति होती है।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ. 880*
2. *अनगारधर्मामृत, 9/97*
3. *कल्पसूत्र, सू. 284*
4. *(क) स्थानाङ्गसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/2/187*
   (ख) व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/16
5. *(क) दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि। दसवीं दशा, पृ. 558*
   (ख) वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ गोलोमप्पमाणमित्ते वि केसे तं रयणिं उवायणावित्तए। अज्जेणं खुरमुंडेण वा लुक्कसिरएण वा होयव्वं सिया। पक्खिया आरोवणा, मासिए खुरमुंडए, अद्धमासिए कत्तरिमुंडे, छम्मासिए लोए, संवच्छरिएवा थेरकप्पे।
   कल्पसूत्र, 284
6. *अनगारधर्मामृत, 9/86*
7. *संवेगरंगशाला, जिनचन्द्रसूरि (प्रथम), गा. 1220-1221*
8. *वही, गा. 1222*
9. *विधिमार्गप्रपा - सानुवाद, पृ. 101*
10. *वही, पृ. 102*
11. *गणिविद्या, गा. 24*
12. *विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 101*
13. *गणिविद्या, गा. 25*
14. *(क) गणिविद्या, गा. 26*
    (ख) विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 102
15. *आचारदिनकर, पृ. 134*
16. *वही, पृ. 134*
17. *संस्तारक प्रकीर्णक, 18*

18. तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं।
दाहिणं वामेणं वामं पंचमुट्ठियं लोयं करेइ।।
आचारचूला, आ. महाप्रज्ञ, 15/30

19. तएणं आलंभियाए नगरीए ....सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति .... उसभदत्ते तहेव पव्वइओ। भगवतीसूत्र, मधुकरमुनि, 11/12/24

20. तए णं से मेहे कुमारे सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ।
ज्ञाताधर्मकथासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/159

21. तएणं से अज्जुणए मालागारे उत्तरपुरत्थिमं ......
...... सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ।
अन्तकृद्दशासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 6/13

22. तए णं धण्णे दारए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ जाव पव्वइए।
अनुत्तरौपपातिकदशा, संपा. मधुकरमुनि, वर्ग 3/5

23. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 101-102
24. श्रमणाचार, संपा. पं. लाडलीप्रसाद जैन, पृ. 314-316
25. अनगारधर्मामृत, 9/86
26. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 22-23
27. सामाचारीसंग्रह, पृ. 53-54
28. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 101-102
29. सुबोधासामाचारी, पृ. 15
30. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 101-102
31. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 22-23
32. सामाचारीसंग्रह, पृ. 53-54
33. सुबोधासामाचारी, पृ. 15
34. तिलकाचार्य सामाचारी, पृ. 22-23
35. सामाचारीसंग्रह, पृ. 53-54
36. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 101
37. सुबोधासामाचारी, पृ. 15
38. विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ?
आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1216

●

अध्याय-7

उपस्थापना (पंचमहाव्रत आरोपण) विधि का रहस्यमयी अन्वेषण

यह विधि पंचमहाव्रत आरोपण करने से सम्बन्धित है। इस संस्कार के द्वारा नूतन दीक्षित मुनि को पाँच महाव्रत अंगीकार करवाये जाते हैं। जैन धर्म में मुमुक्षु जीवों को श्रमण संघ में प्रवेश देने हेतु दो बार व्रतारोपण संस्कार-विधि करवाने का प्रावधान है। प्रथम बार यावज्जीवन के लिए सामायिक व्रत में स्थिर रहने की प्रतिज्ञा दिलवायी जाती है इसे प्रव्रज्या, दीक्षा, लघु दीक्षा आदि कहते हैं। दूसरी बार यावज्जीवन के लिए पंचमहाव्रतों का आरोपण किया जाता है, इसे बड़ी दीक्षा और उपस्थापना कहते हैं। शास्त्रीय परिभाषा में इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र भी कहा गया है। यह संस्कार पंचमहाव्रतों एवं छठे रात्रि भोजन विरमणव्रत की प्रतिज्ञा से आबद्ध करने के प्रयोजनार्थ करवाया जाता है। प्रव्रज्याकाल में तो साधक सावद्य व्यापारों का वर्जन कर जीवनपर्यन्त के लिए सामायिक चारित्र ही ग्रहण करता है जबकि उपस्थापना द्वारा उसे महाव्रतों का आरोपण करवाया जाता है। इसी के साथ-साथ नव दीक्षित को मुनि संघ में बैठकर आहार, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि क्रियाएँ करने की अनुमति भी प्रदान की जाती है तथा श्रमणसंघ में सम्मिलित कर उसे मुनि संघ का सदस्य बनाया जाता है।

इस विधि-प्रक्रिया के द्वारा उपसंपद्यमान शिष्य को पांच महाव्रतों में स्थापित ही नहीं किया जाता अपितु उसे पूर्व परम्परा के अनुसार आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र इन आगम ग्रन्थों के योगोद्वहन भी करवाये जाते हैं। ये दोनों आगम मुनि जीवन की यथार्थ चर्या के प्रतिपादक हैं। कहा जाता है जब तक उपस्थापनाग्राही शिष्य इन आगम शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन नहीं कर लेता, तब तक उसकी समस्त क्रियाएं मात्र कायिक चेष्टा रूप ही होती हैं, अतः श्रमण

जीवन का निरतिचार पालन करने हेतु इन आगमों का विशिष्टचर्या पूर्वक अभ्यास करवाया जाता है। इस विधि की सर्वोत्तम उपादेयता यह है कि उपस्थापना के पश्चात उपस्थापित शिष्य मुनि जीवन की सर्व क्रियाओं को सामूहिक रूप से सम्पन्न कर सकता है। इससे पूर्व उसकी सब व्यवस्थाएँ पृथक् होती हैं। परमार्थतः इस संस्कार के द्वारा ही नव दीक्षित को मुनि संघ का सदस्य माना जाता है।

उपस्थापना का अर्थ एवं उसके एकार्थवाची

उपस्थापना में 'उप' उपसर्ग समीपार्थक और 'स्था' धातु स्थापित करने के अर्थ में है। तदनुसार नूतन दीक्षित को पंचमहाव्रतों में स्थापित करना अथवा मुनि संघ में स्थापित करना उपस्थापना कहा जाता है।

'उप' का एक अर्थ 'विशेष रूप से' ऐसा करें तो उसका तात्पर्य होता है पंचमहाव्रतों में विशेष रूप से, सम्यक् प्रकार से स्थापित करना उपस्थापना है।

'उप' उपसर्ग का दूसरा अर्थ 'उच्च स्थान पर' ऐसा भी है उसके अनुसार सर्वविरति चारित्र जैसे उच्च स्थान पर स्थापित करना उपस्थापना कहलाता है।

प्राकृत-हिन्दी कोश के अनुसार व्रतों का आरोपण करना, दीक्षा देना, व्रतों की स्थापना करना उपस्थापना है।[1]

जैन आगमों में वर्णित परिभाषा के अनुसार जिसके द्वारा व्रतों का आरोपण किया जाता है, व्रतों की स्थापना की जाती है वह उपस्थापना है।[2] धर्मसंग्रह के अनुसार चारित्र विशेष में स्थापित करना उपस्थापना है।[3] पंचकल्पचूर्णिकार ने व्रतों में स्थापित करने को उपस्थापना कहा है।[4] पंचाशकवृत्ति में भी यही अर्थ समुद्दिष्ट है।[5]

इन अर्थों के अभिप्रायानुसार नूतन मुनि को पंचमहाव्रतों में स्थापित करना उपस्थापना है।

उपस्थापना के लिए छेदोपस्थापनाचारित्र, सर्वविरतिचारित्र, विकलचारित्र, संयम, विरति, बड़ी दीक्षा आदि शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

उपस्थापना के प्रकार

उपस्थापना एक प्रकार का चारित्र है। उपस्थापना का अनन्तर काल चारित्र कहलाता है। चारित्र का अर्थ होता है– महाव्रत आदि का आचरण करना अथवा सामायिक साधना करना। चारित्र का एक नाम संयम भी है। संयम के विभिन्न प्रकार हैं –

एकविध संयम	-	अविरति से निवृत्ति होना।
दो प्रकार का संयम	-	आभ्यन्तर संयम और बाह्य संयम।
तीन प्रकार का संयम	-	मनःसंयम, वचनसंयम, कायसंयम।
चार प्रकार का संयम	-	चातुर्याम संयम
पांच प्रकार का संयम	-	पाँच महाव्रतों का पालन करना।
छह प्रकार का संयम	-	पाँच महाव्रतों तथा रात्रिभोजन विरमण व्रत का पालन करना।

इस प्रकार आचार संयम अठारह हजार शीलांग परिमाण वाला कहा गया है।[6] इस अध्याय में सामान्य रूप से संयम के सभी प्रकार समाविष्ट हैं, किन्तु प्रमुख रूप से छह प्रकार का संयम अपेक्षित है।

उपस्थापना चारित्रधर्म का अनन्तर कारण है। वह चारित्र पाँच प्रकार का कहा गया है[7]– 1. सामायिक 2. छेदोपस्थापनीय 3. परिहार विशुद्धि 4. सूक्ष्मसंपराय और 5. यथाख्यात।

1. सामायिक चारित्र – सर्वथा सावद्ययोग से विरत हो जाना सामायिक है। अपने और पराये का भेद किये बिना प्रवृत्ति करना सामायिक है। राग-द्वेष से रहित चित्त का परिणाम सम् है और उसमें रहना सामायिक कहलाता है।

सामायिक चारित्र के दो भेद हैं– 1. इत्वरिक - स्वल्पकालिक और 2. यावत्कथिक - यावत्जीवन। भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय में इत्वरिक एवं यावत्कथिक दोनों प्रकार के चारित्र होते हैं तथा महाविदेह क्षेत्र में और भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के शासन में केवल यावत्कथिक सामायिक चारित्र ही होता है, क्योंकि उनके लिए उपस्थापना चारित्र की आवश्यकता नहीं रहती है। इसे ही प्रव्रज्या या दीक्षा कहते हैं।[8]

2. छेदोपस्थापनीय चारित्र – जिसमें सामायिक चारित्र की पर्याय का छेद और महाव्रतों का पुनः उपस्थापन किया जाता है, वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। छेदोपस्थापनीय चारित्र भी दो प्रकार का है[9]— 1. निरतिचार – यह दो अवस्थाओं में होता है।

1. शिष्य को महाव्रतों में उपस्थापित किये जाने पर और 2. एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने पर।

स्पष्टार्थ है कि इत्वर सामायिक वाले नवदीक्षित साधु को छेदोपस्थापन देना अथवा एक तीर्थङ्कर के तीर्थ को छोड़कर दूसरे तीर्थङ्कर के तीर्थ में जाने वाले शिष्य को छेदोपस्थापन चारित्र देना, निरतिचार चारित्र है।

2. मूलगुणों का घात करने वाले शिष्य में फिर से महाव्रतों का आरोपण करना, सातिचार छेदोपस्थापना चारित्र है।

3. परिहारविशुद्धि चारित्र – परिहारनामक तप विशेष के द्वारा शुद्धि प्राप्त करना परिहारविशुद्धि चारित्र है।[10]

परिहारविशुद्धि चारित्र का पालन करने वाले मुनि की तप साधना का कालमान अठारह महीना है। पारिहारिक, अनुपारिहारिक और कल्पस्थित इन तीनों स्थितियों में प्रत्येक में छह-छह महीने का तप होता है। इस चारित्र को धारण करने वाले मुनि के सम्बन्ध में इतना जरूर समझ लेना चाहिए कि परिहार तप की समाप्ति होने के बाद कुछेक मुनि पुनः परिहार तप को स्वीकार करते हैं, कुछेक जिनकल्प को स्वीकार करते हैं और कुछेक संघ में प्रवेश कर लेते हैं इसलिए यह चारित्र स्थितकल्प की अवस्था में होता है तथा वह प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय में ही होता है।[11]

4. सूक्ष्मसंपराय चारित्र – जब लोभकषाय सूक्ष्म रूप से अवशेष रहता है उस समय साधक की जो स्थिति रहती है, वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र है। यह चारित्र दशवें गुणस्थान में होता है।[12]

5. यथाख्यात चारित्र – जब क्रोध, मान, माया और लोभ उपशान्त या क्षीण हो जाते हैं, उस समय की चारित्र-स्थिति यथाख्यात चारित्र है। यह चारित्र तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्ती सयोगीकेवली और अयोगीकेवली को होता है।[13]

इस प्रकार उपस्थापना के पांच, छह आदि अनेक प्रकार हैं। उनमें उपस्थापना स्वयं एक प्रकार का चारित्र है।

संयम एवं चारित्र में भेद

आरम्भ और परिग्रह इन दो स्थानों का सम्यक् स्वरूप समझने वाला एवं इनका वर्जन करने वाला मुनि आराधना के पूर्ण योग्य होता है।[14] इसी हेतु से आचार्य हरिभद्रसूरि ने प्रव्रज्या के अर्थ का निर्वचन करने से पूर्व आरम्भ और परिग्रह की परिभाषाएँ प्रस्तुत की है।

चारित्र की आराधना दिन एवं रात्रि के सभी प्रहरों में किसी भी समय की

जा सकती है। इसके लिए कालविशेष का प्रतिबन्ध नहीं है। यह कालातीत साधना है।[15] यह वयातीत साधना है अर्थात किसी भी वय में इस धर्म का पालन किया जा सकता है। न्यूनतम आठ वर्ष एवं अधिकतम साठ अथवा सत्तर वर्ष की मर्यादा द्रव्यलिंग (वेश धारण) की अपेक्षा समझनी चाहिए।

उपस्थापना व्रतारोपण की आवश्यकता क्यों ?

जब हम यह चिन्तन करते हैं कि उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) की आवश्यकता क्यों है ? इस व्रतारोपण का मुख्य ध्येय क्या है ? तब यह प्रश्न भी उभरता है कि मुनि धर्म स्वीकार हेतु छोटी दीक्षा (प्रव्रज्या) और बड़ी दीक्षा (उपस्थापना) ऐसे दो व्रतारोप भिन्न-भिन्न काल में क्यों करवाये जाते हैं? सामायिकव्रत और पंचमहाव्रत का आरोपण एक साथ क्यों नहीं किया जा सकता ?

द्वितीय प्रश्न का प्राथमिक समाधान यह है कि जैन श्रमण की साधना एवं उसके नियम कठोर होते हैं, उस कठिन मार्ग पर सहसा चलना मुश्किल है। फिर इस युग की पाश्चात्य संस्कृति में पले व्यक्तियों के लिए उस मार्ग का यथावत अनुसरण करना और भी दुष्कर हो सकता है। सम्भव है कि प्रव्रज्या इच्छुक मुनिधर्म की समस्त परिस्थितियों से भिज्ञ हो, यद्यपि कठिनाइयों में स्खलन की सम्भावना बन सकती है, अत: कुछ अवधि के लिए सामायिकव्रत द्वारा मुनिचर्या जैसा ही जीवन जीया जाता है। उस अन्तराल में कदाच मानसिक स्थिति डगमगा जाये और स्वयं को मुनि धर्म के पालन में असमर्थ महसूस करने लगे तो अपवादत: पुनर्गृहस्थ जीवन स्वीकार किया जा सकता है। इससे सामायिक चारित्र के खण्डन का दोष तो लगता है, किन्तु वह पंचमहाव्रत की महान प्रतिज्ञा का विराधक नहीं होता। स्पष्ट है कि दीक्षित की मनोभूमिका को ख्याल रखते हुए द्विविध व्रतारोपण की पृथक्-पृथक् व्यवस्थाएँ की गयी हैं।

इन द्विविध व्रतारोपण के पीछे यह हेतु भी माना जा सकता है कि पहले वैराग्यवासित साधक सामायिकव्रत के माध्यम से श्रमणधर्म की समग्र चर्याओं का सम्यक् ज्ञान अर्जित कर उसके विधिवत पालन का सामान्य अभ्यास साध ले, जिससे उपस्थापना के पश्चात महाव्रतों का विशुद्ध रीति से आचरण किया जा सके तथा असावधानीवश होने वाली त्रुटियों से बचा जा सके। साथ ही श्रमण जीवन में आगत इष्ट-अनिष्ट स्थितियों को समभावपूर्वक सहने की क्षमता जागृत कर सकें।

सामायिकव्रत और पंचमहाव्रत के भिन्न-भिन्न व्रतारोपण के पीछे आचार्य हरिभद्रसूरि ने यह हेतु दिया है कि जब तक नूतन दीक्षित आवश्यकसूत्र और दशवैकालिकसूत्र का तपपूर्वक अध्ययन न कर ले तथा मण्डली का योगोद्वहन न कर ले, तब तक उसकी उपस्थापना नहीं करनी चाहिए। इस कारण सामायिकव्रत यानी छोटी दीक्षा के लिए छह माह की उत्कृष्ट अवधि का भी संविधान है ताकि मुनि जीवन की आचार मर्यादाओं का योग्य प्रशिक्षण प्राप्त कर सके।

उपर्युक्त वर्णन से द्विविध व्रतारोपण की पृथक्-पृथक् संहिताएँ समुचित प्रतीत होती हैं। इससे उपस्थापना-विधि की आवश्यकता का भी निर्विरोध प्रतिपादन हो जाता है। यदि द्रव्य लिंग की अपेक्षा अनुशीलन करें तो ज्ञात होता है कि मुनि के लिए वेशधारण करने के साथ-साथ महाव्रतों का आचरण करना भी अत्यन्त आवश्यक है। जैसे जल के बिना केवल खारी मिट्टी से वस्त्र का मैल दूर नहीं होता, उसी प्रकार महाव्रत का पालन किये बिना मात्र केशलोच करने आदि से रागादि कषाय नष्ट नहीं होते हैं। इसी तरह वेशरहित केवल महाव्रत पालन से भी आत्मिक विशुद्धि नहीं होती जैसे– यन्त्र विशेष के द्वारा जब धान के ऊपर का छिलका दूर हो जाता है तभी उसके भीतर की पतली झिल्ली को मूसल से छड़कर दूर किया जाता है, उसी तरह व्रत को प्रकट करने वाले बाह्य लिंगों को स्वीकार कर जब व्यक्ति गृहस्थ जीवन का परित्याग कर देता है तभी व्रतधारण से कषायभाव दूर होते हैं। अतः द्रव्यलिंग पूर्वक व्रताचरण से ही आत्मविशुद्धि होती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि श्रमण जीवन की आवश्यक चर्याओं का पूर्वाभ्यास करवाने एवं दीक्षित को तद्रूप जीवन जीने का प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से सामायिकव्रत (छोटी दीक्षा) का विधान है तथा श्रमण संस्था में सम्मिलित करने के साथ-साथ सर्वविरति चारित्र का परिशुद्ध पालन करवाने के ध्येय से उपस्थापना (बड़ी दीक्षा) का प्रावधान है।

उपस्थापना चारित्र की प्राप्ति का हेतु

जैन सिद्धान्तानुसार अनन्तानुबन्धी चतुष्क, अप्रत्याख्यानी चतुष्क, प्रत्याख्यानी चतुष्क और संज्वलन चतुष्क इन सोलह प्रकार के कषायों का क्षयोपशम होने पर उपस्थापना चारित्र की प्राप्ति होती है अर्थात कषायों का

क्षयोपशमभाव इस चारित्र की प्राप्ति का अनन्तर कारण है।[16]

उपस्थापना चारित्र में स्थिर रहने के उपाय

दशवैकालिकसूत्र के अनुसार जो साधक केवली प्ररूपित मार्ग में प्रव्रजित है, किन्तु मोहवश उसका चित्त संयम से विरक्त हो जाये और गृहस्थाश्रम में आना चाहे तो उसे संयम छोड़ने से पूर्व अठारह स्थानों का भली-भाँति चिन्तन करना चाहिए। अस्थिर आत्मा के लिए इन स्थानों का वही महत्त्व है, जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका का होता है। वे अठारह स्थान निम्नोक्त हैं[17]–

1. ओह ! इस दुःखम नामक पंचम आरे में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं। 2. गृहस्थों के कामभोग स्वल्प, सार-रहित और अल्पकालिक हैं। 3. मनुष्य प्रायः माया बहुल होते हैं। 4. यह मेरा परीषहजनित दुःख चिरकालस्थायी नहीं होगा। 5. गृहवासी को नीच जनों का सत्कार करना होता है। 6. संयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है – वमन को वापस पीना। 7. संयम का त्याग कर गृहवास में जाने का अर्थ है – नारकीय जीवन का अंगीकार। 8. ओह ! गृहवास में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है। 9. गृहवास आतंक-वध के लिए होता है। 10. गृहवास संकल्प-वध के लिए होता है। 11. गृहवास क्लेशसहित है और मुनिपर्याय क्लेशरहित है। 12. गृहवास बन्धन है और मुनिपर्याय मोक्ष है। 13. गृहवास सावद्य है और मुनिपर्याय निरवद्य है। 14. गृहस्थों को कामभोग सर्वसुलभ है, मुनि जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। 15. पुण्य और पाप अपना-अपना होता है। 16. ओह ! मनुष्य का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल बिन्दु के समान चञ्चल है। 17. ओह ! सच्चरित्र के द्वारा पूर्वोपार्जित पाप कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षयकर लेने पर ही मोक्ष होता है अन्यथा उनसे छुटकारा नहीं होता है।

उपस्थापना चारित्र का महत्त्व

जैन साहित्यकारों ने चारित्र का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि कोई व्यक्ति बहुत पढ़ा हुआ है, किन्तु आचारहीन है तो वह ज्ञान भी उसके लिए लाभदायी नहीं है जैसे अन्धे व्यक्ति के सामने करोड़ों दीपक जलाने का क्या लाभ है ? जबकि आचारवान का अल्पज्ञान भी उसे प्रकाश से भर देता है, चक्षुष्मान को एक दीपक का प्रकाश भी काफी होता है।

जिस प्रकार चन्दन का भार ढोने वाला गधा केवल भार का भागी होता है, चन्दन का नहीं। उसी प्रकार चरित्रहीन ज्ञानी केवलज्ञान का भार ढोता है, सद्गति को प्राप्त नहीं कर सकता।

जैन शास्त्रों में ऐसा उल्लेख है कि श्रेणिक, पेढालपुत्र और सत्यकी दर्शन सम्पन्न होने पर भी सम्यक् चारित्र के अभाव में अधोगति को प्राप्त हुए।[18] इससे चारित्र का मूल्य स्वत: सुसिद्ध है।

चारित्र का वैशिष्ट्य सम्यक्त्व की अपेक्षा से भी देखा जा सकता है, सम्यक्त्व की प्राप्ति चारित्ररहित को भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती है, परन्तु जो सम्यक् चारित्रयुक्त होता है उसे सम्यक्त्व निश्चित रूप से होता ही है।

उपस्थापना प्रदान करने का अधिकारी कौन ?

नवदीक्षित शिष्य को पंचमहाव्रत में स्थापित करने वाले गुरु किन गुणों से युक्त होने चाहिए ? इस सम्बन्ध में पृथक् रूप से कोई वर्णन पढ़ने में नहीं आया है। यद्यपि पंचवस्तुक ग्रन्थ में उपस्थापनायोग्य शिष्य की चर्चा जरूर की गई है, किन्तु उपस्थापना अधिकारी गुरु को लेकर कुछ भी नहीं कहा गया है। अत: इस विषय में अधिक कहना तो सम्भव नहीं है, किन्तु उपाध्याय प्रवर पूज्य मणिप्रभसागरजी महाराज साहब के अनुसार पूर्व में खरतरगच्छ परम्परा में बड़ी दीक्षा का अधिकार आचार्य या गणनायक के अलावा और किसी को भी नहीं था। प्रव्रज्या कोई भी दे सकता था, परन्तु उपस्थापना तो आचार्य ही करते थे। उसके बाद कारणवश परम्परा में परिवर्तन हुआ और यह परम्परा बनी कि जो पर्याय स्थविर हो, वह आचार्य अथवा गणनायक की अनुज्ञा से उपस्थापना करवा सकता है।

शास्त्र एवं आचरणा की अपेक्षा जो महानिशीथ आदि छेदसूत्रों का योगपूर्वक अध्ययन किया हुआ हो, बीस वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला हो गाम्भीर्यादि गुणों से अलंकृत हो, गीतार्थ हो और सूत्रों का ज्ञाता हो वह मुनि उपस्थापना करने का अधिकारी है। इसके साथ यह परम्परा भी रही है कि महाव्रतारोपण का अधिकार योग्य मुनि को ही हो, साध्वी को नहीं, फिर ही वह प्रवर्त्तिनीपद या महत्तरापद पर भी आसीन क्यों न हो? छोटी दीक्षा करवाने का अधिकार भी मुनि को ही प्राप्त है, किन्तु खरतरगच्छ परम्परा में साध्वियाँ भी छोटी दीक्षा देती हैं, जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की अन्य परम्पराओं में प्राय:

ऐसा नहीं है। यद्यपि स्थानकवासी परम्परा में साध्वी छोटी एवं बड़ी दोनों दीक्षाएँ दे सकती हैं।

उपस्थापना के योग्य कौन ?

उपस्थापना चारित्र किस मुनि को दिया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि जो शस्त्रपरिज्ञा (आचारांगसूत्र का प्रथम अध्ययन) और दशवैकालिक आदि सूत्रों का अर्थ सहित अध्ययन कर चुका हो, त्याग, श्रद्धा, संवेगादि गुणों से युक्त हो, धर्मप्रेमी हो, पापभीरु हो तथा सूत्रों को चिर-परिचित एवं अवधारित करने के पश्चात प्रतिषिद्ध का त्याग करता हो वही उपस्थापना के योग्य होता है।[19] वह उपस्थापना पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकाय की तीन करण एवं तीन योगपूर्वक हिंसादि न करने के त्यागपूर्वक होती है।

उपस्थापना के अयोग्य कौन ?

जैनाचार्यों की मान्यतानुसार वह मुनि उपस्थापना के लिए अयोग्य माना गया है जो सूत्रार्थ की दृष्टि से अप्राप्त, अकथित, अनभिगत और अपरीक्षित है।[20]

अप्राप्त का अर्थ है– जिसने षड्जीवनिकाय का अध्ययन नहीं किया हो। यहाँ ज्ञातव्य है कि प्राचीनकाल में आचारांग के प्रथम अध्ययन 'शस्त्रपरिज्ञा' को सूत्रत: पढ़ने पर उपस्थापना होती थी। दशवैकालिक की रचना के पश्चात इस सूत्र का चतुर्थ अध्ययन 'षड्जीवनिकाय' को पढ़ने पर उपस्थापना होती है।

अकथित का अर्थ है– जिसने पृथ्वीकायादि जीवों के भेद-प्रभेदों को भली-भाँति नहीं समझा हो या जिसे नहीं समझाया गया हो।

अनभिगत का अर्थ है– जिसने आवश्यकसूत्रादि को सुनकर एवं जानकर उन पर श्रद्धा न की हो या उसका तात्त्विक ज्ञान प्राप्त न किया हो।

अपरीक्षित का तात्पर्य है– जिसके योग्यता-अयोग्यता की सूत्रोक्त विधिपूर्वक परीक्षा न की गयी हो, चूंकि नव दीक्षित की सूत्र पढ़ाकर, अर्थ बताकर परीक्षा की जाती है कि उसने सम्यक अर्थ ग्रहण किया या नहीं, उस पर श्रद्धा की या नहीं ? तत्पश्चात उसे छह जीवनिकाय की हिंसा न करने का विभागपूर्वक प्रत्याख्यान करवाया जाता है। अत: सम्यक श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान से रहित शिष्य उपस्थापना के अयोग्य बतलाया गया हैं।

बौद्ध परम्परा (विनयपिटक, पृ. 134-135) में निम्न व्यक्तियों को

उपसंपदार्थ अयोग्य माना गया है–

1. पण्डक अर्थात हिंजड़ा, 2. अदत्त कषाय वस्त्रधारी, 3. अन्य योनिधारी प्राणी, 4. मातृहन्ता, पितृहन्ता एवं अर्हतहन्ता, 5. स्त्री-पुरुष उभयलिंगी, 6. पात्ररहित, 7. चीवररहित, 8. पात्र और चीवर दोनों से रहित, 9. अन्य से याचित पात्रधारी, 10. अन्य से याचित चीवरधारी, 11. निष्प्रयोजन पात्र और चीवरधारी।

अयोग्य की उपस्थापना करने से लगने वाले दोष

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं जिसने उपस्थापना के लिए निर्धारित दीक्षा पर्याय प्राप्त न किया हो, जिसको पृथ्वीकायादि छह काय जीवों या महाव्रतों का तथा उनके अतिचार आदि का ज्ञान न दिया गया हो अथवा देने पर भी वह उस अर्थ को भली-भाँति आत्मसात न कर पाया हो अथवा समझने पर भी जिसकी परीक्षा न की गयी हो, ऐसे अयोग्य शिष्य की पापभीरु गुरु को उपस्थापना नहीं करनी चाहिए। यदि अयोग्य को उपस्थापित किया जाता है, तो आज्ञाभंग, व्रतादि की विराधना और मिथ्यात्वादि पापों की वृद्धि आदि दोष लगते हैं।[21] स्पष्टार्थ है कि अयोग्य शिष्य की उपस्थापना करने पर जिनाज्ञा का भंग होता है, भविष्य के लिए वह परम्परा चलती रहती है, इससे मिथ्यात्व भावों की वृद्धि होती है, परिणामत: व्रत-संयम की विराधना होती है और आत्मगुणों की भी हानि होती है। अत: योग्य शिष्य को ही उपस्थापित करना चाहिए।

उपस्थापना चारित्र कब दिया जाए?

नूतन दीक्षित की उपस्थापना कब की जानी चाहिए ? इस सम्बन्ध में तीन प्रकार की कालावधि का निर्देश मिलता है। इन्हें तीन तरह की शैक्षभूमियाँ कहा गया है। सामान्यत: सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाले नवदीक्षित साधु को शैक्ष कहते हैं और उसके अभ्यास काल को शैक्ष भूमि कहते हैं। दीक्षा ग्रहण करते समय सामायिक चारित्र अंगीकार किया जाता है। उसमें निपुणता प्राप्त कर लेने पर छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार किया जाता है जिसमें पांच महाव्रतों और छठे रात्रिभोजन विरमणव्रत को धारण करते हैं। सामायिक चारित्र और छेदोपस्थापनीय चारित्र के बीच की अवस्था शैक्षभूमि कहलाती है। इसका सम्बन्ध सामायिक चारित्र की कालमर्यादा से भी है, क्योंकि छह मास की उत्कृष्ट शैक्षभूमि के पश्चात निश्चित रूप से छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार करना

आवश्यक होता है। तीन शैक्षभूमियाँ इस प्रकार हैं –

1. जघन्य सात अहोरात्र की। 2. मध्यम-चार महीने की। 3. उत्कृष्ट-छह महीने की।

1. जो मुनि पहले अन्य गच्छ में दीक्षित होकर पुनः प्रव्रजित हुआ है तथा तीक्ष्ण बुद्धि एवं प्रतिभावान है और जिसकी पूर्व भूमिका तैयार है वह पूर्व विस्मृत सामाचारी का अभ्यास एक सप्ताह में कर सकता है, अतः उसे सातवें दिन उपस्थापित कर देना चाहिए। यह जघन्य भूमि है।
2. जो व्यक्ति प्रथम बार दीक्षित हुआ है, बुद्धि और श्रद्धा दोनों से अत्यन्त मन्द है वह साधु सामाचारी और इन्द्रिय-जय का अभ्यास छह मास के भीतर कर सकता है या उसे छह माह तक पूर्वाभ्यास करवाया जाना चाहिए या उस दीक्षित को छह मास के भीतर सामाचारी आदि का अभ्यास कर लेना चाहिए, उसके बाद ही उपस्थापित करना चाहिए। यह उत्कृष्ट भूमि मन्द बुद्धि शिष्य की अपेक्षा कही गयी है।
3. जो पूर्व भूमिका से अधिक बुद्धिमान् हो, श्रद्धा वाला हो और सामाचारी और इन्द्रियजय का अभ्यास चार मास की अवधि में कर सकता हो अथवा कोई भावनाशील, श्रद्धासम्पन्न मेधावी व्यक्ति प्रव्रजित हो, तो उसे भी सामाचारी एवं इन्द्रियजय का अभ्यास चार मास तक करवाना चाहिए, तदनन्तर उपस्थापना करनी चाहिए। यह शैक्ष की मध्यम भूमि है।

इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि नवदीक्षित की जघन्य से सात दिन के पश्चात, मध्यम से चार माह के पश्चात और उत्कृष्ट से छह माह के पश्चात उपस्थापना की जा सकती है। यह कालमर्यादा व्यक्ति की पात्रता के आधार पर रखी गई है।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि नवदीक्षित सात दिन के अन्तराल में साधु सामाचारी आदि का परिज्ञान कैसे कर सकता है ? इसका युक्ति संगत समाधान पूर्व में कर चुके हैं। व्यवहारभाष्य के अनुसार यदि कोई मुनि दीक्षा से भ्रष्ट होकर पुनः दीक्षा ले तो वह विस्मृत सामाचारी आदि का सात दिन में अभ्यास कर सकता है, अतः उसे सातवें दिन महाव्रतों में उपस्थापित किया जा सकता है। इस अपेक्षा से भी शैक्षभूमि का जघन्यकाल सम्भव है।

निष्पत्ति – यदि उपस्थापना व्रतारोपण की कालमर्यादा का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो सर्वप्रथम इसकी चर्चा स्थानांगसूत्र,[22]

व्यवहारसूत्र,[23] व्यवहारभाष्य[24] आदि में प्राप्त होती है। तदनन्तर पंचवस्तुक,[25] विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में परिलक्षित होती है।

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में यह परिपाटी लगभग यथावत रूप से प्रचलित है। हाँ! अधिकार प्राप्त गुरु का संयोग न मिलने पर कालमर्यादा का अतिक्रमण भी देखा जाता है, क्योंकि खरतरगच्छ आदि कुछ परम्पराओं में बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाला मुनि ही उपस्थापना करने का अधिकारी माना गया है।

उपस्थापना व्रतारोपण के लिए मुहूर्त्त विचार

गणिविद्या प्रकीर्णक, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों के मतानुसार उपस्थापना के लिए तिथि, वार, नक्षत्र, लग्न आदि का विचार प्रव्रज्या विधि के समान ही करना चाहिए। जो तिथि, नक्षत्र, वार, करण, योग, लग्न, निमित्त, शकुन आदि प्रव्रज्या के लिए श्रेष्ठ कहे गये हैं वे नक्षत्रादि उपस्थापना के लिए भी उत्तम जानने चाहिए। यह वर्णन प्रव्रज्या विधि अध्याय-4 में किया जा चुका है।

उपस्थापना के लिए प्रयुक्त सामग्री

उपस्थापना नन्दिरचना पूर्वक होती है। यदि यह व्रतारोपण संस्कार जिनालय के सभामण्डप में सम्पन्न होता हो तो कदाच नन्दिरचना की जरुरत नहीं भी रहे, पर आजकल उपाश्रय या विशाल प्रांगण आदि में किये जाने से नन्दिरचना होती ही है। अत: नन्दिरचना के लिए जो सामग्री आवश्यक कही गयी है वह सामग्री यहाँ भी अपेक्षित समझनी चाहिए। इस सामग्री सूची के लिए नन्दिरचना विधि अध्याय-3 देखना चाहिए।

उपस्थापना (छेदोपस्थापनीय) चारित्र का फल

चारित्र के पंचविध प्रकारों में उपस्थापना का द्वितीय स्थान है। उत्तराध्यनसूत्र (29/62) कहता है कि जीव चारित्र के परिणाम से या चारित्र निष्ठा से शैलेशी भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार घाति कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान को समुपलब्ध कराता है। उसके पश्चात वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है और सब दु:खों का अन्त कर लेता है।

वस्तुत: तीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित सन्मार्ग का यथातथ्य रूप से अनुसरण करने वाला पुरुष सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है। इसी क्रम में संयम आराधना का फल बताते हुए उत्तराध्ययनसूत्र (29/46) में कहा गया है कि सर्वगुणसम्पन्न

व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है तथा शारीरिक और मानसिक दुःखों से निवृत्त हो जाता है।

इस सम्बन्ध में दशवैकालिकसूत्र (3/14, 6/68) कहता है कि दुष्कर आचार का पालन करते हुए एवं दुःसह परीषहों को सहन करते हुए कुछ साधु देवलोक में जाते हैं और कई कर्मक्षीण कर सिद्ध होते हैं। इसी क्रम में यह भी कहा गया है कि उपशान्त, ममत्वरहित, अकिञ्चन, आत्म-विद्यायुक्त, यशस्वी और छह कायरक्षक मुनि शरद् ऋतु के चन्द्रमा की भांति निर्मल होकर मुक्त हो जाते हैं अथवा वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

स्पष्टार्थ है कि विशुद्ध चारित्र का अनन्तर फल मोक्ष है।

वयादि की अपेक्षा-उपस्थापना का क्रम

जैन आगमों में उपस्थापना के सम्बन्ध में अतिसूक्ष्म चिन्तन प्राप्त होता है। जो शिष्य उपस्थापना योग्य भूमि को प्राप्त नहीं हुआ है उसकी उपस्थापना करने वाले और जो शिष्य उपस्थापना करने योग्य भूमि को प्राप्त हो चुका है उसकी उपस्थापना न करने वाले गुरु को महान् दोषी बतलाया गया है। इसी अनुक्रम में यह विचार भी किया गया है यदि पिता-पुत्र, माता-पुत्री, राजा-सेवक, सेठ-मुनीम आदि एक साथ दीक्षित होते हों तो उन दोनों में से पहले किसकी उपस्थापना की जानी चाहिए ?

बृहत्कल्पभाष्य[26] के अनुसार पिता और पुत्र दोनों व्यक्ति एक साथ दीक्षित हुए हों, दोनों ने एक साथ सूत्र का अध्ययन किया हो और एक साथ उपस्थापना योग्य भूमि को प्राप्त हुए हो तो पिता की उपस्थापना पहले और पुत्र की बाद में करें।

यदि पुत्र सूत्रादि पढ़कर योग्य नहीं बना हो और पिता सूत्रादि पढ़कर योग्य बन गये हों तो पिता की उपस्थापना पहले कर सकते हैं। यदि पुत्र योग्य बन गया हो और पिता सूत्रादि की अपेक्षा अयोग्य हो तो उसे प्रयत्नपूर्वक सूत्र सिखाकर दोनों को युगपत उपस्थापित करना चाहिए।

यदि उपस्थापना के दिन तक में पिता योग्यता को प्राप्त नहीं हुआ हो, और पुत्र की उपस्थापना के लिए उन्होंने स्वीकृति दे दी हो तो पुत्र को पहले भी उपस्थापित किया जा सकता है।

यदि पिता नियति अवधि में सूत्र नहीं सीख नहीं पाता है और पुत्र के लिए

अनुज्ञा भी नहीं देता है तो उसे दण्डिक (राजा) के दृष्टान्त से समझाना चाहिए। जैसे एक राजा अपने राज्य से परिभ्रष्ट हो गया। पुत्र भी उसके साथ था। वे दोनों एक अन्य राजा की सेवा में नियुक्त हो गये। वह राजा राजपुत्र की सेवा से सन्तुष्ट हुआ और उसे राजा बनाने का निर्णय किया। तब क्या पिता उसे राजा बनाने की अनुमति नहीं देगा ? अवश्य देगा। इसी प्रकार तुम्हारा पुत्र यदि महाव्रतरूपी राज्य को प्राप्त करता है तो क्या तुम इसे मान्य नहीं करोगे ? इस तरह समझाये जाने पर अनुमति प्रदान करे तो पुत्र की उपस्थापना कर देनी चाहिए।

यदि समझाने पर भी अनुज्ञा न दें तो पाँच दिन उपस्थापना रुकवाकर पुनः समझाने का प्रयास किया जाना चाहिए। फिर भी वह अनुमति न दें तो दूसरी बार भी पाँच दिन का विलम्ब कर पुनः समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। तदुपरान्त भी न माने तो तीसरी बार भी पाँच दिन रुकना चाहिए। इस तरह तीन बार पाँच-पाँच दिन विलम्ब करने पर यदि पिता सूत्राभ्यास आदि से उपस्थापना के योग्य हो गया हो तो दोनों की युगपद् उपस्थापना करनी चाहिए। यदि पिता सुयोग्य न बना हो और पुत्र के लिए अनुमति भी न देता हो तो पुत्र की उपस्थापना कर देनी चाहिए अथवा पिता के स्वभाव के अनुसार आचरण करना चाहिए। जैसे कि पिता मान कषाय वाला हो और यह सोचे कि - मैं पुत्र को नमस्कार क्यों करूँ ? तो तीन बार पाँच-पाँच दिन बीतने के उपरान्त भी पुत्र को उपस्थापित नहीं करना चाहिए, क्योंकि मान कषाय पर आघात लगने से वह दीक्षा का त्याग कर सकता है अथवा गुरु या पुत्र के प्रति द्वेषी बन सकता है, धर्मादि अनुष्ठान के कार्य में अरुचि पैदा हो सकती है। अतः जब तक पिता सूत्रादि को चिर-परिचित न कर ले तब तक पुत्र को अनुपस्थापित रखना चाहिए।

वृद्ध-परम्परा के अनुसार दो पिता अपने-अपने पुत्र के साथ दीक्षित बने हों, उसमें दोनों पिता उपस्थापना के योग्य बन गये हों, तब तक पुत्र सुयोग्य न बने हों तो दोनों पिताओं को उपस्थापित किया जा सकता है,परन्तु दोनों पुत्र योग्य हों, तब तक पिता सूत्रादि से अभ्यस्त न हुए हों तो उस स्थिति में समझाया जाना चाहिए। यदि वे न समझें तो पूर्ववत विधि करनी चाहिए।

इसी तरह यदि राजा और मन्त्री साथ में दीक्षित बने हों तो उनकी उपस्थापना-विधि पिता-पुत्र के समान पूर्ववत जाननी चाहिए। यदि माता-पुत्री या महारानी-मन्त्री पत्नी युगपद् दीक्षित बनी हों तो उनके विषय में भी पूर्वोक्त विधि का अनुकरण करना चाहिए। इसी प्रकार ऋद्धिसम्पन्न दो श्रेष्ठी, दो मन्त्री, दो

व्यापारी, दो सभाजन, दो महाकालीन दीक्षित बने हों, के साथ में उपस्थापना को प्राप्त हुए हों तो उनकी युगपद् उपस्थापना करनी चाहिए, उनमें छोटे-बड़े का भेद नहीं करना चाहिए।

इसी तरह प्राप्त-अप्राप्त शिष्य की विधि भी समझनी चाहिए।

उपस्थापित शिष्य का अध्ययन क्रम

जिस शिष्य को उपस्थापित करना हो अथवा जो नवदीक्षित उपस्थापना चारित्र को अंगीकार करने हेतु उद्यमशील हो उसे षड्जीवनिकाय– पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय का स्वरूप समझाना चाहिए, पृथ्वीकायादि में सजीवत्व कैसे है ? इसकी सिद्धि करनी चाहिए तथा जो महाव्रत आदि स्वीकार करने योग्य हैं उनका उपदेश देना चाहिए। यह आगम विहित विधि है।

प्रसंगवश षड्जीवनिकाय का सामान्य वर्णन इस प्रकार है–

पृथ्वीकाय में सजीवत्व सिद्धि – 'पृथ्वीकाय सजीव है' जैसे कि जीवित मनुष्य के मज्जा, मांस आदि का थोड़ा टुकड़ा काट लेने पर भी वे स्थान पुनः भर जाते हैं उसी प्रकार पृथ्वी को खोदने पर भी खड्डे भर जाते हैं इस प्रकार मनुष्य की तरह पृथ्वी भी सजीव है। हम प्रत्यक्ष में पर्वत और मिट्टी के टीले बढ़ते हुए देखते हैं। इनका आहार भी होता है, अनुकूल आहार के योग से प्रफुल्लित होते हैं, बढ़ते हैं और आहार के अभाव में अथवा प्रतिकूल हवा आदि के संयोग से घटते हैं।[27] इस प्रकार इनसे जीवत्व सिद्ध है। पृथ्वीकाय में पत्थर, मिट्टी, धातु, रत्न, नमक, विशेष प्रकार के पत्थर की जातियाँ आदि का भी समावेश होता है।

अप्काय का सजीवत्व – पृथ्वीकाय की तरह अप्काय (जल) भी सजीव है। जैसे भूमि खोदने से मेंढक की उत्पत्ति स्वाभाविक होती है वैसे ही भूमि को खोदने पर जल की भी सम्भावना स्वाभाविक होती है अथवा जिस प्रकार बरसात के पानी में मछलियों की उत्पत्ति स्वाभाविक होती है उसी प्रकार आकाश में बरसात का जल भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। इस तरह भूमिगत सभी प्रकार के जल सजीव हैं और उसमें जीवत्वपना प्रत्यक्षतः सिद्ध है।[28]

तेउकाय का सजीवत्व – अग्निकाय में जीवत्व की सिद्धि इस तरह है–

अग्नि जीव है, क्योंकि पुरुष के समान आहार लेते दिखती है। यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि वह वायु, लकड़ी, तेल आदि की खुराक प्राप्त करके बढ़ती है और उसके अभाव में नष्ट होती है। इस बात को सभी मानते हैं कि पुरुष के शरीर में भी ज्वर और जठर की गरमी दिखती है, मृत्यु के बाद जठर की गरमी जीव के साथ चली जाती है और ज्वर से गरम अवयव ठण्डे पड़ जाते हैं। अग्नि में अनुभव होती गरमी भी जीव का प्रयोग रूप है। अग्नि में से जीवत्व का नाश होने पर कोयले, राख आदि उसके अचेतन अंश ठण्डे हो जाते हैं। इस प्रकार अग्नि में जीवत्व की सिद्धि अनेक प्रकार से होती है।

वायुकाय का सजीवत्व – वायु सजीव है। वायु का जीवत्व इस तरह सिद्ध है कि जैसे अश्व दूसरे की प्रेरणा के बिना भी गमन करता है, उसी प्रकार वायु अन्य किसी की प्रेरणा के बिना गति करती है। यदि वायु जड़ होती तो स्वयं गति कैसे कर सकती है ?

दूसरा तथ्य यह है कि शरीर स्वरूपत: जड़ है फिर भी उसमें जो हलन-चलन, गमन-आगमन, बैठना-उठना आदि क्रियाएँ देखी जाती हैं, वे उसमें जीव के संयोग और उसकी ही प्रेरणा के आधार पर जाननी चाहिए। इस तरह वायु में जीवत्व है यह बात प्रमाणत: सिद्ध होती है।[29]

वनस्पतिकाय का सजीवत्व – वनस्पति में भी जीवत्व है। इस जीवत्व को अनुमान प्रमाण के द्वारा समझा जा सकता है। वृक्ष सचेतन हैं, क्योंकि उसमें उपलक्षण से पुरुषादि के समान जन्म, जरा, जीवन, मृत्यु, बढ़ना, आहार, दोहद, बीमारी, पीड़ा आदि होती है। अत: मनुष्यों के समान वृक्षादि की भी उत्पत्ति होने से वनस्पति में जीवत्व की सत्ता सिद्ध है।

दूसरा प्रमाण यह है कि जैसे मनुष्य शरीर में जन्म लेने के पश्चात बाल, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ प्रकट होती हैं वैसे ही वनस्पति में जन्म, यौवन, वृद्धत्व, मृत्यु, लज्जा, हर्ष, रोग, शोक, शीत, उष्ण आदि गुण प्रत्यक्षत: दिखते हैं। वनस्पतियों का शरीर- वृक्षादि भी मूल से बाहर आता (जन्म लेता) है। उसकी कोमलता रूप बाल्य अवस्था प्रकट होती है और छुई-मुई आदि कई वनस्पतियों में लज्जा गुण भी दिखता है। मनुष्य शरीर के अवयवों के समान अंकुर, कोपल, पत्ते, शाखा, प्रशाखा और स्त्री की योनि के समान पुष्प तथा सन्तति के समान फल भी आते हैं। मानवीय शरीर को टिकाने या बढ़ाने के लिए आहार-पानी की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही वनस्पति भी

पृथ्वी-पानी आदि के आहार से जीती है, पानी-हवादि का संयोग मिलने पर ही वृद्धि को प्राप्त करती है। मानव शरीर के समान इसमें भी अनेकविध रोग होते हैं उनकी चिकित्सा होती है।[30]

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इन पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व स्वीकार किया है, अत: वनस्पति की सजीवता निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

त्रसकाय का सजीवत्व – बेइन्द्रिय शंख, कृमि आदि, तेइन्द्रिय - मकोड़ा, चींटी आदि, चउरिन्द्रिय - भौंरा, बिच्छू आदि, पंचेन्द्रिय - मनुष्य, पशु आदि त्रसकाय जीव कहलाते हैं। इनमें जीवत्व की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।[31]

पाँच महाव्रत एवं छठा रात्रिभोजनविरमणव्रत एक अनुशीलन

महाव्रत का शाब्दिक अर्थ है - महान् व्रत। सामान्य अर्थ के अनुसार हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पापकारी प्रवृत्तियों का पूर्णत: परित्याग कर देना महाव्रत कहलाता है।

जैन श्रमण के लिए पंचमहाव्रत मूलगुण माने गये हैं। जैन परम्परा में श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए अहिंसादि पाँच प्रकार के व्रतपालन का विधान है। अन्तर यह है कि श्रमण जीवन में उन व्रतों का पूर्णरूपेण पालन किया जाता है इसलिए वे महाव्रत कहलाते हैं। गृहस्थ जीवन में उनका आंशिक रूप से पालन होता है इसलिए गृहस्थ जीवन के सन्दर्भ में वे अणुव्रत कहे जाते हैं। श्रमण इन पाँच व्रतों का पूर्ण रूप से परिपालन करता है। ज्ञातव्य है कि नवदीक्षित शिष्य की उपस्थापना पंचमहाव्रत के आरोपण द्वारा की जाती है। जैन श्रमण की भूमिका में प्रवेश पाने हेतु पंचमहाव्रत को स्वीकार करना, एक अनिवार्य शर्त है। यहाँ अहिंसादि व्रतों का सामान्य विवेचन किया जा रहा है जो अत्यन्त प्रासंगिक है।

1. अहिंसा महाव्रत का स्वरूप

हिंसा का सर्वथा त्याग करना श्रमण का पहला महाव्रत है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला मुनि प्रतिज्ञा करता है–[32]

'हे भगवन्! मैं प्राणातिपात का पूर्णरूपेण प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर जो भी प्राणी हैं उनके प्राणों का अतिपात मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से नहीं कराऊंगा और अतिपात करने वालों का अनुमोदन भी नहीं

करूँगा। इस व्रत की प्रतिज्ञा तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) एवं तीन योग (मन, वचन, काया) पूर्वक यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता हूँ। हे भगवन् ! मैं अतीत में किये गये प्रणातिपात से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा को उससे विरत करता हूँ।'

इसका शास्त्रीय नाम सर्वथा प्राणातिपात विरमण व्रत है।[33] प्राणातिपात– प्राणों का अतिपात (हिंसा), विरमण- निवृत्ति अर्थात सम्यक् ज्ञान और श्रद्धापूर्वक जीव हिंसा न करने का संकल्प करना या हिंसक व्यापार से सर्वथा निवृत्त होना प्राणातिपात विरमणव्रत है।

जैन मुनि पाँच महाव्रतों का पालन मन, वचन और काया तथा कृत, कारित और अनुमोदन इन 3×3 नवकोटियों सहित करता है। महाव्रत की प्रतिज्ञा करते समय किसी प्रकार के विकल्प नहीं रखे जाते, जबकि गृहस्थ की अणुव्रत प्रतिज्ञा सविकल्प होती है।

श्रमण जीवन में अहिंसा महाव्रत का परिपालन किस प्रकार किया जा सकता है इसका संक्षिप्त वर्णन दशवैकालिकसूत्र में मिलता है।[34] इसमें कहा गया है कि संयमी साधु तीन करण एवं तीन योग से पृथ्वी आदि सचित्त मिट्टी के ढेले आदि न तोड़े, सचित्त पृथ्वी पर एवं सचित्त धूलि से भरे हुए आसन पर नहीं बैठे। संयमी साधु सचित्त जल, वर्षा, ओले, बर्फ और ओस के जल को नहीं पीये, किन्तु जो गर्म किया हुआ आदि अचित्त जल है उसे ही ग्रहण करे। किसी अग्नि को प्रज्वलित न करे, छुए नहीं, उत्तेजित न करें और उसको बुझाये भी नहीं। इसी प्रकार किसी प्रकार की हवा नहीं करे तथा गरम पानी, दूध या आहार आदि को फूंक से ठण्डा भी न करे। वृक्षों या उनके फल, फूल, पत्ते आदि को तोड़े नहीं, काटे नहीं, तृणादि पर बैठे नहीं। इसी प्रकार चींटी, मकोड़ा, बिच्छू, गाय, घोड़ा, मनुष्य आदि त्रस-प्राणियों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाये तथा वह हिंसा से बचने हेतु सदैव जागृत रहे।

अहिंसा महाव्रत की उपादेयता

अहिंसा का मूल आधार समता है। समता से आत्म-साम्य की निर्मल दृष्टि प्राप्त होती है। विश्व में जितनी भी आत्माएँ हैं उन सभी के प्रति समभाव रखना, यह मेरा है यह पराया है इस प्रकार का भेद-भाव समाप्त कर देना, अहिंसा धर्म की एक महान् उपलब्धि है।

अहिंसा व्रत के माध्यम से यह प्रेरणा उत्पन्न होती है कि जगत की सभी आत्माएँ एक समान हैं, सभी में एक ही तरह की चेतना है, सभी के गुण-धर्म भी समान हैं और सभी को एक-सी सुख-दुःख की अनुभूति होती है। सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता है। कूकर, शूकर और गन्दगी में कुलबुलाते हुए कीड़ों में भी जीजिविषा है। सभी मृत्यु से घबराते हैं। इस प्रकार जब व्यक्ति अन्य प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझने लगता है तो वह हिंसा जैसे निकृष्टतम कृत्य का मनोयोगपूर्वक त्याग कर देता है। इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप स्वजीवन में आत्म तुल्यता का सिद्धान्त प्रस्थापित कर लेता है। इस व्रत की यह मुख्य उपादेयता है।

संक्षेप में कहें तो इस व्रत के परिपालन से समता भाव की वृद्धि होती है। करुणा, दया, मैत्री, परोपकार, सहयोग आदि के गुण विकसित होते हैं। अहिंसक दूसरों को जीने के लिए सहयोग प्रदान करता है और अपनी हिंसाओं की उपेक्षा करके भी दूसरों की रक्षा करने का प्रयास करता है। उसका मानसिक और वैचारिक जगत विशालता, उदारता एवं विराटता के शिखर पर पहुँच जाता है। निष्कर्षत: वह अनेक गुणों को अर्जित कर जीवन को स्व-पर कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। अन्य भी अनेक लाभ विचारणीय हैं।

अहिंसा महाव्रत के अपवाद

सामान्यतया जैनागमों में अहिंसा महाव्रत के सम्बन्ध में अपवादों का उल्लेख मिलता है, किन्तु वे अपवाद त्रस जीवों की हिंसा के सम्बन्ध में नहीं है केवल वनस्पति एवं जल आदि को परिस्थितिवश छूने अथवा आवागमन की स्थिति में उनकी होने वाली हिंसाओं को लेकर है। यद्यपि निशीथचूर्णि आदि आगमेतर ग्रन्थों में मुनि संघ या साध्वी संघ के रक्षणार्थ सिंह आदि हिंसक प्राणियों एवं दुराचारी मनुष्यों की हिंसा करने सम्बन्धी अपवादों का भी उल्लेख है, किन्तु उनके पीछे संघ की रक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इसी तरह यदि धर्म प्रभावना के निमित्त जल, वनस्पति या पृथ्वी-सम्बन्धी हिंसा होती हो तो उसकी छूट दी गयी है तथापि उसके लिए आलोचना या प्रायश्चित्त का विधान आवश्यक है।[35]

अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ

महाव्रतों के स्थिरीकरण के लिए पच्चीस भावनाओं का अभ्यास किया जाता है। अहिंसा महाव्रत के सम्यक् पालन हेतु निम्न पाँच भावनाएँ हैं[36] —

1. **ईर्या समिति** – चलते-फिरते, उठते-बैठते सतत जागरूक रहना।
2. **मन समिति** – मन में रागजन्य विचार उत्पन्न नहीं करना।
3. **वचन समिति** – किसी के मन को दुःखाने वाले वचन नहीं बोलना।
4. **एषणा समिति (आलोकित पान-भोजन)** – जो आहार श्रमण के निमित्त न बना हो, ऐसे निर्दोष आहार की प्राप्ति का प्रयास करना तथा खुले हुए पात्र में आहार करना।
5. **निक्षेपणा समिति** – साधु जीवन के वस्त्र, पात्रादि उपकरणों को सावधानी पूर्वक रखना, उठाना एवं उनका उपयोग करना।

अहिंसा महाव्रत के अतिचार

महाव्रतों का अत्यन्त सतर्कता पूर्वक पालन करते हुए भी कुछ दोष लग जाते हैं, उन्हें अतिचार कहा गया है। अहिंसा महाव्रत में निम्न कारणों से अतिचार लगते हैं[37]– एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों का बल पूर्वक स्पर्श करना, उन जीवों को स्वल्प या अधिक रूप से शारीरिक कष्ट देना, कष्ट पहुँचाना आदि प्रवृत्तियाँ अहिंसाव्रत को दूषित करती हैं।

2. सत्य महाव्रत का स्वरूप

असत्य का सम्पूर्ण त्याग करना सत्य महाव्रत है। सर्वविरतिचारित्र अंगीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है[38]—

'हे भगवन् ! मैं मृषावाद का पूर्ण रूपेण प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से या हंसी से, 'मैं स्वयं असत्य नहीं बोलूंगा, दूसरों से असत्य नहीं बुलवाऊंगा और असत्य बोलने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा। इस व्रत की प्रतिज्ञा तीन करण एवं तीन योग पूर्वक यावज्जीवन के लिए करता हूँ।' शेष पूर्ववत ।

इसका दूसरा नाम मृषावादविरमण व्रत भी है। मृषावाद का अर्थ है – असत्य बोलना, विरमण – विरत होना अर्थात समस्त प्रकार के असत्य भाषण का त्याग करना मृषावाद विरमणव्रत है।

भारतीय चिन्तकों ने सत्य पर सूक्ष्मता से चिन्तन किया है। उनके अनुसार सत्य की कुछ परिभाषाएँ निम्नोक्त हैं – जो शब्द सज्जनता का पावन सन्देश प्रदान करता है, सौजन्य भावना को उत्पन्न करता है और यथार्थ व्यवहार प्रस्तुत करता है, वह सत्य है।[39] जिस शब्द के प्रयोग से अन्य का हित हो, कल्याण

हो, आध्यात्मिक अभ्युदय हो, वह सत्य है।[40] जैन दर्शन के महान् चिन्तक आचार्य उमास्वाति ने परिभाषा दी है – जो पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वह सत है।[41] जैन दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थ चेतन या जड़ तत्त्व रूप हैं। इन दोनों तत्त्वों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है तथापि इनका अस्तित्व सर्वकाल में बना रहता है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य रूप से नित्य है और पर्याय रूप से उत्पत्ति एवं विनाश स्वभाव वाली है। इससे स्पष्ट होता है कि हर वस्तु परिवर्तनशील होने के बावजूद भी अस्तित्ववान् है। पदार्थ का मूलगुण हर समय अपने स्वरूप में स्थित रहता है। अत: सत वह है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता और जो नष्ट होता है वह सत नहीं है। इस सत से सत्य शब्द निष्पन्न है अत: सत्य वह है जिसका अस्तित्व तीनों कालों में है, उसमें किसी प्रकार का सम्मिश्रण नहीं होता है।

सत्य महाव्रत का वैशिष्ट्य

एक व्यक्ति ने परमात्मा महावीर से पूछा – इस विराट् विश्व में कौन-सी वस्तु सारपूर्ण है ? समाधान दिया – इस लोक में सत्य सारभूत है।[42] सत्य रहित जो भी है, वह निस्सार है। सत्य समस्त भावों का प्रकाशक है।[43]

सत्य केवल वाणी तक ही सीमित नहीं रहता है, उसका जन्म सबसे पहले मन में होता है और बाद में वाणी के द्वारा व्यक्त होता है तथा आचरण के द्वारा मूर्त्त रूप लेता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति के मन, वचन और आचरण में एकरूपता रहती है। वह दुनियाँ का सर्वोत्तम मानव होता है। एक जगह लिखा है– जिसके मन, वचन और काया के व्यापार में एकरूपता है वह महात्मा है। इसके विपरीत आचरण करने वाला दुरात्मा है।[44]

सत्य व्यक्ति के उज्ज्वल चरित्र का प्रतीक होता है। हिन्दू मत से सृष्टि सत्य पर प्रतिष्ठित है। सत्य से ही आकाश, वायु, पृथ्वी आदि स्थिर हैं।[45] एक आचार्य ने कहा है – पृथ्वी सत्य के कारण टिकी हुई है, सूर्य सत्य के कारण प्रकाश और ताप देता है, सत्य के प्रभाव से शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन प्रवाहित है और तो क्या ? विश्व की सभी वस्तुएँ सत्य पर प्रतिष्ठित हैं।[46] शिवपुराण में कहा है[47]– तराजू के एक पलड़े में हजारों अश्वमेघ यज्ञ के पुण्य को रखा जाये और दूसरे पलड़े में सत्य को रखा जाये तो हजारों अश्वमेघ यज्ञ के पुण्य से बढ़कर सत्य का पुण्य है। सन्त तुलसीदास ने सभी सुकृत्यों का मूल सत्य

को बताया है।[48] उपनिषदकार का मन्तव्य है कि सत्य से आत्मा उपलब्ध होता है।[49] सत्य आत्म-साक्षात्कार का साधन है, आत्मानुभूति का हेतु है, सत्य कष्टों को दूर करता है, धर्म की जड़ सत्य पर आधारित है। भारत की शासकीय मुद्रा पर 'सत्यमेव जयते' अंकित है। हर धार्मिक स्थल पर सत्य बोलने की प्रेरणा दी जाती है।

पाश्चात्य दार्शनिक आर.डब्ल्यू. एमर्सन ने एक बार कहा था – सत्य का सर्वश्रेष्ठ अभिनन्दन यही है कि हम जीवन में उसका आचरण करें।[50] महात्मा गांधी ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा – जो व्यक्ति सत्य को जानता है, मन, वचन, काया से सत्य का आचरण करता है, वह परमात्मा को पहचानता है।[51] एक चिन्तक ने लिखा है – मानव जीवन की नींव सत्य पर अवलम्बित है। सत्य सम्पूर्ण जीवन और सृष्टि का एक मात्र आधार है। महाभारत में बताया गया है कि जिस प्रकार नौका के सहारे से व्यक्ति विशाल समुद्र को पार कर जाता है उसी प्रकार मानव सत्य के सहारे नरक-तिर्यञ्च के अपार दुःखों को पार कर स्वर्ग प्राप्त कर लेता है।[52]

सत्य दुर्गुणों को दूर करने वाला मरहम है। यह अनुभव सिद्ध है कि जब तक शरीर में उष्मा रहती है तब तक शरीर पर मक्खी- मच्छर आदि बैठ जायें तो शरीर उसे सहन नहीं कर पाता, जबकि निश्चेष्ट होने के बाद शरीर का कुछ भी कर दिया जाये, उसे पता ही नहीं लगता है। उसी प्रकार साधक के जीवन में भी जब तक सत्य की उष्मा रहती है तब तक कोई भी दुर्गुणरूपी मक्खी-मच्छर उसे बर्दाश्त नहीं होता है।[53]

सत्य का उपासक स्वयं की कमजोरियों को सुधारने हेतु सदैव उद्यमशील रहता है एतदर्थ सत्य को स्वयम्भू, सर्वशक्तिमान् और स्वतीर्थगुप्त (रक्षित) कहा गया है। सत्य अपूर्व बल का द्योतक है। इसीलिए कहते हैं– 'सत्य में हजार हाथियों के बराबर बल होता है।'

सारांश रूप में सत्य सभी सद्गुणों का जनक है, नैतिक विकास का मूल मन्त्र है, मानवीयता को अखण्डित बनाये रखने हेतु सुदृढ़ कवच है।

भाषा के प्रकार

जैन आगमकारों ने भाषा के चार प्रकार बतलाये हैं– 1. सत्य, 2. असत्य, 3. मिश्र और 4. व्यावहारिक।[54] इनमें असत्य और मिश्र भाषा का व्यवहार

श्रमण के लिए वर्जित माना गया है। सत्य और व्यावहारिक भाषा भी यदि पाप और हिंसा की सम्भावना से युक्त हो तो वह भी जैन मुनि के लिए निषिद्ध है। दशवैकालिकसूत्र का सुवाक्यशुद्धि नामक आठवाँ अध्याय इसी विषय से सम्बन्धित है।[55] इस आगम के अनुसार मुनि न बोलने योग्य सत्य भाषा भी न बोले। जो भाषा थोड़ी सत्य और थोड़ी असत्य (नरो वा कुंजरो वा) हो, ऐसी मिश्र भाषा का प्रयोग भी संयमी साधु न करे। जो भाषा पाप रहित, अकर्कश एवं सन्देह रहित हो वह भी विचारपूर्वक बोले।

इसी प्रकार जैन मुनि निश्चयकारी वचन भी न बोले। पारिवारिक सम्बन्धों के सूचक शब्द जैसे – माता, पिता, पति, पुत्र आदि, अपमानजनक शब्द जैसे – मूर्ख, पागल आदि का भी प्रयोग न करे। जिस भाषा से हिंसा की सम्भावना हो, ऐसी भाषा का प्रयोग भी न करे। इस तरह जैन श्रमण के लिए असत्य और अप्रिय सत्य दोनों का निषेध है।

दुनियाँ का समस्त व्यवहार भाषा पर आधारित है। सामान्य व्यक्तियों के लिए भी भाषा का सम्यक् प्रयोग करना आवश्यक होने से तथा व्यक्ति के विकास-ह्रास, सुख-दुःख आदि प्रवृत्तियों में भाषा की मुख्य भूमिका होने से भी इस पर कुछ गहराई से चिन्तन किया जाना चाहिए।

(i) सत्य भाषा – दशवैकालिकनिर्युक्ति में सत्य भाषा के दस प्रकार कहे गये हैं जो निम्न हैं[56] –

1. जनपद सत्य – जिस देश में जिस वस्तु के लिए जिस शब्द का प्रयोग होता हो, वह शब्द उस देश की अपेक्षा सत्य माना जाता है। उदाहरणार्थ - कोंकण देश में पानी को 'पिच्च' कहा जाता है। यदि उस देश की अपेक्षा से यहाँ भी पानी को पिच्च कहा जाये तो वह सत्य है। इसकी सत्यता का आधार है आशय शुद्धि एवं व्यवहार प्रवृत्ति।

2. सम्मत सत्य – जो वचन सर्व सम्मत हो जैसे सूर्य विकासी, चन्द्र विकासी आदि। सभी कमल कीचड़ में पैदा होते हैं, किन्तु पंकज शब्द का प्रयोग अरविन्द के लिए ही होता है। अत: पंकज शब्द का प्रयोग अरविन्द के लिए सत्य है और कुवलयादि के लिए असत्य है।

3. स्थापना सत्य – आकृति विशेष को देखकर उसके लिए शब्द विशेष का प्रयोग करना स्थापना सत्य है जैसे एक संख्या के आगे दो बिन्दु (100) लगे

हुए देखकर 'सौ' शब्द का तथा तीन बिन्दु (1000) लगे देखकर हजार शब्द का प्रयोग करना अथवा पत्थर आदि की मूर्ति में तथाविध आकार देखकर अरिहन्त परमात्मा का कथन करना।

4. **नाम सत्य** – जो केवल नाम मात्र से सत्य हो जैसे अकेला होने पर भी किसी का नाम 'कुलवर्धन' हो वह नाम मात्र से सत्य है, भाव से नहीं। इसी प्रकार कोई धन की वृद्धि नहीं करता हो फिर भी उसे धनवर्धन कहना आदि।

5. **रूप सत्य** – जो स्वरूप से सत्य हो जैसे किसी ने किसी परिस्थितिवश साधु वेष धारण किया हो, उसको वेश के आधार पर साधु कहना रूप सत्य है।

6. **प्रतीत्य सत्य** – जो अपेक्षाकृत सत्य हो जैसे अनामिका अंगुली को कनिष्ठा की अपेक्षा से लम्बी और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी कहना।

7. **व्यवहार सत्य** – जो भाषा लोकव्यवहार से सत्य मानी जाती हो जैसे मटकी से पानी झर रहा हो तो मटकी झर रही है, ऐसा कहना। चलते हुए किसी गाँव में पहुँच गये हो तो गाँव आ गया ऐसा कहना। हालांकि मटकी झरती नहीं है, गाँव एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलकर आता नहीं है फिर भी लोक भाषा में वैसा बोला जाने से सत्य है।

8. **भाव सत्य** – पाँच वर्ण वाली वस्तु को किसी एक वर्ण की अधिकता की अपेक्षा से एक वर्ण वाली कहना भाव सत्य है जैसे 'बलाका' में पाँच वर्ण होने पर भी शुक्ल वर्ण का आधिक्य होने से उसे सफेद कहना।

9. **योग सत्य** – किसी वस्तु के सम्बन्ध से व्यक्ति को भी उस नाम से पुकारना जैसे कोई व्यक्ति हमेशा दण्ड रखता हो, पर कभी दण्ड न हो तो भी उसे 'दण्डी' के नाम से पुकारना।

10. **औपम्य सत्य** – उपचार से उपमेय को उपमान के रूप में पुकारना जैसे बहुत बड़े तालाब को 'समुद्र' कहना, अत्यन्त सुन्दर एवं सौम्य चेहरे को 'चन्द्रमा' कहना।

जैन मुनि पूर्वोक्त दस प्रकार की भाषा का प्रयोग प्रसंगानुसार कर सकता है।

(ii) असत्य भाषा – असत्य भाषा भी निम्न दस प्रकार की प्रज्ञप्त है–[57]

1. क्रोधमृषा – क्रोध वश सत्य या असत्य कुछ भी बोलना जैसे तूं मेरा पुत्र नहीं है, तूं दास है, तूं पैसे वाला है, मुझे पता है आदि शब्द सत्य होने पर भी आशय विपरीत होने से असत्य है।

2. मानमृषा – स्वयं का उत्कर्ष बताने के लिए झूठ बोलना कि 'मैं पहले ऐश्वर्यवान था, मेरी इतनी जायदाद थी' आदि।

3. मायामृषा – दूसरों को ठगने के लिए सत्य या असत्य कुछ भी बोलना, जैसे मीठी-मीठी बातें करके अन्यों की सारी हकीकत जान लेना।

4. लोभमृषा – लोभवश अल्प मूल्य वाली वस्तु को मूल्यवान कहना लोभमृषा है।

5. प्रेममृषा – प्रेमवश असत्य भाषण करना जैसे रागवश कोई पुरुष किसी स्त्री को कहता है- मैं तेरा दास हूँ।

6. द्वेषमृषा – द्वेषवश झूठ बोलना जैसे गुणी को निर्गुणी कहना।

7. हास्यमृषा – हँसी-मजाक में झूठ बोलना, जैसे किसी चलते हुए व्यक्ति को उसकी छाया दिखाकर कहना - देखो तुम्हारे पीछे-पीछे कौन चल रहा है ?

8. भयमृषा – चोरादि के भय से असत्य बोलना।

9. कथामृषा – कथा को रसमय बनाने के लिए बढ़ा-चढ़ाकर बात करना।

10. उपघातमृषा – किसी का मन दुःखाने के लिए कहना – 'तूं चोर है, तूं बदमाश है' आदि।

(iii) मिश्र भाषा – दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रतिपादित मिश्र-भाषा के दस प्रकार निम्न हैं[58]—

1. उत्पन्नमिश्र – गाँव में दस से कम या अधिक बच्चों का जन्म होने पर भी यह कहना कि आज गाँव में दसों बच्चे जन्मे हैं। यह व्यवहार से सत्यमृषा है। जैसे मैं तुम्हें कल सैकड़ों रुपये दूंगा - यह कहकर मात्र दो सौ रुपये देना।

2. विगतमिश्र – गाँव में कम-ज्यादा लोगों की मृत्यु होने पर भी यह कहना कि आज इस गाँव में इतने लोगों का देहान्त हुआ।

3. अभयमिश्र – गाँव में कम या अधिक लोगों का जन्म हुआ हो या मृत्यु हुई हो तो भी कहना कि इतने जन्मे और इतने मरे।

4. **जीवमिश्र** – अधिक जीवित हों और अल्प मृत हों, ऐसे शंख, सीपादि के ढेर को देखकर कहना कि यह जीवों का ढेर है। यह कथन जीवित की अपेक्षा सत्य है और मृत की अपेक्षा असत्य होने से यह मिश्रभाषा है।

5. **अजीवमिश्र** – शंख, सीपादि के ढेर में बहुत से जीव मरे हुए हों और अल्प जीवित हों तो भी कहना कि यह मृत जीवों का ढेर है।

6. **जीवाजीवमिश्र** – मरे हुए और जीवित जीवों के ढेर में संख्या का निश्चय न होने पर भी कहना कि इसमें इतने मरे हुए हैं और इतने जीवित हैं। संख्या निश्चित न होने पर भी निश्चित संख्या बताना मृषा है।

7. **अनन्तमिश्र** – 'मूली' आदि अनन्तकाय हैं, उसके पत्ते अनन्तकाय नहीं हैं, किन्तु दोनों को अनन्तकायिक कहना अनन्तमिश्र है।

8. **अद्धामिश्र** – काल के सम्बन्ध में सत्य-असत्य मिश्रित भाषा बोलना, जैसे किसी को उठाने के लिए सूर्योदय न होने पर भी कहना कि 'जल्दी उठो' सूर्योदय हो गया है, गाड़ी को रवाना होने में देर है फिर भी कहना कि 'गाड़ी जाने वाली है' आदि।

9. **प्रत्येकमिश्र** – प्रत्येक वनस्पति को अनन्तकाय के साथ मिश्रित देखकर 'यह सारा प्रत्येक वनस्पति है' यह बोलना प्रत्येकमिश्र है।

10. **अद्धाद्धामिश्र** – दिन या रात का एक हिस्सा अद्धाद्धा कहलाता है जैसे प्रथम प्रहर में कोई काम करना हो तो देर न हो जाये, इसलिए कार्यकर्त्ताओं को कहना कि जल्दी करो मध्याह्न हो गया है।

उपर्युक्त सभी कथन व्यावहारिक भाषा में प्रचलित हैं, किन्तु उनकी सत्यता और असत्यता का एकान्त रूप से निर्धारण नहीं होता है, अतः मिश्र-भाषा कहा गया है अथवा जब कथनों को निश्चित रूप से सत्य या असत्य की कोटि में रखना सम्भव नहीं होता है तो उन्हें सत्य-मृषा कहा जाता है।

(iv) व्यवहारभाषा – यह भाषा न सत्य होती है न असत्य, किन्तु व्यवहारोपयोगी है। इस भाषा को बारह प्रकार से बोला जा सकता है जो इस प्रकार हैं[59]–

1. **आमन्त्रणी** – 'आप हमारे यहाँ पधारें', 'आप हमारे उत्सव में सम्मिलित हों' – इस प्रकार आमन्त्रण देने वाले कथनों की भाषा आमन्त्रणी है। यह भाषा सत्य-असत्य और मिश्र इन तीनों से विलक्षण मात्र व्यवहारोपयोगी है।

2. आज्ञापनी – 'दरवाजा बन्द कर दो', 'भोजन कर लो' आदि आज्ञावाचक कथन भी सत्य या असत्य की कोटि में नहीं आते, केवल व्यवहार प्रचलित है।

3. याचनी – 'यह दो' इस प्रकार की याचना करने वाली भाषा भी सत्य और असत्य की कोटि से परे होती है, अत: व्यवहारात्मक है।

4. पृच्छनी – यह रास्ता कहाँ जाता हैं ? आप मुझे इस पद्य का अर्थ बतायेंगे ? इस प्रकार के कथनों की भाषा पृच्छनीय कही जाती है। इस भाषा में किसी प्रकार का विधि-निषेध नहीं होता है।

5. प्रज्ञापनी – चोरी नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए आदि उपदेशात्मक वचन बोलना प्रज्ञापनी भाषा है।

6. प्रत्याख्यानी – किसी प्रार्थी की मांग को अस्वीकार करना प्रत्याख्यानी भाषा है जैसे तुम्हें यहाँ नौकरी नहीं मिलेगी अथवा तुम्हें भिक्षा नहीं दी जा सकती। यह भाषा भी सत्यापनीय नहीं है।

7. इच्छानुवर्त्तिनी – किसी कार्य में अपनी अनुमति देना अथवा किसी कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी स्पष्ट करना इच्छानुवर्त्तिनी भाषा है जैसे तुम्हें यह कार्य करना ही चाहिए, मुझे झूठ बोलना पसन्द नहीं है आदि।

8. अनभिगृहीता – जिसमें वक्ता अपनी न तो सहमति प्रदान करता है और न असहमति, ऐसा कथन अनभिग्रहीता कहलाता है जैसे एक साथ बहुत से काम आ गये हों और कोई पूछे कि 'अब मैं क्या करूँ?' तो कहना कि जैसा उचित समझो, वैसा करो।

9. अभिगृहीता – निर्णयात्मक वचन बोलना जैसे कोई वैराग्यधारी पूछे कि 'अब मैं दीक्षित हो सकता हूँ ?' तो कहना 'हाँ ! अब दीक्षित हो जाओ।'

10. संशयकरणी – संशय करने वाली भाषा बोलना अथवा अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग कर सामने वाले को संशय में डालना जैसे 'सैन्धव लाओ' यहाँ सैन्धव शब्द के अनेक अर्थ है - लवण, वस्त्र, पुरुष और घोड़ा। इस भाषा के द्वारा सुनने वाले को संशय होता है कि क्या लाना चाहिए?

11. व्याकृता – स्पष्ट अर्थ वाली भाषा बोलना।

12. अव्याकृता – गूढ़ अर्थ वाली या अस्पष्ट अर्थ वाली भाषा बोलना।

ज्ञातव्य है कि जैन साधक सत्य एवं व्यवहार इन दो प्रकार के उपप्रकारों की भाषा का प्रयोग कर सकता है, शेष दो प्रकार की भाषा निषिद्ध कही गयी

हैं। इसमें सत्य और व्यवहार भाषा भी किसी को कठोर न लगे, इस प्रकार बोलनी चाहिए।

असत्य बोलने के कारण

जैन ग्रन्थों में असत्य बोलने के मुख्यत: छह कारण आख्यात हैं[60] –

1. **क्रोध** – तूं दास है इस प्रकार कहना।
2. **मान** – अल्पश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत कहना।
3. **माया** – भिक्षाटन से जी चुराने के लिए 'पैर में पीड़ा है' ऐसा कहना।
4. **लोभ** – सरस भोजन की प्राप्ति होते हुए देखकर निर्दोष आहार को सदोष कहना।
5. **भय** – प्रायश्चित्त के भय से सेवित दोषों को स्वीकार नही करना।
6. **हास्य** – कुतूहलवश असत्य बोलना।

आशय यह है कि अधिकांश व्यक्ति उक्त प्रसंगों में असत्य बोलते हैं।

सत्य महाव्रत की उपादेयता

सत्य महाव्रत स्वीकार करने के पीछे निम्न प्रयोजन दृष्टिगत होते हैं – सत्य महाव्रत का पालन करने वाला साधक वाद-विवाद, कलह-संघर्ष आदि सन्तापकारी स्थितियों से स्वयं को बचा लेता है। हमेशा के लिए सभी का विश्वास पात्र बना रहता है। चुगलखोरी करना, बढ़ा-चढ़ाकर बोलना, उतावलेपन या जल्दबाजी में बोलना, बिना सोचे बोलना, अकारण बोलना आदि असत्प्रवृत्तियाँ कम हो जाती है।

क्रोध दशा में भी असत्य वचन न बोलने की प्रतिज्ञा करने से क्रोध पर नियन्त्रण होता है और सत्य-असत्य का विवेक जागृत रहता है।

लोभवश असत्य वचन न बोलने की प्रतिज्ञा करने से पर-पदार्थों की आसक्ति न्यून होती है, वस्तुओं का ममत्व भाव क्षीण होता है और निर्लोभता का गुण उत्पन्न होता है।

भय वश असत्य वचन न बोलने का प्रत्याख्यान करने से सात प्रकार के भय दूर होते हैं और अभय की साधना का प्रारम्भ होता है।

हास्य पूर्वक असत्य भाषण न करने का प्रत्याख्यान होने से इन्द्रियों का संयम होता है, चंचल वृत्तियों का निरोध होता है, गाम्भीर्य गुण पैदा होता है तथा अन्यों के द्वारा उपहास का पात्र होने से बच जाता है।

सत्य बल के माध्यम से विशिष्ट शक्तियों और लब्धियों का भी स्वामी बनता है और वचन सिद्ध पुरुष की कोटि में सर्वोत्तम स्थान प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार सत्य महाव्रत की उपादेयता विविध दृष्टियों से रही हुई है।

सत्य महाव्रत के अपवाद

विद्वद् मनीषी डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है – यद्यपि सत्य-महाव्रत का पालन उत्सर्गत: होता है तथापि जैन आगमों में इसके कुछ अपवाद मिलते हैं। ये अपवाद प्रमुखतया सत्य को अहिंसक बनाये रखने के दृष्टिकोण को लेकर ही है। जैसा कि आचारांगसूत्र में वर्णन आता है कोई भिक्षु मार्ग में जा रहा हो और सामने से कोई शिकारी व्यक्ति आकर उससे पूछे कि– हे मुनि! क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर आते देखा है ? इस स्थिति में यदि मुनि प्रश्न की उपेक्षा करके मौन रहता है और मौन रहने का अर्थ-स्वीकृति लगाये जाने की सम्भावना होती हो तो जानता हुआ भी यह कहे कि मैं नहीं जानता।[61] यहाँ असत्य भाषण अपवादत: स्वीकार किया गया है। यह बात निशीथचूर्णि में भी वर्णित है।[62] आचारांगसूत्र के उक्त सन्दर्भ में हमें यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि साधक प्रथमत: अहिंसा एवं सत्य महाव्रत की रक्षा हेतु मौन में ही रहे, लेकिन इतना *आत्मबल न हो कि मौन में रहते हुए* अहिंसा और सत्य दोनों की सुरक्षा कर सके तब अपवाद मार्ग का सेवन करे।

भगवान महावीर के जीवन के ऐसे अनेक प्रसंग हैं जब उन्होंने कठिन परिस्थितियों में भी मौन रहकर अहिंसा एवं सत्य-महाव्रत की रक्षा की। सामान्य मुनियों के लिए भी यही विधान है कि उस प्रकार की सत्य बात जो किसी का उपघात करने वाली हो, उसे न कहकर साधक यथासम्भव मौन में रहे अन्यथा अपवाद मार्ग का सेवन करे।

सत्य महाव्रत की भावनाएँ

सत्य महाव्रत को परिपुष्ट करने हेतु निम्नोक्त पाँच भावनाएँ कही गयी हैं[63]—

1. अनुवीचि भाषण – विवेक पूर्वक बोलना। बिना विचारे बोलने पर असत्य भाषण की सम्भावना रहती है।इससे वैर-बन्धन, आत्म-पीड़ा तथा अन्य जीवों के नाश की सम्भावनाएँ रहती हैं।

2. क्रोध विवेक – क्रोध का त्याग करके बोलना। अन्यथा क्रोधावस्था में बुद्धि कुण्ठित हो जाने से असत्य वचन की सम्भावनाएँ विशेष रहती हैं।

3. लोभ विवेक – लोभ के वशीभूत होकर नहीं बोलना क्योंकि लोभी *आत्मा धनलिप्सा के कारण निश्चित ही असत्यभाषी होता है।*

4. भय विवेक – निर्भीक वचन बोलना, चूंकि किसी भी प्रकार के भय की स्थिति में असत्य भाषण की सम्भावना रहती है।

5. हास्य विवेक – हास्य का त्याग करके बोलना क्योंकि हंसी-मजाक में असत्य भाषण की प्रवृत्ति लगभग देखी जाती है।

सत्य-महाव्रती को क्रोधादियुक्त वचन प्रवृत्ति न करने का पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिए।

सत्य महाव्रत के अतिचार

इस सत्य महाव्रत में सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के अतिचार लगते हैं। इसमें प्रचला आदि के द्वारा सूक्ष्म अतिचार लगते हैं जैसे एक साधु ने दूसरे साधु से कहा– 'हे मुनिप्रवर! दिन में बैठे-बैठे क्यों नींद ले रहे हो ? तब वह साधु निद्रा लेते हुए भी यह बोले कि कौन नींद ले रहा है ? यह सूक्ष्म अतिचार है तथा क्रोधादि के वशीभूत होकर असत्य बोलना बादर अतिचार है।[64]

3. अचौर्य महाव्रत का स्वरूप

किसी मालिक के द्वारा नहीं दी गयी वस्तु को स्वीकार करने का सर्वथा त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत है। इस व्रत का प्रतिज्ञासूत्र इस प्रकार है[65]—

'हे भगवन् ! मैं सर्व अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी अदत्त वस्तु का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से अदत्त वस्तु ग्रहण नहीं कराऊँगा और अदत्त वस्तु ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। यह प्रतिज्ञा तीन करण- तीन योग पूर्वक यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता हूँ।' शेष पूर्ववत।

इसका दूसरा नाम सर्वथा अदत्तादानविरमणव्रत है। अदत्त-बिना दी हुई, आदान- ग्रहण करना, विरमण-निवृत्त होना अर्थात बिना दी हुई वस्तु का सर्वथा प्रकार से त्याग कर देना, उससे विरत हो जाना अदत्तादानविरमण व्रत है। इसे अचौर्य व्रत एवं अस्तेय व्रत भी कहते हैं।

यह महाव्रत चौर्यकर्म न करने से सम्बन्धित है, अतः हमें चोरी के स्वरूप को समझना होगा, तभी इस व्रत का निर्दोष पालन किया जा सकता है।

चोरी का अर्थ एवं उसके प्रकार

मालिक की अनुमति के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण करना, बिना दी हुई वस्तु को स्व-इच्छा से उठा लेना, उसका उपभोग एवं उपयोग करना अदत्तादान है। इसे चोरी भी कहते हैं।

सामान्यतया चोरी के अनेक प्रकार हैं। उनमें कुछ मुख्यतया निम्न हैं -

छन्न– इस चोरी से तात्पर्य है कि स्वयं के या अन्य किसी के घर पर बहुत-सी वस्तुएँ हों, उनमें से कोई वस्तु मालिक की आज्ञा के बिना गुप्त रूप से उठाकर अपने अधिकार में कर लेना या उसका उपयोग करना छिन्न चोरी है।

नजर – किसी वस्तु को उसके अधिपति या उसके संरक्षक सदस्य की आँख बचाकर ग्रहण कर लेना नजर चौर्यकर्म है।

ठगी – किसी वस्तु को मालिक के सामने ही इस तरह से लेना कि उसे मालूम ही न पड़े अथवा अच्छी वस्तु बताकर निम्न कोटि की वस्तु देना अथवा वस्तु में मिलावट करना, नाप-तोल में गड़बड़ करना, वस्तु का जितना दाम है उससे अधिक मूल्य लेना आदि ठग चोरी हैं।

उद्घाटक – गाँठ खोलकर, जेब काटकर, सेंध लगाकर, ताला तोड़कर, तिजोरी तोड़कर किसी वस्तु को चुरा लेना उद्घाटक चोरी है।

बलात – किसी के यहाँ डाका डालकर, जबर्दस्ती छीना-झपटी कर या मार-पीट कर, शस्त्र दिखाकर वस्तु को ग्रहण करना बलात चोरी है।

घातक – वस्तु के स्वामी या संरक्षक की हत्या कर उसकी सभी चीजें ग्रहण कर लेना घातक चोरी है।

उक्त चोरियाँ वस्तु के अधिपति की असावधानी से होती हैं और प्रत्यक्ष में दिखायी भी देती हैं।[66] ये सभी अर्थ चोरी के प्रकार हैं।

भाव चौर्य के प्रकार – दशवैकालिकसूत्र में पाँच प्रकार की भाव चोरी बतायी गयी है, वह निम्न हैं[67]—

1. **तप चोर** – तपसाधना न करते हुए भी स्वयं को तपस्वी बताना।
2. **वाणी चोर** – धर्मकथी या वादी न होते हुए भी स्वयं को वैसा बताना।
3. **रूप चोर** – उच्च जातीय न होते हुए भी स्वयं को वैसा बताना।

4. आचार चोर – आचार-सम्पन्न न होते हुए भी स्वयं को आचारवान बताना।

5. भाव चोर – सूत्र और अर्थ को न जानते हुए भी अभिमानवश जानने का भाव प्रदर्शित करना।

भाव चोरी करने वाला साधक किल्विषिक देव रूप में उत्पन्न होता है। देवत्व का स्वरूप पाकर भी वह यह नहीं जानता है कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है'। वहाँ से च्युत होकर मनुष्य गति में गूंगेपन को प्राप्त होता है अथवा नरक या तिर्यञ्च योनि में जाता है जहाँ सत्य की बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है।

चोरी के अन्य प्रकार – कुछ चोरियाँ अप्रत्यक्ष रूप से होती हैं। जैसे किसी के द्वारा अत्यधिक सुन्दर कार्य किया गया हो तो यह कार्य मैंने किया है या किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावों को लेकर उसे अपने नाम से लिखना, या शब्दों का हेर-फेर कर उस पर अपना नाम लगाना आदि नाम चोरी है अथवा जिस व्यक्ति ने तप नहीं किया है, किन्तु किसी को उसी के नाम से भ्रम हो गया हो और कोई उसे कहे – धन्य हैं आप! आप सदृश तपस्वी का दर्शन कर मेरा हृदय आनन्द से तरंगित हो रहा है इस प्रकार के प्रशंसात्मक शब्द सुनकर भी जो यह स्पष्टीकरण नहीं करता कि आप जिसके लिए कह रहे हैं, वह मैं नहीं हूँ। वे व्यक्ति दूसरे हैं। इस तरह दूसरे के नाम को छिपाकर यश प्राप्त करने का प्रयास करना यह भी नाम चोरी का एक रूप है।यह चोरी गृहस्थ एवं साधु दोनों के लिए त्याज्य है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि यदि किसी व्यक्ति से कोई वस्तु मांगकर लाये हैं तो वह कार्य पूर्ण होते ही तुरन्त उस व्यक्ति को लौटा देनी चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि जब तक वे माँगने नहीं आयेंगे तब तक तो इसका उपयोग कर लें। यह भी चोरी का एक प्रकार है।

आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह करना भी एक तरह की चोरी है। क्योंकि एक स्थान पर संगृहीत हो जाने से वह वस्तु जरूरतमन्द व्यक्ति को नहीं मिल पाती है, वह उससे वंचित रह जाता है इसलिए यह चोरी का सूक्ष्म प्रकार है।

जिस व्यक्ति के पास जो शक्तियाँ हैं चाहे वह शक्ति धन की हो या बुद्धि की हो या किसी अन्य प्रकार की हों। जैसे जरूरतमन्दों के लिए धनादि का दान

नहीं करता है, विद्याभिलाषियों के लिए अध्ययन-अध्यापन का कार्य नहीं करता है, किसी को अपना ज्ञान नहीं बाँटता है तो यह भी एक तरह की ज्ञान चोरी है।

चोरी का एक प्रकार यह भी माना जा सकता है कि कोई किसी पर उपकार करे और उस उपकार को भूल जाये अथवा अहंकारवश अपने उपकारी का नाम छुपाना। किसी के द्वारा पूछे जाने पर यह कहना कि यह ज्ञान तो मैंने स्वयं के बुद्धिबल से प्राप्त किया है। यह उपकार-विस्मरण चोरी है।

यदि माता-पिता सन्तान के प्रति या सन्तान माता-पिता के प्रति, गुरुजन शिष्य के प्रति या शिष्य गुरुजनों के प्रति, राष्ट्र-व्यक्ति के प्रति या व्यक्ति राष्ट्र के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं निभाता है तो वह भी चोरी मानी जाती है जो कार्य स्वल्पतम समय में किया जा सकता है, उस कार्य को लम्बे समय तक करते रहना भी चोरी का एक रूप है। डॉक्टर, अध्यापक, व्यापारी, सैनिक, पुलिस, सेनापति, वकील, वैज्ञानिक आदि भी अपने कर्त्तव्य नहीं निभाते हैं तो यह सर्व कर्त्तव्य चोरी है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार किसी की निन्दा करना, किसी के दोषों को देखना, चुगली करना, दान आदि सत्कर्म में अन्तराय डालना अन्य जीवों के प्राणों का अपहरण करना, दूसरे के अधिकार को छीनना, किसी के हृदय को दुःखाना, किसी के साथ अन्याय करना आदि भी चोरी है।[68] अस्तेय महाव्रत के साधक को चौर्य कर्म के इन सभी प्रकारों से बचना चाहिए।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में चोरी के प्रकार – चौर्यकर्म के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि केवल छिपकर या बलात्कारपूर्वक किसी व्यक्ति की वस्तु या धनादि का हरण कर लेना ही चोरी नहीं है, जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। जैन विचारणा में अन्याय पूर्वक किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र का अधिकार हरण करना भी चोरी कहा गया है। यदि सूक्ष्म रूप से अवलोकन किया जाये तो प्रतीत होता है कि उदर पूर्ति के लिए या जीवन गुजारा करने के लिए जो निर्धन या असहाय व्यक्ति चोरी करते हैं वे उतने अपराधी नहीं हैं जितने दूसरों के अधिकारों का हनन करने वाले हैं। इसके कुछ रूप निम्न हैं–

1. राजा, शासक या नेता के द्वारा राजनीतिक, सामाजिक या नागरिक अधिकारों का हनन करना भी चोरी है।

2. समृद्धिशाली, उच्चवर्गीय या धर्मनिष्ठता का लेबल लगाने वालों के द्वारा निर्धन लोगों के साथ ऊँच-नीच का भेद-भाव करना, उन पर अन्याय या

अत्याचार करना भी चोरी है।

3. जमीन के मालिक के द्वारा श्रमिकों या गरीब किसानों का शोषण करना भी चोरी है।

4. उद्योगपतियों के द्वारा मजदूर वर्ग को उनके परिश्रम के अनुपात में वेतन नहीं देना या कम देना भी चोरी है।

5. व्यापारियों के द्वारा वस्तुओं में मिलावट करना या उचित मूल्य से अधिक दाम लेना या कम माप-तौल करना भी चोरी है।

6. वकीलों के द्वारा अर्थ के लोभ से झूठे मुकदमें लड़वाना या लड़ना और जान-बूझकर निरपराधी को अपराधी घोषित करना भी चोरी है।

7. अध्यापक आदि के द्वारा भी विद्यार्थी को न्यायपूर्वक एवं नैतिक संस्कारपूर्वक नहीं पढ़ाना अथवा उन्हें अन्याय, अनीति, अत्याचार में प्रवृत्त करना भी चौर्यकर्म है।

अचौर्य महाव्रत का माहात्म्य

अचौर्य अहिंसा और सत्य का विराट् रूप है। अचौर्य महाव्रत का मूल्य आध्यात्मिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से आंका जा सकता है। इस व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए सिन्दूर प्रकरण में कहा गया है जो व्यक्ति अदत्त वस्तु का ग्रहण नहीं करता है सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है, समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है, किसी प्रकार की सांसारिक पीड़ा उसे सताती नहीं है, सुगति उसकी स्पृहा करती है, दुर्गति उसे निहारती भी नहीं है और विपत्ति उसका परित्याग कर देती हैं।[69]

आचार्य पतञ्जलि ने योग दर्शन में कहा है – अस्तेय व्रत का पालन करने से उसे सर्वरत्न प्राप्त होते हैं और समस्त अनुकूलताएँ उसके अधीन होती हैं।[70]

जो इस व्रत को स्वीकार करता है वह उपभोग्य वस्तुओं के प्रति इतना अवश्य सोचता है कि हम कितने और कौन से पदार्थ लेने के अधिकारी हैं ? किस पदार्थ को किस विधि से और किस तरह से लेना चाहिए ? जिन पदार्थों को हम उपयोग में ले रहे हैं वे हमारे लिए उपभोग के लिए उचित हैं या नहीं? यदि उचित है तो कितनी मात्रा में उचित है? जिससे दूसरों के अधिकार का हनन न हो, दूसरों को जीवन जीने में कठिनाई न आये। इस तरह के विचार अस्तेय व्रत की महिमा को दर्शाते हैं।

अचौर्य महाव्रत की उपयोगिता

जैन दृष्टिकोण के अनुसार चौर्यकर्म करना एक प्रकार की हिंसा है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में उल्लेखित है कि सम्पत्ति प्राणियों का बाह्य प्राण है, क्योंकि उनका जीवन इस पर आधारित रहता है इसलिए किसी भी व्यक्ति की सम्पत्ति का हरण करना उसके प्राणों के हनन करने के समान है।[71] प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि यह अदत्तादान (चोरी) दुःख, सन्ताप, मरण एवं भयोत्पाद की जननी है, यह वृत्ति लोभ को बढ़ावा देती है, यह अपयश का कारण है, इसकी सर्वत्र निन्दा की गयी है।[72] इसीलिए श्रमण के लिए यह नियम है कि वह छोटी हो या बड़ी, सचित्त हो या अचित्त, कोई भी वस्तु हो, यहाँ तक कि दाँत साफ करने का तिनका भी क्यों न हो, बिना दिये न ले। अदत्त वस्तु न स्वयं ले, न अन्य के द्वारा ले और न लेने वाले का अनुमोदन ही करे।[73] इस तरह तृतीय महाव्रत के माध्यम से व्यक्ति के बाह्य प्राणों की हिंसा का त्याग किया जाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से अस्तेय व्रत व्यक्ति के अधिकार की सीमा तय करता है, मर्यादित जीवन जीने के लिए उत्प्रेरित करता है तथा पाशविक वृत्तियों का उन्मूलन करता है। श्रेष्ठ जीवन जीने का सन्देश देता है। स्वयं की आवश्यकताओं को न्याय-नीति से और योग्य पुरुषार्थ से प्राप्त करने की प्रेरणा देता है। अनधिकारिक चेष्टाओं से विरत करता है। अनैतिक एवं स्वार्थपरक वृत्तियों से ऊँचा उठाता है। सामाजिक संघर्ष व असन्तोष की आग को समाप्त करता है। आर्थिक दृष्टि से समाज को विकासशील बनाता है। समाज में फैल रही विषमता और दीनता को दूर करता है। इससे स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का उद्भव होता है। मानवीयता प्रस्फुटित होती है। दानव वृत्ति का निष्कासन होता है। सहयोग की भावना चिरस्थायित्व का रूप धारण कर लेती है।

अस्तेय महाव्रत के अपवाद

अस्तेय महाव्रत के सन्दर्भ में जिन अपवादों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध आवास से है। व्यवहारसूत्र में वर्णन आता है कि यदि साधु-समुदाय दीर्घ विहार कर किसी अज्ञात ग्राम में पहुँचा हो और उसे ठहरने के लिए स्थान नहीं मिल रहा है तथा बाहर वृक्षों के नीचे ठहरने से शीत की वेदना या जंगली पशुओं के उपद्रव की सम्भावना हो तो ऐसी स्थिति में वह बिना आज्ञा प्राप्त किये भी योग्य

स्थान पर ठहर सकता है; किन्तु उसके बाद आज्ञा प्राप्त करने का अवश्य प्रयास किया जाना चाहिए।[74] यह अपवाद परिस्थिति विशेष के सम्बन्ध में जानना चाहिए। यदि उसे कोई आज्ञा देने वाला न हो तो तिनका जैसी क्षुद्र वस्तु भी पृथ्वी के अधिपति शक्रेन्द्र की आज्ञा लेकर ही ग्रहण करे; किन्तु बिना आज्ञा के न कोई वस्तु ग्रहण करे और न उसका उपयोग ही करे। इस व्रत का पालन पूर्ण निष्ठा एवं दृढ़ता के साथ करे। चूंकि व्रत पालन करने में किञ्चित शैथिल्य भी भारी अनर्थ का कारण बन जाता है, जैसे तम्बू की प्रत्येक रस्सी खूंटे से कसकर बंधी हुई होना अनिवार्य है, यदि एक भी डोरी ढीली रह जाती है तो तम्बू में पानी आने की अथवा पवन के वेग से उड़ जाने की सम्भावना रहती है। अस्तु डॉ. सागरमल जैन के मन्तव्यानुसार अचौर्यव्रत के अपवादों का प्रयोग कठिन परिस्थितियों में या संयम रक्षणार्थ किया जाना चाहिए।

अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ

अचौर्य महाव्रत की रक्षा करने के लिए *समवायांगसूत्र* में निम्न पाँच भावनाओं का विधान है[75]–

1. अवग्रह अनुज्ञापनता – अवग्रह अर्थात रहने के स्थान की पुन: पुन: याचना करना। जैन साधु के लिए यह सामाचारिक प्रावधान है कि वह किसी भी वसति (स्थान) या वस्तु आदि की याचना देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर या साधर्मिक से स्वयं करे। स्थान आदि की याचना करना अवग्रह कहलाता है। यदि साधु किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से याचना करता है तो कभी वसति के मालिक के साथ उस व्यक्ति का विवाद हो जाये तो मालिक रुष्ट होकर साधु को बाहर निकाल सकता है। अत: साधु प्रत्येक वस्तु के लिए मालिक से स्वयं ही याचना करे।

2. अवग्रह सीमाज्ञापनता – अवग्रह की सीमा का बोध करना अर्थात विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही स्थान या वस्तुओं की याचना करना अवग्रह सीमा-ज्ञापनता भावना है।

3. स्वयमेव अवग्रह अनुग्रहणता – अनुज्ञात अवग्रह की सीमा में रहना। अर्थात अपने लिए निश्चित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करना या सीमित याचित स्थान में रहना।

4. साधर्मिक अवग्रह अनुज्ञापनता – मालिक के द्वारा तृणादि ग्रहण करने की स्पष्ट अनुमति दिये जाने पर ही अनुज्ञापित अवग्रह से तृणादि ग्रहण करना अथवा अपने सहयोगी मुनियों के लिए भी परिमित परिमाण में ही स्थान या वस्तुओं की याचना करना।

5. साधारण भक्तपान अनुज्ञाप्य परिभुजनता- याचित आहारादि का आचार्य आदि गुरुजनों से अनुमति ग्रहण कर उपभोग करना।

तात्पर्य है कि अचौर्य व्रत की रक्षा के लिए श्रमण को पुनः पुनः आज्ञा ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिए तथा मालिक के द्वारा याचित वस्तु की अनुमति जितने समय के लिए दी जाये उतने समय तक ही उसका उपभोग करना चाहिए। उक्त भावनाओं के अनुचिन्तन से श्रमण का हृदय सरल और निश्छल बनता है।

अचौर्य महाव्रत के अतिचार

अचौर्य व्रत का सम्यक्तया परिपालन करते हुए भी सूक्ष्म और स्थूल दो प्रकार के अतिचार लगते हैं। उपयोग रहित तृण, पत्थर, राख आदि को ग्रहण कर लेना सूक्ष्म अतिचार है तथा साधु-साध्वी के उपकरण, अन्य धर्मी या गृहस्थादि की कोई वस्तु बिना आज्ञा के ग्रहण करना बादर अतिचार है। इसमें भी परिणामों की तरतमता की अपेक्षा सूक्ष्म और बादर भेद होते हैं।[76]

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत का स्वरूप

यह श्रमण का चतुर्थ महाव्रत है। मैथुन भाव का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। इस महाव्रत का साधक प्रतिज्ञा करता है कि[77]

'हे भगवन्! मैं सर्व मैथुन का प्रत्याख्यान (परित्याग) करता हूँ। उसमें देवी-देवता के वैक्रिय शरीर सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी एवं घोड़ा-घोड़ी आदि तिर्यञ्च शरीर सम्बन्धी, इस तरह किसी भी प्रकार के मैथुन को मैं स्वयं सेवन नहीं करूँगा, अन्य द्वारा सेवन नहीं करवाऊंगा, अन्य के द्वारा मैथुन सेवन को मैं अच्छा नहीं मानूंगा। यह मेरी प्रतिज्ञा तीन करण और तीन योग पूर्वक यावज्जीवन के लिए है।' शेष पूर्ववत।

इसका दूसरा नाम सर्वथा मैथुनविरमण व्रत है।

ब्रह्मचर्य के सामान्य एवं विशिष्ट अर्थ

'ब्रह्म' शब्द के मुख्य रूप से तीन अर्थ हैं – वीर्य, आत्मा और विद्या। 'चर्य' शब्द के भी तीन अर्थ हैं – रक्षण, रमण और अध्ययन। इस तरह ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ होते हैं – वीर्य रक्षण, आत्म रमण और विद्याध्ययन। निश्चयत: आत्म रमण करना और व्यवहारत: वीर्य रक्षण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के उक्त अर्थों पर कुछ गहराई से चिन्तन करना अपेक्षित है।

वीर्यरक्षण – भारतीय आयुर्वेद शास्त्र का अभिमत है कि हम जो आहार लेते हैं उससे सर्वप्रथम रस बनता है, रस से रक्त का निर्माण होता है, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से वीर्य बनता है।[78] इस भौतिक शरीर में वीर्य का निर्माण सातवें मंजिल पर होता है। पुरुष में भौतिक शक्तियों का केन्द्र वीर्य है और महिला में रज है।

आयुर्वेद शास्त्र में मर्मज्ञ वाग्भट्ट ने लिखा है— शरीर में वीर्य का होना जीवन है। हमारे शरीर में रस से लेकर वीर्य तक जो सप्त धातुएँ हैं उनका तेज 'ओजस्' कहलाता है। ओजस् मुख्य रूप से हृदय में रहता है। साथ ही वह सम्पूर्ण शरीर में भी व्याप्त रहता है जैसे-जैसे ओजस् की अभिवृद्धि होती है वैसे-वैसे शरीर में शक्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। ओजस् से ही प्रतिभा, मेधा, बुद्धि, सौन्दर्य और उत्साह की वृद्धि होती है।[79]

आयुर्वैदिक ग्रन्थों के अवलोकन से यह भी परिज्ञात होता है कि एक धातु से द्वितीय धातु का निर्माण होने में पाँच दिन का समय लगता है। भोजन करने के पश्चात जो सारभागीय तत्त्व है वह शरीर में रह जाता है और खलभागीय तत्त्व है वह प्रस्वेद व मल-मूत्र के द्वारा बाहर निकल जाते हैं। इस तरह रस से वीर्य तक के निर्माण में इकतीस दिन लग जाते हैं। उनका यह भी मन्तव्य है कि चालीस सेर भोजन से एक सेर रक्त और उसमें दो तोला वीर्य बनता है जबकि एक बार के सहवास से प्राप्त शक्ति नष्ट हो जाती है। एतदर्थ ही कहा है – 'वीर्य धारण हि ब्रह्मचर्य' अर्थात वीर्य का धारण करना ही ब्रह्मचर्य है।

भारतीय चिन्तकों ने वीर्य को अद्भुत शक्तिवान माना है। शरीर शास्त्रियों ने आभ्यन्तर या बाह्य किसी भी कारण से वीर्य शक्ति के ह्रास को मानव शक्ति के लिए हानिकारक बताया है। शरीर शास्त्रियों का यह भी मानना है कि वीर्य जीवन की संजीवनी शक्ति है। वीर्य-शक्ति के नाश से ज्ञानतन्तुओं में तनाव

आता है, शरीर में शिथिलता आती है और अनेक रोगों के उत्पत्ति की सम्भावनाएँ रहती हैं, इसलिए ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्य का संरक्षण किया जाना चाहिए।

आत्मरमण – ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ आत्म रमण है। ब्रह्मचारी साधक आत्मा के शुद्ध भाव में रमण करता है। यह परमात्म भाव की साधना है, अस्तु आत्मा अनन्त-काल से अपने शुद्धस्वरूप को विस्मृत कर चुका है और जो उसका निजी स्वभाव नहीं है उसे वह अपना स्वभाव मान बैठा है। अनन्तकाल से विकार और वासनाएँ आत्मा के साथ हैं पर वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। यथा - पानी का स्वभाव शीतलता है, अग्नि के संस्पर्श से वह भले ही उष्ण हो जाये पर उष्णता उसका स्वभाव नहीं है। आग का स्वभाव उष्णता है, मिर्ची का स्वभाव तीखापन है, मिश्री का स्वभाव मधुरता है वैसे ही आत्मा का स्वभाव विकार रहितता है। विकार कर्मों का स्वभाव है। ब्रह्मचर्य का साधक विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करता है अत: आत्म-स्वभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य है।

विद्याध्ययन – ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ 'विद्याध्ययन' है। अथर्ववेद में लिखा है कि ब्रह्मचर्य से तेज, धृति, साहस और विद्या की उपलब्धि होती है। वह शक्ति का स्रोत है। इससे मन में साहस, बल, निर्भयता, प्रसन्नता और शरीर में तेजस्विता बढ़ती है।[80]

जैन दर्शन में ब्रह्मचर्य के लिए मैथुनविरमण और शील पालन जैसे शब्दों का भी प्रयोग है। सूत्रकृतांग (1/6) की टीका के अनुसार सत्य, तप, भूतदया, इन्द्रियनिरोध ब्रह्मचर्य है।[81] आचार्य उमास्वाति ने गुरुकुलवास को ब्रह्मचर्य कहा है। सायण ने 'ब्रह्मचारी' शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है कि जो स्वभावत: वेदात्मक ब्रह्म का अध्ययन करता है वह ब्रह्मचारी है।[82] वेद (विशिष्ट ज्ञान) ब्रह्म है। अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से कामशक्ति का ऊर्ध्वीकरण, कामशक्ति का रूपान्तरण एवं कामशक्ति का संशोधन करना ब्रह्मचर्य है। एक चिन्तक ने लिखा है – स्वयं के मन की विश्रृंखलित शक्तियों को समस्त ओर से हटाकर किसी एक पवित्र बिन्दु पर केन्द्रित करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा

ब्रह्मचर्य अपने आप में एक बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक आदि सभी पवित्र आचरण ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य वह आध्यात्मिक स्वास्थ्य है, जिसके द्वारा मानव समाज पूर्ण सुख और शान्ति का साम्राज्य उपलब्ध कर सकता है।

जैन आगमों में अहिंसा के बाद ब्रह्मचर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इस व्रत का महत्त्व बतलाते हुए कहा गया है- जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है उसे देव, दानव और यक्ष आदि सभी नमस्कार करते है।[83] प्रश्नव्याकरणसूत्र में वर्णित है कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त है। यह साधुजनों द्वारा आचरित मोक्ष का मार्ग है। वह पुनर्भव को रोकने वाला प्रशस्त, मंगलमय, शुभ, सुख व अक्षय का प्रदाता है। दुर्गति के मार्ग को अवरुद्ध करने वाला और सुगति का पथ प्रदर्शक है।[84]

आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है - जो अल्पशक्ति पुरुष हैं, शीलरहित हैं, दीन हैं और इन्द्रियों से जीते गये हैं, वे इस ब्रह्मचर्य को धारण करने में स्वप्न में भी समर्थ नहीं हो सकते अर्थात बड़ी शक्ति के धारक पुरुष ही ऐसे कठिन व्रत के आचरण करने के लिए समर्थ होते हैं।[85]

जिस प्रकार किंपाकफल (इन्द्रायण का फल) देखने, सूंघने और खाने में रमणीय (सुस्वादु) होता है किन्तु समय पूर्ण होने पर हलाहल (विष) का काम करता है, उसी प्रकार यह मैथुन भी कुछ कालपर्यन्त रमणीक अथवा सुखदायक मालूम होता है, परन्तु विपाक समय में बहुत ही भय को देने वाला है।[86] सर्प से काटे हुए प्राणी के तो सात ही वेग होते हैं, परन्तु कामरूपी सर्प से डसे हुए जीवों के दस वेग होते हैं, जो बड़े भयानक हैं।[87]

काम से उद्दीपन होने पर प्रथम चिन्ता होती है कि स्त्री का सम्पर्क कैसे हो, दूसरे वेग में उसके देखने की इच्छा होती है,तीसरे वेग में दीर्घ निःश्वास लेता है और कहता है कि हाय देखना नहीं हुआ, चौथे वेग में बुखार चढ़ आता है, पाँचवें वेग में शरीर दग्ध होने लगता है, छठे वेग में किया हुआ भोजन रुचता नहीं है, सातवें वेग में बेहोश हो जाता है, आठवें वेग में उन्मत्त हो जाता है तथा यद्वा-तद्वा बकने लग जाता है, नवें वेग में प्राणों का सन्देह हो जाता है कि अब मैं जीवित नहीं रहूँगा और दसवाँ वेग ऐसा आता है कि जिससे मरण हो जाता

है। इस प्रकार काम के दस वेग होते हैं। इन वेगों से व्याप्त हुआ जीव यथार्थ वस्तु स्वरूप को नहीं देखता। जब लोकव्यवहार का ही ज्ञान नहीं रहे तब परमार्थ का ज्ञान कैसे हो?[88] इसीलिए ब्रह्मचर्य अपनी अद्भुत महिमा और गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रथम स्थान रखता है। एतदर्थ कहा गया है 'तं बंभं भगवंतं' ब्रह्मचर्य स्वयं भगवान् है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य को बत्तीस उपमाएँ दी गयी हैं जो इस व्रत को सर्वोत्तम रूप में दिग्दर्शित करती हैं। जिस प्रकार श्रमणों में तीर्थङ्कर सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जैसे ग्रहों में चन्द्रमा, रत्नादि उत्पत्ति के स्थानों में समुद्र, मणियों में वैडूर्यमणि, आभूषणों में मुकुट, वस्त्रों में कपास वस्त्र, पुष्पों में कमल, चन्दनों में गोशीर्ष, नदियों में सीतोदा, समुद्रों में स्वयम्भू-रमण, वन्य जन्तुओं में सिंह, दानों में अभयदान, ध्यानों में शुक्लध्यान, ज्ञानों में केवलज्ञान, क्षेत्रों में महाविदेह, पर्वतों में सुमेरू, वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ माना गया है तथैव समस्त व्रतों में ब्रह्मचर्यव्रत सर्वश्रेष्ठ है।[89] इस प्रकार ब्रह्मचर्य अनेक निर्मल गुणों से व्याप्त है।

प्रश्नव्याकरणसूत्र में इतना तक कहा गया है कि यह ऐसा आधारभूत व्रत है जिसके खण्डित होने पर सभी व्रत खण्डित हो जाते हैं इसकी आराधना करने पर सभी महाव्रतों की आराधना हो जाती है।[90]

यह महाव्रत चतुर्विध आश्रमों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। वैदिक परम्परा में चार प्रकार की आश्रम-व्यवस्था मान्य है। उसमें सर्वप्रथम आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम है। ब्रह्मचर्य की सुदृढ़ नींव पर ही अन्य आश्रम टिके हुए हैं। वैदिक-साहित्य के अध्ययन से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में तो ब्रह्मचर्य की प्रधानता है ही, किन्तु वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में भी ब्रह्मचर्य को ही महत्त्व दिया गया है। केवल गृहस्थाश्रम में अब्रह्म की छूट है, किन्तु वह भी मर्यादित है।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व बौद्ध-परम्परा में भी स्वीकारा गया है। धम्मपद में कहा है[91]– अगरू और चन्दन की सुगन्ध अल्पकालिक है, किन्तु ब्रह्मचर्य (शील) की सुगन्ध इतनी व्यापक है कि मानवलोक में तो क्या देवलोक में भी व्याप्त हो जाती है यानि देवताओं के दिल को भी लुभा देती है। विसुद्धिमग्ग में कहा है[92]– शील की गन्ध के समान दूसरी गन्ध कहाँ होगी ? दूसरी गन्ध तो जिधर हवा का रुख होता है उधर ही बहती है पर शील की गन्ध ऐसी गन्ध है जो

विपरीत हवा में भी उसी तरह से बहती है जैसी प्रवाह में बहती है। उसमें यह भी कहा है यदि किसी को स्वर्ग के उच्च स्थल पर पहुँचना हो तो ब्रह्मचर्य के समान अन्य कोई सीढ़ी नहीं। निर्वाण नगर में प्रवेश करना हो तो इसके समान कोई द्वार नहीं। इस प्रकार के बहुत से उद्धरण उल्लिखित किये जा सकते हैं। निःसन्देह भारतीय संस्कृति की सभी धाराओं में ब्रह्मचर्य का सर्वोच्च स्थान रहा है। जैनागम का प्राथमिक ग्रन्थ आचारांग का अपर नाम 'ब्रह्मचर्याध्ययन' है। इसमें तीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित प्रवचन के सार का अध्ययन किये जाने से उसे ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है। इससे परिज्ञात होता है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक सभी सद्गुणों एवं चर्याओं का समावेश ब्रह्मचर्य में हो जाता है। आचारांगनिर्युक्ति में कथन भी है कि ब्रह्मचर्य में सारे मूलगुण एवं उत्तरगुण समाविष्ट हैं।[93]

ब्रह्मचर्य महाव्रत की सुरक्षा के उपाय

उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य के रक्षणार्थ निम्न स्थानों से बचने का निर्देश दिया गया है। इन्हें ब्रह्मचर्य के दस समाधिस्थान कहा गया है – 1. स्त्री, पशु और नपुंसक जिस स्थान पर रहते हों, श्रमण वहाँ न ठहरे 2. श्रमण शृंगार-रसोत्पादक स्त्री-कथा न करे 3. श्रमण स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे 4. स्त्रियों के अंगोपांग को राग-भाव से न देखे 5. वसति के आस-पास से आते हुए स्त्रियों के कुंजन, गायन, हास्य, रुदन और विरहयुक्त शब्दों को न सुने 6. गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों (कामजन्य क्रीड़ाओं) का स्मरण न करे 7. पौष्टिक (गरिष्ठ) आहार न करे 8. मर्यादा से अधिक भोजन न करे 9. शरीर का शृंगार न करे 10. इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न बने।[94]

मूलाचार में अब्रह्मचर्य के निम्न दस स्थान बताये गये हैं, जो जैन श्रमण के लिए त्याज्य हैं – 1. अधिक आहार करना 2. शरीर का शृंगार करना 3. गन्ध-माल्य धारण करना 4. गाना-बजाना 5. उच्च शय्या पर शयन करना 6. स्त्री-संसर्ग करना 7. इन्द्रियों के विषयों का सेवन करना 8. पूर्वभोगों का स्मरण करना 9. कामभोगों की सामग्री का संग्रह करना और 10. स्त्री-सेवा करना। वस्तुतः उपर्युक्त प्रसंगों का उल्लेख ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त ही किया गया है। सामान्य नियम तो यह है कि भिक्षु को जहाँ भी अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत के खण्डन की सम्भावना प्रतीत हो, उन सभी स्थानों का उसे परित्याग कर देना चाहिए।[95]

जैन आचार-दर्शन के अनुसार साधक का ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सके, इस सन्दर्भ में श्रमण और श्रमणी के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी कुछ नियम यहाँ उल्लेखनीय हैं – 1. उपाश्रय या मार्ग में एकाकी मुनि किसी साध्वी या स्त्री के साथ न बैठे, न खड़ा रहे और न उससे बातचीत ही करे। 2. अकेला मुनि दिन में भी किसी अकेली साध्वी या स्त्री को अपने आवासस्थान पर न आने दे। 3. यदि श्रमण समुदाय के पास कोई साध्वी या स्त्री ज्ञानप्राप्ति के निमित्त आयी हो तो किसी प्रौढ़ गृहस्थ की उपस्थिति में ही उसे ज्ञानार्जन करावे। 4. प्रवचनकाल या वाचनाकाल के अतिरिक्त साध्वियाँ या स्त्रियाँ मुनि के उपाश्रय में न ठहरें। 5. श्रमण एक दिन की बालिका का भी स्पर्श न करे। 6. जहाँ गुरु अथवा वरिष्ठ मुनि शयन करते हों, सहवासी शिष्यगण उसी स्थान पर शयन करें, एकान्त में नहीं सोयें। इसी प्रकार जैन आचार विधि में ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कठोरतम नियमों एवं मर्यादाओं का प्रावधान है।[96]

ब्रह्मचर्य के विघातक तत्त्व

प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य अनुपालक को निम्नलिखित चेष्टाएँ नहीं करना चाहिए – विषयराग करना, प्रमाद सेवन करना, घृतादि की मालिश करना, तेल लगाकर स्नान करना, बार-बार हाथ, पैर, मुँह धोना, पैर आदि दबाना, विलेपन करना, सुगन्धित चूर्ण से शरीर को सुवासित करना, अगर आदि का धूप देना, शरीर को मण्डित करना, सुशोभित बनाना, नखों, केशों व वस्त्रों को संवारना, हंसी ठट्ठा करना, विकारयुक्त भाषण करना, नाट्य-वादिंत्र-नटों-नृत्यकारों का खेल देखना आदि।[97]

ब्रह्मचर्य के सहायक तत्त्व

ब्रह्मचर्यव्रत के सम्यक् परिपालनार्थ कुछ नियम आवश्यक माने गये हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार ब्रह्मव्रती को स्नान नहीं करना, दन्त धावन नहीं करना, मैल नहीं उतारना, मौन व्रत रखना, केशों का लुञ्चन करना, क्षमा धारण करना, इन्द्रिय निग्रह करना, भूख-प्यास सहना, सर्दी-गर्मी सहना, काष्ठ की शय्या पर सोना, भिक्षादि के लिए ही गृहस्थ के घर जाना, अन्य हेतु से नहीं, आहारादि की प्राप्ति न होने पर समभाव रखना, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा के परीषहों में तटस्थ रहना, द्रव्यादि की मर्यादा करना, विनयादि गुणों में वृद्धि

करना तथा अन्तःकरण को निर्मल रखना चाहिए। इन नियमों के अनुपालन से ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर और प्रभावी बनता है।[98]

ब्रह्मचर्य की आराधना का फल

प्रश्नव्याकरणसूत्र में ब्रह्मचर्य की आराधना का फल बताते हुए कहा गया है कि यह भविष्य के लिए कल्याणकर्त्ता है, शुद्ध है, कुटिलता से रहित है, सर्वोत्तम है और दुःखों-पापों को उपशान्त करने वाला है।[99]

ब्रह्मचर्य महाव्रत की उपादेयता

ब्रह्मचर्य जीवन की महान साधना है। यह काम-वासना के विजय की साधना है। मानव एकान्त स्थान में बैठकर उत्तम तपश्चरण कर सकता है, किन्तु अन्तर्मानस में वासना का तूफान उठ जाये तो उस समय अपने आपको नियन्त्रित रख पाना मुश्किल है।

जैन धर्म में इसे व्रतराज कहा गया है। इसकी उपादेयता को लेकर यह कहा जा सकता है कि यह एक अपूर्व कला है। इससे शारीरिक सौन्दर्य में निखार आता है। जो ओजस्विता ब्रह्मचर्य से उत्पन्न होती है वह पाउडर आदि कृत्रिम साधनों से नहीं हो सकती है। इन साधनों से सौन्दर्य वृद्धि मानना भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मचर्य में अटूट शक्ति है, उस शक्ति का साधक में संचार होता है। वह अन्तरात्मा में एक प्रबल प्रेरणा उद्बुद्ध करता है। ब्रह्मचर्य ऐसी धधकती हुई आग है जिसमें आत्मा तपकर कुन्दन के समान दमकने लगती है। यह ऐसी अद्भुत औषधि है जिसका सेवन करने से अपूर्व बल सम्प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य से तन स्वस्थ रहता है। विचार विशुद्ध बनते हैं। इससे मानव के सर्वाङ्गीण विकास का राजमार्ग खुल जाता है। वासनाएँ अन्तर्मानस में उठने वाली शुद्ध भावनाओं को भस्मसात कर देती हैं, जबकि कामवासना व्यक्ति की प्रगति में अवरोधक पक्ष है।

ब्रह्मचर्य की साधना से वीर्य-रक्षण होता है। वीर्य-रक्षण से ज्ञान तन्तु सक्रिय एवं सबल बनते हैं चूंकि वीर्य और मस्तिष्क दोनों एक पदार्थ से निर्मित हैं। दोनों के निर्माता रासायनिक तत्त्व एक-से हैं। शरीरशास्त्रियों के अभिमतानुसार शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने से वीर्य के कीटाणु व्यय हो जाते हैं फलतः मस्तिष्कीय और चिन्तन शक्ति दुर्बल हो जाती है। वीर्यनाश का मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस व्रत के आचरण से अहिंसा धर्म का भी पालन होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों की मान्यतानुसार एक बार के सम्भोग में दस करोड़ वीर्याणु छूटते हैं और वे कुछ समय के बाद नष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि आधुनिक जनसंख्या की दृष्टि से साढ़े तीन अरब से अधिक मानव विश्व में हैं। एक व्यक्ति के पास इतने वीर्य के जीवाणु हैं कि वे यदि जीवित रहें तो उनसे साढ़े तीन अरब बच्चे उत्पन्न हो सकते हैं जबकि एक साधारण मनुष्य चार-आठ या दस बच्चों से अधिक उत्पन्न नहीं कर पाता है।[100] इससे स्पष्ट है कि अब्रह्म सेवन के द्वारा बहुत बड़ी हिंसा होती है जबकि ब्रह्मचर्य से अहिंसा की रक्षा होती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में यह बात अहिंसा के उन अनुयायियों के लिए उपहासास्पद है जो वासना को नियन्त्रित न कर कृत्रिम साधनों के द्वारा सन्तति का नियमन कर रहे हैं।

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार ब्रह्म सेवन से अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि गुणों का भी संरक्षण होता है। नीतिशास्त्र की दृष्टि से 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' जीवन के तीन आदर्श हैं। हमारे जीवन में केवल सत्यता ही न हो उसमें सुन्दरत्व एवं शिवत्व भी होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की साधना से शिवत्व आता है, सुन्दरता खिलती है।

एक उल्लेखनीय प्रश्न यह है कि तीर्थङ्कर अजितनाथ से लेकर तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तक श्रमणों के चार महाव्रत थे, उनकी व्रत-व्यवस्था में ब्रह्मचर्य स्वतन्त्र महाव्रत के रूप में नहीं था, जबकि तीर्थङ्कर ऋषभदेव और तीर्थङ्कर महावीर के साधुओं के लिए पंचमहाव्रत का विधान किया गया है। तो महाव्रतों की संख्या के सम्बन्ध में इस प्रकार की भिन्नता का क्या कारण है ? क्या बाईस तीर्थङ्करों के साधुओं के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक नहीं था? इसका समाधान यह है कि उक्त दोनों प्रकार की परम्पराएँ श्रमणों की मानसिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए निर्मित हुई हैं। बाईस तीर्थङ्करों के श्रमण ऋजु प्राज्ञ थे, उनके लिए धर्म समझना अत्यन्त सरल था, इसलिए परिग्रह के अन्तर्गत स्त्री को भी परिग्रह मानकर उसमें ब्रह्मव्रत का अन्तर्भाव कर दिया गया। एतदर्थ चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा की गयी जबकि प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण ऋजु जड़ और चरम तीर्थङ्कर महावीर के श्रमण वक्र जड़ होने से उनके लिए यथार्थ को समझना मुश्किल होता है अथवा देरी से समझते हैं, कदाग्रही होते हैं, कुतर्क करते हैं। अत: स्त्री परिग्रह को स्वतन्त्र महाव्रत के रूप में स्वीकारना पड़ा।

ब्रह्मचर्यव्रत के अपवाद

सामान्यतया ब्रह्मचर्यव्रत का पालन उत्सर्गत: होता है। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है। बृहत्कल्पसूत्रादि में इस सन्दर्भ में जिन अपवादों का उल्लेख पाया जाता है उनका सम्बन्ध मात्र संयमी जीवन की रक्षा के नियमों से है। सामान्य रूप से मुनि के लिए स्त्री-स्पर्श वर्जित है, लेकिन अपवाद रूप में कोई साध्वी नदी में डूब रही हो या उन्मत्त हो गयी हो तो वह पकड़ सकता है।[101] इसी प्रकार रात्रि में सर्पदंश की स्थिति हो और अन्य कोई उपचार का मार्ग न हो तो साधु-साध्वी परस्पर में एक-दूसरे की चिकित्सा कर सकते हैं।[102] यदि साधु या साध्वी के पांव में कांटा लग जाये और अन्य किसी भी तरह से निकालने की स्थिति न हो, तो वे परस्पर एक-दूसरे से निकलवा सकते हैं।[103] इसी तरह के अन्य विकल्पों में भी साधु या साध्वी संयम की रक्षा हेतु अपवाद मार्ग का सेवन कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए सतत जागरुकता अपेक्षित है। एतदर्थ श्रमण को निम्न भावनाओं का पुन: पुन: चिन्तन करना चाहिए और उन नियमों के पालन का पूर्णत: ध्यान रखना चाहिए–

1. वह स्त्रियों की कामोत्पादक कथा न करे, चूंकि इस प्रकार की कथा करने से चारित्र का भंग और केवली भाषित धर्म से भ्रष्ट होने की आशंका रहती है।
2. स्त्रियों के मनोहर अंगों का कामपूर्वक अवलोकन न करे।
3. स्त्रियों के साथ की गयी पूर्वकालीन क्रीड़ाओं का स्मरण न करे।
4. आहार- पानी का अति मात्रा में सेवन न करे या सरस-स्निग्ध भोजन का उपभोग न करे।
5. स्त्री, पशु एवं नपुंसक के आसन एवं शय्या का उपभोग न करे।[104]

ब्रह्मचर्य महाव्रत के अतिचार

जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए नव वाड़ों का विधान है। ये नव वाड़ नगर के परकोटे के समान व्रत का संरक्षण करते हैं। उपर्युक्त व्रत पालन के उपायों में निर्दिष्ट दस समाधिस्थान में इनका अन्तर्भाव हो जाता है। इनका

अपर नाम नव गुप्तियाँ भी है। इन नव गुप्तियों का पालन न करने पर ब्रह्मचर्य व्रत में अतिचार लगते हैं।[105]

5. अपरिग्रह महाव्रत का स्वरूप

यह श्रमण का पांचवाँ महाव्रत है। इस महाव्रत का पालन करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है[106]– 'हे भगवन्! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गाँव में, नगर में या अरण्य में कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल सचित्त या अचित्त परिग्रह का मैं स्वयं ग्रहण नहीं करूँगा, दूसरों से ग्रहण नहीं करवाऊंगा और परिग्रह ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा। मेरी यह प्रतिज्ञा तीन करण– तीन योग पूर्वक यावज्जीवन के लिए है।' शेष पूर्ववत। इसका मूल नाम सर्वथापरिग्रहविरमण व्रत है।

आचार्य उमास्वाति ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए लिखा है कि वस्तु के प्रति जुड़ी हुई मूर्च्छा वास्तविक परिग्रह है।[107] दशवैकालिकसूत्र में भी यही बात कही गयी है।[108] जैन विचारकों के अनुसार किसी वस्तु को आसक्तिपूर्वक ग्रहण करना परिग्रह है। परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य वस्तुओं का संग्रह करना मात्र नहीं है वरन आन्तरिक मूर्च्छाभाव या आसक्ति ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र की टीका में लिखा गया है कि जो पूर्ण रूप से ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है। पूर्ण रूप से ग्रहण करने का अर्थ है मूर्च्छा बुद्धि से ग्रहण करना और ममत्व बुद्धि से संगृहीत करना। यदि परिग्रह के इस अर्थ की दृष्टि से विचार करें तो परिग्रह का प्रमुख तत्त्व 'आसक्ति' सिद्ध होगा। यद्यपि श्रमण जीवन में बाह्य वस्तुओं की दृष्टि से भी विचार किया गया है।[109] दिगम्बर-परम्परा श्रमण के लिए बाह्य परिग्रह रखने का अत्यन्त सीमित विधान करती है, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में बाह्य परिग्रह के विभिन्न प्रकार किये गये हैं।

परिग्रह के प्रकार

जैन आगमों में परिग्रह दो प्रकार का माना गया है – 1. बाह्य परिग्रह और 2. आभ्यन्तर परिग्रह।[110]

बाह्य परिग्रह – पदार्थ अनन्त हैं अत: उसकी अपेक्षा से बाह्य परिग्रह के अगणित भेद किये जा सकते हैं। जैनाचार्यों ने बाह्य परिग्रह के नौ भेद गिनाये हैं, वे निम्न हैं –

1. क्षेत्र – खेत या खुली भूमि आदि। 2. वास्तु – मकान, दुकान आदि।

3. हिरण्य – चाँदी के सिक्के, आभूषण आदि। 4. सुवर्ण – सोने के सिक्के और आभूषण आदि। 5. धन – हीरे, पन्ने, माणक, मोती आदि। 6. धान्य – गेहूँ, चावल, मूंग, मोठ आदि। 7. द्विपद – दो पैर वाले दास-दासी आदि। 8. चतुष्पद – चार पैर वाले गाय, भैंस आदि। 9. कुप्य – वस्त्र, पलंग और अन्य विविध प्रकार की गृह सामग्री।

कहीं-कहीं पर द्विपद- चतुष्पद को एक गिनकर दास-दासी को पृथक् किया है और कहीं पर चाँदी, तांबा, पीतल, लोहा आदि को पृथक् भेद में गिन लिया है। जैन श्रमण उक्त सब परिग्रहों का तीन करण एवं तीन योग पूर्वक परित्याग करता है।

अन्तरंग परिग्रह – सामान्यतया अन्तरंग परिग्रह पाँच प्रकार का माना गया है – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग। जैन आगम साहित्य में आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह प्रकार निर्दिष्ट हैं – 1. मिथ्यात्व 2. हास्य 3. रति 4. अरति 5. भय 6. शोक 7. जुगुप्सा 8. स्त्रीवेद 9. पुरुषवेद 10. नपुंसकवेद 11. क्रोध 12. मान 13. माया और 14. लोभ। इनके द्वारा राग-द्वेष की अभिवृद्धि होती है अत: परिग्रह की कोटि में गिने गये हैं। यद्यपि ये प्रकार बाह्य जगत में परिग्रह रूप दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, किन्तु अन्तर्मानस में चोर की तरह छिपे रहते हैं अत: इन्हें अन्तरंग परिग्रह कहा जाता है। प्रश्नव्याकरणटीका में लालसा, तृष्णा, इच्छा, आशा, मूर्च्छा इन सभी को अन्तरंग परिग्रह माना है।[111] भगवतीसूत्र में परिग्रह के निम्न तीन भेद की चर्चा है–

1. कर्म परिग्रह – राग-द्वेष के वशीभूत होकर अष्ट प्रकार के कर्मों को ग्रहण करना कर्म परिग्रह है।

2. शरीर परिग्रह – शरीर को धारण करना शरीर परिग्रह है।

3. बाह्य भांडमात्र परिग्रह – बाह्य वस्तु और पदार्थ आदि जीव के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, इसलिए परिग्रह हैं।

जैन श्रमण को आभ्यन्तर एवं बाह्य सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करना होता है फिर भी आवश्यकताओं की दृष्टि से कुछ वस्तुएँ रखने की अनुमति है।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं में बाह्य परिग्रह की दृष्टि से किञ्चित मतभेद है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार श्रमण की आवश्यक वस्तुओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है –

1. **ज्ञानोपधि** – शास्त्र, पुस्तक आदि।

2. **संयमोपधि** – मोर के पंखों से बनी पिच्छि।

3. **शौचोपधि** – शरीर शुद्धि के लिए जल ग्रहण करने का पात्र या कमण्डलु।[112]

इस परम्परा में मुनि को वस्त्र आदि अन्य सामग्री रखने का निषेध है।

श्वेताम्बर-परम्परा के मूल आगमों के अनुसार श्रमण चार प्रकार की वस्तुएँ रख सकता है[113]— 1. वस्त्र 2. पात्र 3. कम्बल और 4. रजोहरण। आचारांगसूत्र के अनुसार स्वस्थ मुनि एक वस्त्र रख सकता है, साध्वियों को चार वस्त्र रखने का विधान है।[114] प्रश्नव्याकरण में मुनि के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का निर्देश है–

1. **पात्र** – लकड़ी, मिट्टी या तुम्बी निर्मित। 2. **पात्रबन्ध** – पात्रों को बांधने का कपड़ा। 3. **पात्र स्थापना** – पात्र रखने का कपड़ा। 4. **पात्र केसरिका** – पात्र पोछने का कपड़ा। 5. **पटल** – पात्र ढकने का कपड़ा। 6. **रजस्त्राण** 7. **गोच्छक** 8-10. **प्रच्छादक** – अलग-अलग नाप की तीन ओढ़ने की चद्दर। 11. **रजोहरण** 12. **मुखवस्त्रिका** 13. **मात्रक और** 14. **चोलपट्ट**।[115]

उक्त चौदह वस्तुएँ श्वेताम्बर मुनि की अपेक्षा से आवश्यक कही गयी हैं क्योंकि इन्हें संयम पालन में सहायक माना है। बृहत्कल्पभाष्य और परवर्ती ग्रन्थों में उपर्युक्त सामग्रियों के अतिरिक्त चिलमिलिका (पर्दा), दण्ड, छाता, पादप्रोंछन आदि अनेक वस्तुओं के रखने का प्रावधान भी है।

अपरिग्रह महाव्रत की आराधना का फल

परिग्रह का संग्रह सुख-स्पृहा के उद्देश्य से किया जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जो जीव सुख-स्पृहा का निवारण करता है वह विषयों के प्रति अनुत्सुक-भाव को प्राप्त करता है। विषयों के प्रति उदासीन होने पर अनुकम्पा गुण वाला, प्रशान्त चित्त वाला और शोक मुक्त जीवन का आनन्द लेने वाला बनता है और अन्ततः चारित्र को विकृत करने वाले मोह कर्म का क्षय कर देता है। मोह कर्म के क्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शन को समुपलब्ध कर लेता है।[116]

अपरिग्रही साधक के लिए इन्द्रिय और मन को विषयों से दूर रखना अत्यावश्यक माना गया है। यही वजह है कि इस व्रत की पाँचों भावनाएँ पाँच

इन्द्रियों के विषय निरोध से सम्बन्धित कही गयी हैं। मुख्यतया पाँच इन्द्रियों के विषय का संवर करना अपरिग्रह महाव्रत है। उत्तराध्ययनसूत्र में इन्द्रिय और मन के विषयों से विरक्त होने को विनिवर्तना कहा है। इसमें निर्देश है कि जो जीव विनिवर्तना करता है वह नूतन पाप-कर्मों का बन्धन नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्व-अर्जित पाप कर्मों का क्षय कर देता है। उसके पश्चात चार गति रूप संसार अटवी को पार कर जाता है।

अपरिग्रह महाव्रत की उपादेयता

यह बहुविदित सत्य है कि इस विश्व में पदार्थ ससीम हैं और इच्छाएँ व आकांक्षाएं आकाश के समान असीम हैं। जिस प्रकार विराट् सागर में प्रतिपल-प्रतिक्षण जल-तरंगे उठती रहती है, यदि उन जल-तरंगों की गणना करना चाहे तो सम्भव नहीं है, चूंकि तरंग उत्पत्ति का क्रम अनवरत चलता रहता है एक जल-तरंग विलीन होती है तो दूसरी जल-तरंग उद्बुद्ध हो जाती है। इसी तरह मानव-मन की इच्छाओं को मापना भी असम्भव है, क्योंकि मानव के अन्तर्मानस में प्रतिक्षण नित नये विचार उठते रहते हैं, वह यही सोचता रहता है कि यह प्राप्त कर लूं, यह भोग लूं, यह देख लूं, यह जुटा लूं, यह जमा करके रख दूं ....। एक इच्छा की पूर्ति होने पर दूसरी इच्छा तुरन्त जन्म ले लेती है। एक पदार्थ की उपलब्धि होने पर अन्य-अन्य पदार्थों को प्राप्त करने की तैयारी में निरन्तर जुटा रहता है। इच्छा पूर्ति एवं पदार्थ प्राप्ति के अनवरत पुरुषार्थ से मानसिक एवं चैतसिक शान्ति भी नष्ट हो जाती है। जबकि व्यक्ति का यह सारा प्रयत्न शान्ति की उपलब्धि हेतु किया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ या परिग्रह सुख के मूलभूत कारण नहीं हैं बल्कि दुःखजनक ही हैं।

दूसरे तथ्य के अनुसार पदार्थ के संग्रह में, पदार्थ की उपलब्धि में या पदार्थ के भोग में सुख मानना, अज्ञानी व्यक्ति की पहचान है। क्योंकि जड़ वस्तुएँ सुख प्रदान करने में असमर्थ होती हैं। उसमें सुख-बुद्धि मानना, यह हमारी कल्पना है, वास्तविकता नहीं।

तीसरा हेतु समझने जैसा यह है कि अकेला व्यक्ति दुनियाँ की सम्पूर्ण वस्तुओं का उपभोग एक जन्म में एक साथ कर ही नहीं सकता, चूंकि वैयक्तिक आवश्यकताएँ सीमित हैं। फिर भी परिग्रह वृत्ति का त्याग न करना बहुत बड़ी कमजोरी है।

श्रमण संस्कृति में परिग्रह को व्यक्तिगत जीवन के लिए हानिप्रद माना है और सामाजिक जीवन के लिए भी महाघातक बतलाया है। परिग्रह को अनर्थों की जड़ कहा गया है। जैसे एक व्यक्ति अधिकाधिक पदार्थों का संग्रह करता है तो दूसरे अनेक व्यक्ति उन आवश्यक पदार्थों से वंचित रह जाते हैं और उन पदार्थों के अभाव में उन लोगों का जीवन विषमताओं से भर उठता है इस प्रकार परिग्रह वृत्ति समाज के लिए महान घातक सिद्ध होती है। परिग्रह को पापों की जननी भी कहा गया है। वह अनेक पापों का सर्जन करती हैं जैसे परिग्रह वृत्ति से चिन्ता का जन्म होता है। उससे क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि दुर्गुण पैदा होते हैं। इससे अपरिग्रह व्रत की उपादेयता स्वत: सिद्ध हो जाती है।

अपरिग्रह वृत्ति के द्वारा व्यक्ति अनेक प्रकार के संघर्षों से बच जाता है, क्योंकि अधिकांश संघर्ष या विवाद अर्थ के कारण ही हुए हैं। अपरिग्रह व्रत धारण करने से भागमभाग की जिन्दगी को विराम मिलता है। अपरिग्रही वैयक्तिक जीवन की साधना के लिए यथायोग्य समय अर्जित कर लेता है। सामाजिक क्षेत्र में एक आदर्श पुरुष की भूमिका का निर्वहन करता है। व्यापारिक क्षेत्र में आम व्यक्ति का विश्वसनीय बन जाता है। धार्मिक क्षेत्र में सदाचारी व्यक्तित्व की छवि अंकित करता है। मानसिक दृष्टि से सदा के लिए निश्चिन्त हो जाता है। इस प्रकार अपरिग्रह महाव्रत के माध्यम से व्यक्ति का इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन ही नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तर सफल हो जाते हैं।

इस सम्बन्ध में यह विवेक रखना जरूरी है कि कदाच बाह्य परिग्रह लेश मात्र भी नहीं हो और अन्तरंग में परिग्रह की लालसाएँ हिलोरे ले रही हों, तो वह भी परिग्रह माना जायेगा। जैन विचारणा में केवल बाह्य परिग्रह के आधार पर किसी को परिग्रही या अपरिग्रही नहीं कहा गया है। यह भावना प्रधान दर्शन है। यदि ऐसा न हो तो पशु-पक्षियों को अपरिग्रही की कोटि में गिना जाना चाहिए, क्योंकि उनके पास बाह्य परिग्रह कुछ भी दिखाई नहीं देता है, किन्तु हकीकत कुछ अलग है। उनके पास संग्रह करने की योग्यता का अभाव है। उनमें बुद्धि का विकास नहीं है, किन्तु परिग्रह के प्रति ममता उनमें भी है। उन्हें भी अपनी सन्तान के प्रति, खाद्य पदार्थों के प्रति उतनी ही आसक्ति है जितनी मानव के मन में है। इससे बोध होता है कि त्याग स्वेच्छा से होता है। इच्छा पूर्वक किया गया त्याग ही सच्चा त्याग कहलाता है। अत: परिग्रह के सन्दर्भ में यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि परिग्रह अल्प हो या अधिक, उसके प्रति मूर्च्छा-

भाव नहीं रखना चाहिए, वही वास्तविक अपरिग्रह महाव्रत है।

वस्तुतः जैन श्रमण के लिए जिस उद्देश्य से आवश्यक सामग्री रखने का विधान है उसमें संयम की सुरक्षा प्रमुख है, अतः उसके उपकरण धर्मोपकरण कहे जाते हैं। इस सम्बन्ध में मुनि को यह खास तौर पर ध्यान रखना चाहिए कि उसे वे ही वस्तुएँ अपने पास रखनी चाहिए जिनके द्वारा वह संयम-यात्रा का निर्वाह आसानी से कर सके। यदि ममत्व भाव की वृद्धि होती हो तो उन उपकरणों का त्याग कर देना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत के अपवाद

डॉ. सागरमल जैन का कहना है कि दिगम्बर मुनि के लिए पूर्वोक्त तीन प्रकार के उपकरण और श्वेताम्बर मुनि के लिए पूर्वनिर्दिष्ट चौदह प्रकार के उपकरण रखना यह उत्सर्ग विधान है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति विशेष में निर्धारित संख्या से अधिक उपकरण रखना अपवाद मार्ग है। व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि किसी अन्य मुनि की सेवा करनी हो तो वह अतिरिक्त पात्र रख सकता है अथवा विष निवारण करना हो तो स्वर्ण घिसकर उसका पानी रोगी को देने के लिए वह स्वर्ण भी ग्रहण कर सकता है।[117] इसी प्रकार निशीथचूर्णि के अनुसार अपवाद की स्थिति में वह छत्र, चर्म-छेदन आदि अतिरिक्त वस्तुएँ भी रख सकता है[118] तथा वृद्धावस्था एवं बीमारी का कारण हो तो एक स्थान पर अधिक समय तक ठहर भी सकता है। आजकल जैन श्रमणों के द्वारा रखे जाने वाली पुस्तक, लेखनी, कागज, डायरी आदि वस्तुएँ भी अपरिग्रह व्रत का अपवाद रूप हैं। प्राचीन ग्रन्थों में पुस्तक रखना प्रायश्चित्त योग्य अपराध माना गया है, क्योंकि उस समय पुस्तक ताड़पत्र, भोजपत्र आदि पर लिखी जाती थी। पत्ते सुखाना आदि हिंसा का कारण माना जाता है।

अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ नौका के सदृश हैं। इस नौका के सहारे साधक परिग्रहरूपी विराट् सागर को सुगमता से पार कर सकता है। जैन चिन्तन में बाह्य इन्द्रियों को नष्ट करने का कथन कहीं पर भी नहीं किया गया है, क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के नष्ट हो जाने से स्वयं को पाप मुक्त मानना- यह सर्वथा मिथ्या धारणा है। अतः परिग्रह से मुक्त होने के लिए जो विषय-विकार की ओर इन्द्रियों का प्रवाह है उसको नियन्त्रित करना, उसका संवर करना यही अपरिग्रही वृत्ति है। अपरिग्रह की पंच भावनाएँ इस प्रकार हैं–[119]

1. मनोज्ञ (अनुकूल)-अमनोज्ञ (प्रतिकूल) श्रोत्रेन्द्रिय का संवर करना अर्थात अच्छे-बुरे शब्द सुनकर प्रियता-अप्रियता के भाव नहीं लाना।

2. मनोज्ञ- अमनोज्ञ चक्षुरिन्द्रिय का संवर करना अर्थात सुन्दर-असुन्दर पदार्थों को देखकर राग-द्वेष के भाव नहीं लाना।

3. मनोज्ञ- अमनोज्ञ घ्राणेन्द्रिय का संवर करना अर्थात सुगन्ध के प्रति लुभाना नहीं और दुर्गन्ध के प्रति घृणा नहीं करना।

4. मनोज्ञ- अमनोज्ञ रसनेन्द्रिय का संवर करना अर्थात खट्टे-मीठे, कड़वे-कषैले सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों के प्रति समत्व भाव रखना।

5. मनोज्ञ- अमनोज्ञ स्पर्शेन्द्रिय का संवर करना अर्थात शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, कर्कश-कोमल, गुरु-लघु समस्त प्रकार के स्पर्श की स्थिति में समभाव रखना।

ये भावनाएँ अपरिग्रह महाव्रत को परिपुष्ट करती हैं। साधक के अन्तर्मानस में परिग्रह के प्रति जो आकर्षण बना रहता है वह इन भावनाओं का सतत चिन्तन करने से मन्दतम हो जाता है। परिणाम स्वरूप देहासक्ति भी घट जाती है।

अपरिग्रह महाव्रत के अतिचार

इस महाव्रत में सूक्ष्म और बादर दो प्रकार के अतिचार लगते हैं। शय्यातर के मकान की गाय-कुत्ता आदि से सुरक्षा करना तथा गृहस्थ बालकों के प्रति किञ्चिद् ममत्व भाव रखना सूक्ष्म अतिचार है तथा लोभवश धन आदि वस्तुओं का संग्रह करना बादर अतिचार है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार पुस्तक आदि के सिवाय अधिक उपधि रखना भी बादर अतिचार है।[120]

निष्कर्ष – यदि पूर्व विवेचन के आधार पर समीक्षात्मक अध्ययन करें तो यह निश्चित होता है कि पंच महाव्रत एवं उनकी पच्चीस भावनाओं का स्वरूप आगमिक एवं आगमेतर साहित्य में स्पष्टता के साथ उपलब्ध है। यदि पाँच महाव्रतों की तुलना की जाए तो वहाँ पूर्ववर्ती एवं परवर्ती ग्रन्थों में इनके नाम लगभग समान हैं। यद्यपि पंच महाव्रत-सम्बन्धी भावनाओं के शब्द एवं क्रम में कहीं कुछ भिन्नता है। आचारचूला[121] समवायांग[122] और प्रश्नव्याकरण[123] में उल्लिखित पाठ भेद इस प्रकार है–

	आचारचूला	समवायांग	प्रश्नव्याकरण
		1. अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ	
1.	ईर्यासमिति	ईर्यासमिति	ईर्यासमिति
2.	मनपरिज्ञा	मनोगुप्ति	अपापमन (मन समिति)
3.	वचनपरिज्ञा	वचनगुप्ति	अपापवचन (वचन समिति)
4.	आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति	आलोकित पान -भोजन	एषणासमिति
5.	आलोकित पान-भोजन	आदानभाण्ड अमत्रनिक्षेपणा समिति	आदाननिक्षेपसमिति
		2. सत्यमहाव्रत की भावनाएँ	
1.	अनुवीचि भाषण	अनुवीचि भाषण	अनुवीचि भाषण
2.	क्रोधपरिज्ञा	क्रोधविवेक	क्रोधप्रत्याख्यान
3.	लोभपरिज्ञा	लोभविवेक	लोभप्रत्याख्यान
4.	भयपरिज्ञा	भयविवेक	भयप्रत्याख्यान
5.	हास्यपरिज्ञा	हास्यविवेक	हास्यप्रत्याख्यान
		3. अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ	
1.	अनुवीचिमितावग्रहयाचन	अवग्रहानुज्ञापना	विविक्त-वास-वसति
2.	अनुज्ञापित पान-भोजन	अवग्रहसीमाज्ञान	अभीक्ष्ण-अवग्रहयाचन
3.	अवग्रह का अवधारण	स्वयमेव अवग्रह-अनुग्रहण	शय्यासमिति
4.	अभीक्ष्ण अवग्रहयाचन	साधर्मिकों द्वारा याचित अवग्रह का उनकी अनुज्ञा से परिभोग	साधारण पिण्डपात्रलाभ

5. साधर्मिकों से अनुवीचिमिता वग्रहयाचन	साधारण भक्तपान अनुज्ञाप्य	विनयप्रयोग परिभोग

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावनाएँ

1. अभीक्ष्ण स्त्रीकथा-वर्जन	स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन	असंसक्त वास-वसति
2. स्त्रियों के इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन	स्त्री-कथा का विसर्जन	स्त्रियों की सभा और कथा वर्जन
3. पूर्व भुक्त भोग-पूर्वक्रीड़ा की स्मृति का वर्जन	स्त्रियों की इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन	स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों और चेष्टाओं के अवलोकन का वर्जन
4. अतिमात्र पानभोजन और प्रणीत रस भोजन का वर्जन	पूर्वभुक्त व पूर्वक्रीडित कामभागों की स्मृति का वर्जन	पूर्वभुक्तभोग की स्मृति का वर्जन
5. स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयनासन का वर्जन	प्रणीत आहार का विवर्जन	प्रणीत रसभोजन का वर्जन

5. अपरिग्रह महाव्रत की भावनाएँ

1. मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में अनासक्त	श्रोत्रेन्द्रिय राग-उपरति	मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द में समभाव
2. मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में अनासक्त	चक्षुरिन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप में समभाव
3. मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध में अनासक्त	घ्राणेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ-अमनोज्ञ गन्ध में समभाव
4. मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस में अनासक्त	रसनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ-अमनोज्ञ रस में समभाव
5. मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में अनासक्त	स्पर्शनेन्द्रिय रागोपरति	मनोज्ञ-अमनोज्ञ स्पर्श में समभाव

ये भावनाएँ नेमिचन्द्रकृत प्रवचनसारोद्धार एवं हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र (1/26-33) में भी उल्लिखित हैं।

जहाँ तक महाव्रतों के अपवाद का प्रश्न है वह विवेचन जैन आगम-साहित्य और जैन टीका-साहित्य दोनों में प्राप्त होता है। जहाँ तक महाव्रतों के अतिचारों का सवाल है वह वर्णन आचार्य हरिभद्रसूरि पंचवस्तुक में प्राप्त होता है।

6. रात्रिभोजन-विरमणव्रत का स्वरूप

श्वेताम्बर आम्नाय में रात्रिभोजन परित्याग को छठा व्रत कहा गया है और दिगम्बर-परम्परा में श्रमण के मूलगुणों में इसकी गणना की गयी है।

रात्रिभोजन विरमणव्रत स्वीकार करने वाला साधक प्रतिज्ञा करता है–[124] 'हे भगवन्! मैं समस्त प्रकार के रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। द्रव्य से– अशन, पान, खादिम और स्वादिम, क्षेत्र से – मनुष्य क्षेत्र में अर्थात जिस समय जहाँ रात्रि हो, काल से – रात्रि में, भाव से – तीखा, कडुआ, कषैला, खट्टा, मीठा या नमकीन। मैं किसी भी वस्तु को रात्रि में न स्वयं खाऊंगा, न दूसरों को खिलाऊंगा और न खाने वालों की अनुमोदना करूंगा। मेरी यह प्रतिज्ञा तीन करण– तीन योग पूर्वक यावज्जीवन के लिए है।'

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रभु आदिनाथ और प्रभु महावीर (प्रथम एवं अन्तिम तीर्थङ्कर) ने पंचयाम धर्म की स्थापना की तथा मध्य के बाईस तीर्थङ्करों ने चातुर्याम धर्म प्रस्थापित किया।[125] इसके आधार पर आचारांगसूत्र[126] और प्रश्नव्याकरणसूत्र[127] में पाँच महाव्रत और तत्सम्बन्धी भावनाओं का ही वर्णन प्रतिपादित है। तब रात्रिभोजन विरमण व्रत की परिकल्पना कब अस्तित्व में आई ? कुछ लोगों की मान्यता है कि दशवैकालिकसूत्र की रचना के पूर्व तक रात्रिभोजन त्याग को व्रत में स्थान नहीं दिया गया था, किन्तु उनकी यह मान्यता भ्रान्त है। सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भगवान् महावीर ने लोगों को रात्रिभोजन से विरत किया। इससे सिद्ध होता है कि यह छठा व्रत भगवान् महावीर के समय से ही त्याग रूप से प्रवर्तित था हाँ! छठे व्रत रूप की अवधारणा सम्भवतया बाद में अस्तित्व में आई।

रात्रिभोजन विरमण को छठें व्रत के रूप में मान्यता देने का मुख्य प्रयोजन दर्शाते हुए जिनदासगणि महत्तर ने लिखा है[128] कि मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के

साधु-साध्वी ऋजु प्राज्ञ होने से रात्रिभोजन का सरलता से त्याग कर देते हैं। स्वरूपतः प्रथम अहिंसाव्रत में ही रात्रिभोजन विरमणव्रत का अन्तर्भाव हो जाता है अतः इसे पृथक् स्थान देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु प्रथम और चरम तीर्थङ्कर के साधु-साध्वी ऋजु-जड़ और वक्र-जड़ होते हैं। इस दृष्टि से आदि और अन्तिम तीर्थङ्कर के शासनकाल में इसे पृथक् स्थान दिया गया, ताकि महाव्रतों की भाँति ही रात्रिभोजन विरमण का भी सम्यक् पालन किया जा सके।

विशेषावश्यकभाष्य में उल्लेखित है कि रात्रि को भोजन न करने से अहिंसा महाव्रत का संरक्षण होता है। अतः यह समिति की भाँति उत्तरगुण है, परन्तु श्रमण के लिए अहिंसा महाव्रत की तरह पालनीय होने से मूलगुण की कोटि में रखने योग्य है। इसी आधार पर आचार्य जिनभद्र ने मूलगुण की संख्या पांच और छः दोनों स्वीकारी है।[129] आगमेतरकालीन ग्रन्थों में इस व्रत की अनिवार्यता को सुस्पष्ट रूप से स्वीकारा गया है और इसके मूल में पंचमहाव्रतों की रक्षा का प्रयोजन निर्दिष्ट किया है। जैसाकि आचार्य वट्टकेर ने रात्रिभोजन-विरमण को पंचमहाव्रतों की रक्षा के लिए आवश्यक माना है।[130] भगवती आराधना में भी इस व्रत का पालन करना श्रमण के लिए जरूरी कहा गया है।[131] दिगम्बराचार्य देवसेन, चामुण्डराय, वीरनन्दी और पं. आशाधर आदि ने रात्रिभोजन-विरमण को छठा अणुव्रत माना है।[132] कुछ आचार्यों ने इसे अणुव्रत की कोटि में न मानकर अहिंसाव्रत की भावना के अन्तर्गत गिना है। आचार्य उमास्वाति आदि तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों ने रात्रिभोजन-विरमण को छठा व्रत या अणुव्रत के रूप में भले ही स्वीकार न किया हो तथापि इस बात पर प्रामाणिकता के साथ बल दिया है कि रात्रिभोजन श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य है।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि पाँच महाव्रत मूलगुण हैं और रात्रिभोजन विरमणव्रत उत्तरगुण हैं। फिर भी यह मूलगुणों की रक्षा में हेतुभूत है, इसलिए इसका मूलगुणों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

दूसरा तथ्य यह है कि मूलगुण उत्तरगुणों के आधारभूत होते हैं किन्तु उत्तरगुण के बिना मूलगुण परिपूर्ण भी नहीं होते, अतः मूलगुण के ग्रहण से अर्थतः उसका भी ग्रहण हो जाता है। विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति के अनुसार रात्रिभोजन विरमणव्रत उभय धर्मात्मक है जैसे साधु के लिए वह मूलगुण और

गृहस्थ के लिए उत्तरगुण है।[133] गृहस्थ श्रावक आरम्भजन्य हिंसा से पूर्णतः निवृत्त नहीं होता इसलिए रात्रिभोजन से उसके मूलगुण खण्डित नहीं होते, अतः वह श्रावक का उत्तरगुण है जबकि साधु पूर्णतः अहिंसक होते हैं, अतः रात्रिभोजन से उनके मूलगुण खण्डित होते हैं। रात्रिभोजन विरमण से मूलगुणों का संरक्षण होता है। इस प्रकार यह व्रत मूलगुणों का अत्यन्त उपकारी होने से मूलगुण के रूप में स्वीकृत है तथा तप, स्वाध्याय आदि मूलगुणों के अत्यन्त उपकारक न होने के कारण उत्तरगुण हैं।[134]

रात्रिभोजन विरमणव्रत की उपादेयता

भोजन जीवन यात्रा का एक अपरिहार्य तत्त्व है। इसके अभाव में किसी भी प्राणी का जीवन टिक नहीं सकता। यद्यपि मानव देह का मुख्य लक्ष्य अनाहारी पद की प्राप्ति है। उस तरह की विशिष्ट साधना के लिए मनुष्य का जीवित रहना भी आवश्यक है और जीवन टिकाये रखने के लिए भोजन आवश्यक है। हम देखते हैं कि जन्म लेने के साथ ही इसकी आवश्यकता प्रारम्भ हो जाती है। जब बच्चा जन्मता है तब जन्म लेने के साथ ही रुदन की क्रिया शुरू हो जाती है उस समय माता के दूध पिलाने पर वह शान्त हो जाता है। इससे सिद्ध है कि जीव की सर्वप्रथम आवश्यकता भोजन है।

भोजन कैसा हो, इसके साथ यह तथ्य भी बहुत महत्त्व रखता है कि भोजन कब हो? क्योंकि असमय में किया गया महान् कार्य भी निरर्थक हो जाता है, तब भोजन जो मुख्य रूप से हमारी क्षुधा को शांत करता है। साथ ही वह हमारे शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित करता है। तब उसे तो और भी अधिक सजगता के साथ ग्रहण किया जाना चाहिए।

सर्वप्रथम तो जब हमें अच्छी भूख लगे तभी भोजन ग्रहण करना चाहिए और वह भी निर्धारित समय पर, यह सब हमारी जीवन शैली और आदतों पर निर्भर करता है। हम जैसी आदत डालते हैं शरीर को वैसी ही भूख लगती है अतः हमें उसी समय की आदत डालनी चाहिए जब प्रकृति हमारे शारीरिक यंत्रों को और अधिक सक्रिय कर सके। जब हमें गहरी भूख लगती है तो पेन्क्रियाज (अग्नाशय) और आमाशय अधिक सक्रिय हो जाते हैं। यदि उस समय प्रकृति के द्वारा पर्याप्त प्राण ऊर्जा मिल जाये तो हमारी स्वयं की ऊर्जा कम खर्च होती है।

प्रातःकाल में सूर्योदय के एक घंटे पश्चात हमारा आमाशय सक्रिय होता

है तथा उसके दो घंटे पश्चात अग्नाशय अधिक सक्रिय होता है। इस समय किया गया प्रात:कालीन भोजन सर्वाधिक लाभकारी है तथा भोजन का पाचन सरलता से होता है। सूर्यास्त के दो घंटे पश्चात आमाशय तथा उसके दो घंटे पश्चात पेन्क्रियाज (अग्नाशय) की सक्रियता न्यून हो जाती है क्योंकि प्रकृति प्रदत्त प्राण ऊर्जा का प्रवाह उस समय प्राप्त नहीं होता, अत: भोजन के लिए यह समय अनुचित है। बिना भूख के भोजन करना एवं असमय में भोजन करना भी लाभकारी नहीं है। हमारे भोजन के पाचन में बाह्य प्रकृति प्रमुख स्थान रखती है इसीलिए सूर्य की उपस्थिति में किया गया भोजन सर्वाधिक शक्तिशाली होता है। किसी कवि ने कहा है–

पाँच बजे उठना और नौ बजे भोजन करना।
पाँच बजे भोजन करना और नौ बजे सो जाना।।

हमारा उठना-बैठना, खाना-पीना इन सबका हमारे स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से रात्रिभोजन हमारे लिए किसी भी प्रकार से उचित नहीं है।

यहाँ यह कहना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि रात्रिभोजन केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु स्वास्थ्य और विज्ञान की दृष्टि से भी त्याज्य है। प्रकृति भी हमें यही संदेश देती है। सूर्य का प्रकाश हमारे आरोग्य को नवजीवन प्रदान करता है। आयुर्वेद शास्त्र नाभि की तुलना कमल से करता है और जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से कमल विकसित होता है और सूर्यास्त होते-होते निष्क्रिय हो जाता है, वैसे ही हमारा नाभिकमल सूर्योदय के साथ विकसित होता है, उसकी क्रियाशक्ति गतिशील होती है किन्तु सूर्य की रोशनी के अभाव में वह मुरझा जाता है और पाचन तंत्र भी कमजोर पड़ जाता है। इस तरह स्वास्थ्य और शारीरिक दृष्टि से रात्रिभोजन त्याज्य है।

सभी धर्म रात्रिभोजन को महापाप मानते हैं। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार रात्रिभोजन करने से स्वास्थ्य हानि, स्वभाव में उग्रता, कषायों का वर्धन, रोगों को आमंत्रण आदि कई अनिश्चित कार्य होते हैं। टी. हार्टली हेनेसी ने अपनी पुस्तक Healing by Water में सूर्यास्त के पूर्व भोजन का समर्थन किया है। डॉक्टरों के अनुसार वर्तमान की 90% बीमारियों का कारण बिगड़ती आहार पद्धति है। यहाँ इस सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से विचार करेंगे –

आगम एवं आगमिक व्याख्या ग्रन्थों की दृष्टि से

सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा अपनी त्रिकालवर्ती दृष्टि से सब कुछ जानते हैं, उन्हें वैज्ञानिकों की भाँति माइक्रोस्कोप, टेलीस्कोप या प्रयोगशालाओं की आवश्यकता नहीं होती। उन्होंने रात्रिभोजन को महापाप बताते हुए सर्वथा त्याज्य बताया है। वैज्ञानिक खोजों का तो रोज खंडन-मंडन होता रहता है, क्योंकि विज्ञान विकासशील है पर सर्वज्ञ-दृष्टि सम्पूर्णतया विकसित है। वह जो कुछ कहती है सर्वथा और सर्वदा के लिए सत्य होता है।

जैन धर्म में श्रमण के लिए रात्रिभोजन सर्वथा त्याज्य बतलाया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण जीवन के कठोर आचार का निरूपण करते हुए स्पष्ट कहा है कि जैन मुनि को पाँच महाव्रतों की भाँति इस छठे व्रत का पालन दृढ़ता पूर्वक करना चाहिए।[135] क्योंकि यह व्रत उत्सर्ग रूप है। महाव्रतों के अपवाद प्राप्त होते हैं परन्तु रात्रिभोजन विरमण व्रत का कोई अपवाद नहीं है।

रात्रिभोजन विरमण-व्रत महाव्रतों की सुरक्षा के लिए है इसीलिए महाव्रतों को मूलगुण और रात्रिभोजन विरमण को उत्तरगुण माना है। मूलगुण और उत्तरगुण के भेद को स्पष्ट करने के लिए ही प्राणातिपात विरमण आदि को महाव्रत और रात्रिभोजन विरमण को व्रत कहा गया है। यह इस व्रत की प्राथमिक उपादेयता है।

दशवैकालिकसूत्र के तीसरे अध्ययन में 52 अनाचीर्णों में पाँचवां अनाचीर्ण रात्रिभोजन से सम्बन्धित है अर्थात रात्रिभोजन को अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार न कहकर अनाचार कहा है।[136] प्रस्तुत सूत्र के चौथे अध्ययन में रात्रिभोजन-विरमण को छठा व्रत भी कहा है तथा प्राणातिपात-विरमण आदि पाँचों विरमणों को महाव्रत कहा है।[137] दशवैकालिक के छठे अध्ययन में श्रमण जीवन के अठारह गुणों का उत्कीर्तन करते हुए रात्रिभोजन त्याग को महाव्रत के साथ सम्मिलित कर "वयछक्कं" छः व्रतों का उल्लेख किया है। उसमें पाँचों महाव्रतों के समान ही छठे रात्रिभोजन त्याग को भी महत्त्व दिया गया है।[138] आठवें अध्ययन की 28वीं गाथा में तो साधु-साध्वी के लिए सूर्यास्त से सूर्योदय तक आहारादि पदार्थों के सेवन की मन से भी इच्छा नहीं करने का निर्देश दिया गया है, क्योंकि रात्रिभोजन विरमण व्रत के भंग से अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है। एक महाव्रत के दूषित होने पर अन्य महाव्रतों के दूषित होने की भी संभावना रहतीं है।[139]

रात्रि में भोजन करने से अनेक सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा होती है, क्योंकि मनुष्य उन सूक्ष्म जीवों को देख नहीं पाता, जिनकी संख्या में अंधेरा होते ही अप्रत्याशित वृद्धि हो जाती है। इसके अलावा कुछ छोटे-छोटे जीव ऐसे होते हैं, जो रोशनी देखकर स्वत: आ जाते हैं और चिराग आदि की लौ पर जलकर मर जाते हैं अर्थात रात्रि में भोजन करना हिंसा को बढ़ावा देना है। जहाँ तक आगमिक व्याख्याओं का प्रश्न है वहाँ दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि में रात्रिभोजन त्याग को मूलगुणों की रक्षा का हेतु बताया गया है।[140]

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में इसे मूलगुण एवं उत्तरगुण द्विविध रूपों में स्वीकार किया है। रात्रिभोजन त्याग से अहिंसा महाव्रत का संरक्षण होता है अत: वह समिति की भाँति उत्तरगुण है किन्तु श्रमण के लिए वह अहिंसा महाव्रत की तरह पालनीय है इस दृष्टि से वह मूलगुण की कोटि में भी माना गया है।[141]

इस तरह हम पाते हैं कि रात्रिभोजन त्याग जैन मुनियों का औत्सर्गिक व्रत है। किसी भी परिस्थिति में इस व्रत का खंडन नहीं किया जा सकता। रात्रिभोजन करने से अहिंसादि महाव्रतों का सम्यकृतया परिपालन भी नहीं हो सकता है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों की दृष्टि से

वर्तमान जीवन शैली में रात्रिभोजन सभ्यता का प्रतीक बन गया है। यहाँ तक कि धार्मिक आयोजन भी इससे अछूते नहीं रह गए हैं। विडम्बना यह है कि जो रात्रिभोजन नहीं करता, उसे बैकवर्ड (पिछड़ा) माना जाता है। जहाँ 'अहिंसा परमो धर्म:' के उच्च संस्कार दिये जाते हैं ऐसे आराधना भवन, जैन भवन, आयंबिल भवन आदि स्थानों पर भी रात्रिभोजन का प्रचलन बढ़ गया है। जबकि जैन परम्परा में रात्रिभोजन किसी भी रूप में मान्य नहीं है। जैनाचार्यों ने कठोरता से इस बात का निषेध किया है।

योगशास्त्र के तीसरे अध्याय में रात्रिभोजन त्याग पर बल देते हुए कहा गया है कि रात के समय निरंकुश संचार करने वाले प्रेत-पिशाच आदि अन्न जूठा कर देते हैं, इसलिये सूर्यास्त के पश्चात भोजन नहीं करना चाहिये। रात्रि में घोर अंधकार होने से अवरुद्ध शक्तिवाले नेत्रों से भोजन में गिरते हुए जीव दिखाई नहीं देते हैं, अत: रात के समय भोजन नहीं करना चाहिये।[142]

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने रात्रिभोजन करने से होने वाले दोषों का वर्णन

करते हुए दर्शाया है कि जो दिन-रात खाता रहता है, वह सचमुच सींग और पूँछ रहित पशु ही है। जो लोग दिन के बदले रात में खाते हैं, वे मनुष्य सचमुच हीरे को छोड़कर काँच को ग्रहण करते हैं। दिन के विद्यमान होते हुए भी जो अपने कल्याण की इच्छा से रात में भोजन करते हैं वे पानी के तालाब (उपजाऊ भूमि) को छोड़कर ऊसर भूमि में बीज बोने जैसा काम करते हैं अर्थात मूर्खतापूर्ण काम करते हैं।[143]

हेमचन्द्राचार्य ने पूर्वोक्तक्रम में यह भी निर्दिष्ट किया है कि रात्रिभोजन से परलोक में विविध प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। जो रात्रि में भोजन करता है वह अगले जन्म में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, शंबर, सूअर, सर्प, बिच्छू, गोह आदि की निकृष्ट योनि में जन्म लेता है। अत: समझदार और विवेकी जनों को रात्रिभोजन का त्याग अवश्य करना चाहिए।[144] जो भव्य आत्माएँ हमेशा के लिए रात्रिभोजन का त्याग करती हैं, उनकी आत्मा धन्य मानी गई है। रात्रिभोजन के त्यागी को आधी उम्र के उपवास का फल प्राप्त होता है।[145]

एक जगह लिखा गया है कि रात्रिभोजन में जो दोष लगते हैं, वे दोष (दिन के समय) अंधेरे में भोजन करने से भी लगते हैं और जो दोष अंधेरे में भोजन करने से लगते हैं, वे ही दोष सँकरे मुखवाले बर्तन में भोजन करने से लगते हैं। क्योंकि रात्रि में सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं देते इसलिये रात को बनाया भोजन दिन में ग्रहण करें तो भी वह रात्रिभोजन तुल्य ही माना गया है।

रत्नसंचयप्रकरण में रात्रिभोजन करने से लगने वाले दोषों की चर्चा करते हुए कहा है कि छियानवे भव तक कोई मछुआरा सतत मछलियों की हत्या करे, तो उसे जितना पाप लगता है, उतना पाप एक सरोवर सुखाने से लगता है। एक सौ आठ भव तक सरोवर सुखाने से जितना पाप लगता है, उतना पाप एक दावानल लगाने से लगता है। एक सौ एक भव तक दावानल लगाने से जितना पाप लगता है; उतना पाप एक कुवाणिज्य (खोटा धंधा) करने से लगता है। एक सौ चवालीस भव तक कुव्यापार करने से जो पाप लगता है, उतना पाप किसी पर एक बार झूठा इल्जाम लगाने से लगता है। एक सौ इक्यावन भव तक झूठा दोषारोपण करने से जितना पाप लगता है, उतना पाप एक बार परस्त्रीगमन से लगता है। एक सौ निन्यानवे भव तक परस्त्रीगमन करने से जितना पाप लगता है, उतना पाप एक बार के रात्रिभोजन से लगता है।[14]

पं. आशाधर जी ने सागारधर्मामृत में रात्रिभोजन त्याग का महत्त्व दर्शाते हुए लिखा है[147]–

अहिंसाव्रत रक्षार्थ, मूलव्रत विशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि, सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत।।

अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए एवं मूलगुणों को निर्मल करने के लिए धीर व्रती को मन-वचन-काय से जीवन पर्यन्त के लिए रात्रि में चारों प्रकार के भोजन का त्याग करना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में रात्रिभोजन के विषय में दो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम तो यह कि दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है और रात्रिभोजन करने से ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्विघ्न पालन संभव नहीं होता। रात्रिभोजन को पकाने अथवा प्रकाश के लिये जो अग्नि या दीपक प्रज्वलित किया जाता है, उसमें भी अनेक जन्तु आकर मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं तथा भोजन में भी गिर जाते हैं अत: रात्रिभोजन हिंसा से मुक्त नहीं है।[148] आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में रात्रिभोजन-विरमण को पंच महाव्रतों की रक्षा के लिए आवश्यक माना है।[149] इसी प्रकार भगवती आराधना में भी श्रमणों के लिए रात्रिभोजन-विरमण व्रत का पालन आवश्यक माना गया है।[150]

दिगम्बर परम्परा के आचार्य देवसेन[151], चामुण्डराय,[152] वीरनन्दी[153] सभी ने रात्रिभोजन त्याग को महाव्रतों की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हुए उसे छठा अणुव्रत माना है। कितने ही आचार्यों ने रात्रिभोजनविरमण को अणुव्रत न मानकर उसे अहिंसा व्रत की भावना के अन्तर्गत माना है। तत्त्वार्थसूत्र[154] के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक[155], विद्यानन्द[156] और श्रुतसागर[157] सभी के यही मत हैं। कदाचित तत्त्वार्थसूत्र[158] के सभी व्याख्याकार रात्रिभोजन-विरमण व्रत को छठा व्रत या अणुव्रत न मानें किन्तु सभी ने रात्रिभोजन के दोषों का निरूपण किया है और इस बात पर बल दिया है कि रात्रिभोजन श्रमण के लिए सर्वथा त्याज्य है।

जैनेतर ग्रन्थों की दृष्टि से

जैन परम्परा में तो रात्रिभोजन निषेध का स्पष्ट उल्लेख है ही, किन्तु वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी रात्रिभोजन को वर्जित माना गया है। 'मार्कण्डेयपुराण' में मार्कण्डेय ऋषि ने रात्रिभोजन को मांसाहार के समान कहा है–

'रात्रौ अन्नं मांस समं प्रोक्तम्, मार्कण्डेय महर्षिणा ।'

जैनेतर ग्रन्थों में नरक के चार द्वार बताये गये हैं–
1. रात्रिभोजन, 2. परस्त्रीगमन, 3. अचार भक्षण और 4. अनन्तकाय का भक्षण। इन द्वारों में रात्रिभोजन को प्रथम स्थान पर रखा गया है।

महाभारत में कहा है कि जो लोग मद्यपान करते हैं, शराब पीते हैं, मांस, मछली, अण्डे का भक्षण करते हैं, रात को भोजन करते हैं और कन्दमूल-अनन्तकाय का भक्षण करते हैं उनकी तीर्थयात्रा, जप, तप आदि अनुष्ठान निष्फल होते हैं।[159]

यजुर्वेद में वर्णन है कि हे युधिष्ठिर! देव हमेशा दिन के प्रथम प्रहर में भोजन करते हैं, ऋषि-मुनिजन दिन के दूसरे प्रहर में भोजन करते हैं, पितर लोग तीसरे प्रहर में भोजन करते हैं और दैत्य, दानव, यक्ष, एवं राक्षस संध्या के समय भोजन करते हैं। इन सभी देवादि के भोजन का समय जानकर भी जो रात्रिभोजन करता है, वह अनुचित करता है।[160] रात्रिभोजन वास्तव में अभोजन है।

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि चातुर्मास में जो रात्रिभोजन का त्याग करता है, उसके इहलोक और परलोक में सभी मनोरथ पूरे होते हैं।[161] जैन दर्शन के अनुसार चातुर्मास के समय में जीवों की उत्पत्ति अधिक होती है इसलिये चौमासे में विशेष रूप से पाप कार्यों का त्याग करना चाहिये।

स्कन्दपुराण में उल्लेख है कि जो प्रतिदिन एक बार भोजन करता है, वह अग्निहोत्र का फल प्राप्त करता है और जो सूर्यास्त के पूर्व ही भोजन कर लेता है उसे घर बैठे तीर्थयात्रा का फल प्राप्त होता है।[162]

श्रावकाचार सारोद्धार आदि के अनुसार जिस तरह स्वजन और सम्बन्धियों की मृत्यु होने पर मनुष्य को सूतक लगता है उसी तरह सूर्य के अस्त होने पर भोजन किस तरह कर सकते हैं ? अतः सूर्यास्त के बाद रात्रिभोजन कभी भी नहीं करना चाहिए।[163]

मज्झिमनिकाय के कीटागिरिसूत्र में कहा गया है कि एक समय बड़े भारी भिक्षु संघ के साथ भगवान काशी (जनपद) में चारिका करते थे। वहाँ भगवान ने भिक्षुओं को आमंत्रित किया और कहा 'भिक्षुओं! मैं रात्रिभोजन से विरत हो भोजन करता हूँ। रात्रिभोजन के अतिरिक्त समय में भोजन करने से आरोग्य,

उत्साह, बल, सुखपूर्वक विहार का अनुभव करता हूँ। आओ, भिक्षुओं! तुम भी रात्रिभोजन विरत हो भोजन करो, रात्रिभोजन छोड़कर भोजन करने से तुम भी उनका अनुभव करोगे'।[164] इस प्रकार वैदिक एवं बौद्ध परम्परा में भी रात्रिभोजन का निषेध किया गया है।

आध्यात्मिक लाभ की दृष्टि से

आध्यात्मिक दृष्टि से रात्रिभोजन का त्याग करना बहुत बड़ा तप का लाभ माना गया है। रात्रिभोजन त्याग की मूल्यवत्ता बताते हुए ज्ञानी पुरुषों ने लिखा है– जो विवेकी मनुष्य रात्रिभोजन का सदैव के लिये त्याग करते हैं, उनको एक माह में पन्द्रह दिन के उपवास का फल प्राप्त होता है।[165] सुस्पष्ट है कि रात्रिभोजन त्यागने से बिना किसी कष्ट के सहज रूप से पन्द्रह दिन की तपस्या का फल मिल जाता है। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजन त्याग का पालन करने से कर्मों की निर्जरा, गहरी निद्रा, धर्माराधना, नीरोगता, दीर्घायु आदि लाभ सहज में प्राप्त होते हैं।

जो लोग रात्रिभोजन नहीं करते हैं वे सायंकालीन प्रतिक्रमण भी कर सकते हैं। इससे रात्रि में सोने से पूर्व प्रभु भक्ति, ध्यान आदि में भी मन लगता है। पारिवारिक सदस्य भी सायंकालीन एवं रात्रिकालीन धार्मिक क्रियाओं से वंचित नहीं रहते।

इस प्रकार जैन धर्म में रात्रिभोजन का जो निषेध है उसके पीछे आरोग्य की दृष्टि भी है, अहिंसा की दृष्टि भी है और तप की दृष्टि भी है। तीनों ही दृष्टियों से रात्रिभोजन त्याज्य है।

यौगिक विकास की दृष्टि से

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने योगशास्त्र में योग-साधना की दृष्टि से रात्रिभोजन का निषेध किया है। यौगिक क्रिया करने वाले साधकों ने मानव शरीर के विभिन्न अंगों को कमल की उपमा दी है जैसे मुखकमल, नेत्रकमल, हृदयकमल, नाभिकमल, चरणकमल आदि। इस प्रकार हमारे शरीर रूपी सरोवर में चारों ओर कमल ही कमल हैं। जिस तरह कमल सूर्योदय होने पर खिलता है और सूर्यास्त होने पर मुरझा जाता है उसी तरह हमारे शरीर रूपी सरोवर में स्थित सभी कमल सूर्योदय के साथ सक्रिय होते हैं एवं सूर्यास्त के साथ उनकी सक्रियता निर्बल हो जाती है।[166] अत: जब कमल सक्रिय हो यदि उस समय

भोजन किया जाये तो वह सुपाच्यकर होता है। साथ ही बलवर्धक और शक्तिकारक भी होता है। इस प्रकार शारीरिक स्वस्थता पूर्वक की गई योग-साधना सिद्धिफलदायिनी होती है।

ध्यान-साधना करने के लिए तन और मन दोनों शांत और स्वस्थ होने चाहिए। रात्रिभोजन का त्याग आमाशय और पाचनतंत्र को हल्का रखता है, जिससे मस्तिष्क भारमुक्त रहता है। जबकि रात्रिभोजन से वायु दोष, अजीर्ण, अपच आदि होने की अधिक संभावना रहती है। फलस्वरूप योग साधना आदि में मन जुड़ना मुश्किल होता है।

अहिंसा लाभ की दृष्टि से

यदि अहिंसा की दृष्टि से विचार करते हैं तो रात्रिभोजन अनावश्यक जीव हिंसा का कारण प्रतीत होता है। पहला दोष यह है कि अंधकार में भोजन किया ही नहीं जा सकता, उसके लिए दीपक, मोमबत्ती या बिजली का प्रकाश करना ही पड़ता है। उस प्रकाश में स्वयं अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीव आकर्षित होकर आ जाते हैं, जो भोजन में अपने आप गिरते रहते हैं। अनेक जीव तो इतने सूक्ष्म होते हैं तथा उनका रंग भोज्य पदार्थ के रंग का ही होने से पता भी नहीं चलता और वे हमारे खाद्य-पदार्थों में मिलकर अनचाहे ही हमारे पेट में चले जाते हैं, पेट इन जीवों का कब्रिस्तान बन जाता है।

दूसरा दोष यह है कि रात्रिभोजी क्रूर, हिंसक, कठोर एवं निष्ठुर परिणामी हो जाता है। उसके भीतर में जिनवाणी के प्रति रही आस्था एवं श्रद्धा मंद होने लगती है। जो रात्रि भोजी हैं उनके लिये अक्सर रात को भोजन बनता है। रात में गैस-चूल्हों में छिपे जन्तु अकारण ही मर जाते हैं। आजकल यह तर्क दिया जाता है कि बिजली के प्रकाश से दिन की तरह प्रकाश हो जाता है, अतः जीव जन्तु आसानी से दिखाई देते हैं। वास्तव में देखा जाये तो अनेक जीव-जन्तु जो दिन में निष्क्रिय रहते हैं वे रात में सक्रिय हो जाते हैं तथा अनेक जीव-जन्तु विद्युत, दीपक आदि के प्रकाश के कारण ही पैदा होते हैं। इस तरह रात को भोजन बनाने एवं करने के कारण अनेक निरपराध जीव काल के ग्रास हो जाते हैं। इस प्रकार रात्रिभोजन करने से स्पष्टतः हिंसा का पाप लगता है।

यह बात प्रमाण सिद्ध है कि मर्यादित काल के बाद खाद्य पदार्थों में अक्सर खाद्य-सामग्री के रंग के ही कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, उन्हें रात में देखना एवं उनसे रात में बचना बड़ा कठिन होता है। कभी-कभी तो विषैले कीटाणुओं के

कारण हिंसा के अलावा अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं एवं अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ जाता है।

तीसरा दोष यह है कि रात का समय अंधकार का होता है, अतः सात्त्विक आहार भी रात के समय में तामसिक बन जाता है। ऐसे आहार के सेवन से क्रोध, हिंसा, भय, घृणा, चंचलता आदि विकारों से यह मन ग्रसित होकर पतन की राह पर भटक जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण से

आधुनिक चिन्तकों का तर्क है कि आगम और आगमेतर साहित्य में रात्रिभोजन के सम्बन्ध में जिन दोषों की सूची प्रस्तुत की गई है उनमें से अधिकांश दोष अन्धकार के कारण होते हैं। क्योंकि अन्धेरे में जीव-जन्तु आदि दिखाई नहीं देते, पर आज विज्ञान की अपूर्व देन से हमें विद्युत उपलब्ध है। विद्युत के तीव्र आलोक में सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी सहज रूप से देखी जा सकती है इसलिए जहाँ तक देखने का प्रश्न है वहाँ विद्युत ने उसका हल कर दिया है। अतः जीव-जन्तु के भक्षण का अब प्रश्न ही नहीं रहता।

इसका प्रतिपक्षी जवाब यह है कि आगम और आगमेतर साहित्य में जन्तु आदि विराधना की जो बात कही गई है, वह स्थूल है। हमारी दृष्टि से सूर्य के प्रकाश में जो विशेषता है वह विद्युत के प्रकाश में नहीं है। चाहे वह कितना ही तीव्र और चमचमाता हुआ क्यों न हो। हीरे आदि जवाहरात का परीक्षण विद्युत प्रकाश में नहीं होता, उसका परीक्षण तो सूर्य की रोशनी में ही होता है। कमल सूर्य की रोशनी में ही विकसित होते हैं, विद्युत प्रकाश में नहीं। सूर्योदय होते ही प्राणवायु की मात्रा बढ़ जाती है। यह प्राणवायु श्रम करने के लिए आवश्यक है। भोजन पाचन के लिए भी प्राणवायु को आवश्यक माना गया है। रात्रि में प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है और कार्बन-डाइ-आक्साइड की मात्रा बढ़ती है जिसके कारण पेड़-पौधों को लाभ मिलता है, पर मानवों को उससे लाभ नहीं मिलता। जैसे रात्रि होने पर कमल के फूल सिकुड़ने लगते हैं वैसे ही रात्रि में मानव का पाचन संस्थान भी सिकुड़ने लगता है। अब तो वैज्ञानिक अनुसंधानों से बहुत कुछ निश्चित हो चुका है जैसे कि सूर्य प्रकाश में अल्ट्रावायलेट एवं इन्फ्रारेड ऐसे दो प्रकार की अदृश्य किरणें होती हैं। उनमें से एक प्रकार की किरण वातावरण को सूक्ष्म जीवाणु रहित बनाती है। * सूर्य प्रकाश से विटामिन

डी का निर्माण होता है। * सूर्य प्रकाश से भोजन के चयापचय प्रक्रिया में वृद्धि होती है। * दिनकृत भोजन से खनिज पदार्थों के संश्लेषण में वृद्धि होती है। * सूर्य प्रकाश से रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि होती है आदि तथ्यों से रात्रिभोजन निषेध की मान्यता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो जाती है।

विशेषज्ञों का कहना है कि सूर्य प्रकाश के पीले रंग में पारा, आसमानी में एल्युमीनियम, हरे में सीसा, लाल में लोहा, नीले में तांबा, नारंगी में सोना एवं बैंगनी में चाँदी का समावेश है। पीले रंग की किरणें लीवर, फेफड़े एवं पाचन प्रणाली के लिए उपयुक्त मानी जाती हैं। हरा रंग पीयूषग्रन्थि को सर्वाधिक प्रभावित करता है। आसमानी रंग चयापचय (मेटाबालिज्म) की प्रक्रिया को बढ़ाने में सहायक होता है, यह शरीर की अतिरिक्त गर्मी को दूर करता है। नीला रंग भक्ति, प्रेम आदि शुभ भावनाओं को जागृत करता है। यह पैराथायराइड ग्रन्थि को भी प्रभावित करता है। बैंगनी रंग सोडियम और पोटेशियम के सन्तुलन को बनाये रखता है, मस्तिष्क की दुर्बलता में टॉनिक का कार्य करता है और मन का केन्द्रीकरण करता है। इस प्रकार शरीर में जिन खनिज तत्त्वों की कमी से जो रोग उत्पन्न हुआ हो उसे सूर्य किरणों से दूर किया जा सकता है।[167]

जहाँ तक धर्म विज्ञान का प्रश्न है, वहाँ रात्रिभोजन को हिंसा आदि कारणों से निषिद्ध बताया है। चिकित्सा शास्त्रियों का अभिमत है कि कम से कम सोने के तीन घंटे पूर्व तक भोजन अवश्य कर लेना चाहिये। जो लोग रात्रिभोजन के तुरन्त बाद सो जाते हैं, उनका भोजन अधिक समय तक आमाशय में ही पड़ा रहता है जिससे न केवल पाचन क्रिया प्रभावित होती है बल्कि अगले दिन मल त्यागने में भी विलम्ब होता है। परिणामस्वरूप कब्ज, हार्निया, बवासीर आदि कई रोग हो सकते हैं। सूर्यप्रकाश में केवल प्रकाश ही नहीं है, अपितु जीवनदायिनी शक्ति भी है। सूर्यप्रकाश से हमारे पाचन तंत्र का गहरा सम्बन्ध है।

भारतीय आयुर्वेद के अनुसार शरीर में दो मुख्य कमल होते हैं– 1. हृदयकमल और 2. नाभिकमल। सूर्यास्त हो जाने पर ये दोनों कमल संकुचित हो जाते हैं, अत: रात्रिभोजन निषिद्ध कहा गया है। इस निषेध का तीसरा कारण यह भी है कि रात्रि में पर्याप्त प्रकाश न होने से छोटे-छोटे जीव भी खाने में आ जाते हैं।[168]

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश पाकर कमलदल खिल जाते हैं तथा उसके अस्त होते ही सिकुड़ जाते हैं, उसी प्रकार जब तक सूर्य का प्रकाश रहता है,

तब तक उसमें रहने वाली सूर्य किरणों के प्रभाव से हमारा पाचन-तंत्र ठीक काम करता है, उसके अस्त होते ही उसकी गतिविधि मंद पड़ जाती है जिससे अनेक रोगों की संभावनाएँ बढ़ जाती है। अत: रात्रिभोजन करना किसी भी स्थिति में हितकर नहीं है।

रात्रि में भोजन करने से विश्राम में बाधा उपस्थित होती है। हम समझते हैं कि गले के नीचे भोजन उतर जाने से वह पच जाता है, किन्तु ऐसा नहीं है। हकीकत यह है कि भोजन करने में जितना श्रम होता है उससे अधिक परिश्रम भोजन पाचन में होता है। पाचनतन्त्र शरीर का भीतरी तत्त्व है इसलिए शरीर को बाहर से नहीं, अन्दर से श्रम करना पड़ता है। जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं उनका पाचनतन्त्र सक्रिय न होने के कारण भोजन अपाच्य स्थिति में पड़ा रहता है। तत्फलस्वरूप बदहजमी, अपच, अजीर्ण, गैस, वमन आदि कई प्रतिकूल स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और स्वास्थ्य दिनानुदिन गिरता चला जाता है।

एक तथ्यपूर्ण बात यह है कि भोजन करने के बाद तुरन्त सो जाने पर शरीर की सारी ऊर्जा भोजन पचाने में ही व्यय हो जाती है। इसी के साथ जैसी गहरी निद्रा आनी चाहिए व्यक्ति उससे वंचित हो रात्रिभर स्वप्न संसार में गोते लगाते रहता है और करवटे बदलते रहता है। इससे शरीर एवं मन को पर्याप्त विश्राम न मिल पाने के कारण दैहिक स्वस्थता और मानसिक निर्मलता खण्डित होती है अन्तत: सद्मार्ग से च्युत होने की सम्भावनाएँ उपस्थित हो सकती हैं।

कुछ लोगों का तर्क है कि यदि रात्रि को आर्द्र आहार के स्थान पर सूखा आहार लिया जाये तो पाचन की उतनी समस्या नहीं होगी, किन्तु सूखे पदार्थ के उपयोग की बात भी अनुचित है। क्योंकि जब रात्रि में चारों प्रकार के आहार में से कोई भी आहार ग्राह्य नहीं है तो सूखे पदार्थ ग्राह्य कैसे हो सकते हैं? सूखे पदार्थों का आहार भी पाचन के लिए भी वैसा ही है जैसा आर्द्र पदार्थ का आहार।

प्रकृति और पर्यावरण की दृष्टि से

प्रकृति की दृष्टि से भी रात्रिभोजन त्याज्य है। हम अनुभव करते हैं कि सूर्योदय होने के साथ-साथ क्षुधा की पीड़ा भी शुरू हो जाती है और उसके दिन के अन्तिम छोर तक पहुंचने पर क्षुधा वेदना भी उतनी ही बढ़ जाती है। जब वह अपनी यात्रा ढलान की ओर प्रारम्भ करता है, तदनुसार क्षुधा वेदना भी सीमित होने लगती है। यही कारण है कि लौकिक जगत में प्रात: काल का आहार

हल्का, मध्याह्नकाल का आहार पौष्टिक एवं सायंकाल का आहार सात्विक होता है। यह अलग बात है कि व्यक्ति अपनी इच्छापूर्ति के लिए कभी भी कुछ खा-पी ले, किन्तु वास्तविकता लौकिक व्यवहार के पालन में है। दुनियाँ में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो प्राकृतिक महत्त्व को समझते हैं और दिनभर में एक बार ही भोजन करते हैं। सामान्य रूप से चिड़िया, कबूतर, तोता, कौआ आदि पक्षी संध्या होने तक अपने-अपने घोंसलों में चले जाते हैं। पक्षीगण सूर्यास्त के बाद न तो दाना चुगते हैं, न जल पीते हैं और न रात के समय उड़ते हैं। प्रात: सूर्योदय होने पर ही दाना-पानी चुगने निकलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि दिन में भोजन और रात में विश्राम यही प्रकृति का सहज क्रम है। प्राय: रात्रि में या तो हिंसक पशु अपना शिकार ढूँढने निकलते हैं या फिर आधुनिक वातावरण में रहने वाले शहरी पशु ही रात को खाते हैं। मनुष्य के लिये प्राकृतिक एवं स्वाभाविक नियम यही है कि वह रात्रि में विश्राम करे और दिन में श्रम करे।

जैन परम्परा में रात्रिभोजन निषेध की जो मान्यता है वह प्रदूषण मुक्ति की दृष्टि से सर्वथा उचित दिखती है। वस्तुत: रात्रिभोजन का सेवन न करने से प्रदूषित आहार शरीर में नहीं पहुँचता और स्वास्थ्य की रक्षा होती है। सूर्य के प्रकाश में जो भोजन पकाया और खाया जाता है, वह जितना प्रदूषण मुक्त एवं स्वास्थ्यवर्धक होता है, उतना रात्रि के अंधकार या कृत्रिम प्रकाश में पकाया गया भोजन नहीं होता। जैन धर्म ने रात्रिभोजन निषेध के माध्यम से पर्यावरण और मानवीय स्वास्थ्य दोनों के संरक्षण का प्रयत्न किया है। दिन में भोजन पकाना और खाना उसे प्रदूषण से मुक्त रखना है जबकि रात्रि में एवं कृत्रिम प्रकाश के भोजन में विषाक्त सूक्ष्म प्राणियों के गिरने की संभावना प्रबल होती है तथा देर रात्रि तक किये भोजन का परिपाक भी सम्यक् रूपेण नहीं होता है।

यहाँ विज्ञानसम्मत यह कथन भी महत्त्वपूर्ण है कि सूर्य का प्रकाश वातावरण की शुद्धता में प्रबल निमित्त बनता है। सूर्य प्रकाश के माध्यम से वनस्पति जगत के पेड़-पौधे दिन में श्वासोश्वास के द्वारा आक्सीजन- प्राणवायु छोड़ते हैं और कार्बन-डाइ-आक्साइड- प्राणवायु ग्रहण करते हैं जबकि रात्रि में यह प्रक्रिया व्युत्क्रमपूर्वक होती है अर्थात ये पेड़-पौधे रात्रि में आक्सीजन-प्राणवायु को ग्रहण करते हैं और कार्बन-डाइ-आक्साइड-प्राणवायु को बाहर फेंकते हैं। इसमें रहस्य यह है कि आक्सीजनयुक्त हवा शुद्ध होती है तथा कार्बन-डाइ-आक्साइड युक्त हवा अशुद्ध होती है। इससे दिन का वातावरण

शुद्ध और रात्रि का वातावरण अशुद्ध रहता है। इसका फलितार्थ यह है कि शुद्ध वायुमण्डल में भोजन करने से व्यक्ति निरोग रहता है और अशुद्ध में स्वास्थ्य बिगड़ने की संभावना रहती है। अत: पर्यावरण की दृष्टि से भी दिवसकृत भोजन उपादेय माना गया है।

पारिवारिक लाभ की दृष्टि से

मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्मा से परमात्म पद की प्राप्ति है, जिसके लिये आत्म चिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना आवश्यक है। उन सभी सत्प्रवृत्तियों के लिये उचित समय एवं स्थान की अनुकूलता होना भी परमावश्यक है। शांत और एकांत वातावरण का होना भी जरूरी है। जिस घर में रात्रिभोजन न होता हो, वहाँ महिलाओं को रसोईघर से जल्दी छुट्टी मिल जाती है और धार्मिक आराधना के लिये उचित समय भी मिल जाता है।

दूसरे जिन घरों में दिन में भोजन बनता है, वहाँ जैन संतों को भी भिक्षा सहज मिल जाती है। इससे गृहस्थ परिवारों को सामाजिक कार्यों के लिये भी अधिक समय मिल सकता है।

तीसरा लाभ यह है कि जल्दी खाने एवं जल्दी सोने से प्रात: जल्दी उठ सकते हैं, जो स्वास्थ्य एवं स्वाध्याय के लिये सर्वोत्तम समय माना जाता है। अत: पारिवारिक दृष्टि से भी रात्रिभोजन का त्याग किया जाना गुणकारी है।

स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से

सूर्य के प्रकाश में भोजन का निर्माण कर उसी प्रकाश में जो उसका आसेवन (भोजन) करता है, वह अनेक बीमारियों से बचता है। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति का अनुसरण कर रहा व्यक्ति इस बात को विस्मृत कर अपने आपको रोगग्रस्त एवं पाप कर्मों के बाँधने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर रहा है। अस्पतालों में बढ़ती भीड़ इसका प्रतिफल है।

रात्रिभोजन का त्याग इसलिए भी अनिवार्य है कि इससे अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा का पाप लगता है एवं अपने उदर में सुषुप्तावस्था में रहे तंत्र को काम करना पड़ता है। भोजन के बाद पानी पीने के लिए जो पर्याप्त समय चाहिये, वह भी नहीं रह पाता है अत: पाचन क्रिया पूर्णत: नहीं हो पाती है।

अन्न के साथ जल की मात्रा पूरी नहीं होने से उदर की क्रियाशीलता भी मंद हो जाती है। इससे जीवन में रुग्णता की स्थिति भी बनती है। जबकि दिन

में सूर्य की प्रचंड गर्मी एवं उसकी रश्मियाँ शरीर में उष्णता के साथ-साथ रक्त शुद्धिकरण में भी सहायक होती हैं। इसलिए तो कहा गया है कि 'दिन में बनाओ, दिन में खाओ'।

इस तरह शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भी रात्रिभोजन का त्याग करना आवश्यक है। रात्रिभोजन करने से पेट की गड़बड़ी, आँख, कान, नाक, दिमाग, दाँत की गड़बड़ी, अजीर्ण आदि रोगों की संभावनाएँ बढ़ती हैं।

आयुर्वेदाचार्य रात्रिभोजन के सम्बन्ध में कहते हैं कि हमारे शरीर में मुख्यत: दो कमल हैं। एक हृदयकमल जो अधोमुखी है और दूसरा नाभिकमल जो ऊर्ध्वमुखी है। सूर्यास्त होते ही दोनों कमल बन्द हो जाते हैं। हृदय कमल बन्द होने का अर्थ है हृदय का संकोच-विस्तार (फूलना और संकुचन) मन्द पड़ जाना। जिससे फेफड़े पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन ग्रहण नहीं कर पाते और पाचनतन्त्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। आधुनिक डॉक्टर इस कमल को हृदय में थाइमस ग्रन्थि का रूप कहते हैं। यह ग्रन्थि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह समस्त रोगों से रक्षा करती है। यदि यह ठीक ढंग से कार्य न करे तो बालक बीमार पड़ जाता है।

वस्तुत: रात्रिभोजन से होने वाले शीघ्रगामी दुष्परिणाम इस प्रकार जानने चाहिए–

रात्रि भोजन ⟶ हृदय की ओर रक्त प्रवाह में कमी

रात्रि भोजन
↓
आँतों द्वारा भोजन को आगे बढ़ाने की क्षमता में कमी
↓
भोजन का ऊर्ध्वगमन
↓
अम्ल में वृद्धि
↓
आमाशय में जलन (एसीडिटी)
↓
अल्सर

हृदय की ओर रक्त प्रवाह में कमी
↓
वातावरण में ऑक्सीजन की कमी
↓
रक्त प्रवाह में और अधिक कमी
↓
हृदय रोग की सम्भावना

भोजन और शरीर का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। सुयोग्यकाल में किया गया भोजन स्वास्थ्य के लिये कल्याणकारी होता है। जैन-जैनेतर सभी दर्शनों ने

भोजन के लिये दिन के समय को सर्वोत्तम एवं सुयोग्य माना है, क्योंकि सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक की अवधि में सूर्य की किरणों से जो तत्त्व शरीर को प्राप्त होते हैं वे पाचन क्रिया को सक्रिय बनाने में सहायक बनते हैं। क्योंकि सूर्य की ऊर्जा से शरीर का तेजस् केन्द्र (पाचन तन्त्र) सक्रिय होता है, जिससे भोजन आसानी से पच जाता है। सूर्य ऊर्जा के अभाव में तेजस केन्द्र की सक्रियता मन्द हो जाती है अत: रात में किया गया भोजन बराबर पच नहीं पाता है। यदि यह स्थिति कुछ दिनों तक यथावत बनी रहे तो शरीर अनेक अवांछित व्याधियों का शिकार हो सकता है। वर्षाकाल में अनेक बार आठ-आठ, दस-दस दिनों तक सूर्य का प्रकाश देखने को नहीं मिलता। इस कारण उन दिनों अग्निमांद्य, अपच, अजीर्ण आदि की शिकायतें भी स्वत: हो जाती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य ऊर्जा का आहार पाचन से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

रात्रिभोजन से अनिद्रा, उच्च रक्तचाप, हृदयरोग, दमा, चिड़चिड़ा स्वभाव आदि बीमारियों का प्रकोप होने की संभावनाएँ अधिक रहती हैं तथा इन बीमारियों के होने के बाद इनसे शीघ्र राहत पाना भी कठिन होता है। सूर्योदय के साथ फैली हुई सूर्य की ऊर्जा एवं ऊष्मा के कारण सहनशक्ति, पाचनशक्ति, रोग प्रतिरोधात्मक शक्ति विकसित होती है। आज तो सूर्य के माध्यम से अनेक चिकित्साएँ हो रही हैं। सूर्य किरण चिकित्साओं द्वारा विकट से विकट बीमारियों का निवारण हो रहा है। क्षय रोगी के कपड़ों में व्याप्त कीटाणु जो गर्म पानी में उबालने पर भी नष्ट नहीं होते हैं, वे सूर्य की आतापना से नष्ट हो जाते हैं। अत: सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त से पूर्व तक का काल ही भोजन के लिये उचित एवं प्रामाणिक है।

रात्रिकाल में भोजन करने से विद्युत आदि का अनावश्यक खर्च होता है। कदाच विद्युत का कनेक्सन बिगड़ जाये तो मोमबत्ती, लालटेन से काम चलाना पड़ता है। बिजली की रोशनी में काम करने के अभ्यासी लालटेन-मोमबत्ती में साफ नहीं देख पाते हैं। अत: कीट-पतंगे आदि भोजन सामग्री के माध्यम से खाने में आ सकते हैं जिसके कारण कभी-कभी गंभीर बीमारियाँ हो जाती हैं तथा विषैले जन्तुओं के कारण प्राणों से भी हाथ धोना पड़ सकता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने रात्रिभोजन से होने वाले तात्कालिक दुष्परिणामों की चर्चा करते हुए कहा है कि रात्रि में भोजन करने से उसमें बहुत से जीव गिर जाते

हैं और उन जीवों का भक्षण होने से हमारे शरीर एवं मन को कई प्रकार से आघात पहुँचता है। जैसे-

1. अंधकार में यदि भोजन के साथ चींटी आ जाए तो बुद्धि नष्ट होती है। 2. यदि भोजन में मक्खी आ जाए तो तत्काल वमन हो जाता है। 3. जूँ-भक्षण से जलोदर जैसा भयंकर रोग पैदा हो सकता है। 4. यदि भोजन में मकड़ी आ जाए तो कुष्ठ महाव्याधि उत्पन्न हो सकती है। 5. यदि केश मिश्रित आहार खाने में आ जाए तो स्वर भंग हो जाता है और गला बैठ जाता है। 6. कांटा, कील, लकड़ी का टुकड़ा भोजन के साथ गले में अटक जाये तो मृत्यु की संभावना भी बन सकती हैं।[169]

इस प्रकार रात्रिभोजन में अनेक तरह के प्रत्यक्ष रोग और दोष रहे हुए हैं।

प्राचीन काल में रात्रिभोजन त्याग जैनत्व की एक पहचान थी। जो रात्रि में भोजन नहीं करता वही जैन कहलाता था किन्तु आज ऐसा नहीं है।

रात्रिभोजन से स्वास्थ्य प्रतिकूल होने पर चिकित्सा हेतु समय, पैसे आदि का दुरुपयोग होता है तथा दैनिक कार्य की व्यवस्था में बाधा आती है। अतः रात्रिभोजन में स्वास्थ्य, समय, पैसे आदि सबकी हानि ही होती है, अतः विविध दृष्टि से रात्रिभोजन का निषेध सर्वथा युक्तियुक्त है।

चिकित्सा की दृष्टि से

एक प्रचलित कहावत है कि 'पेट को नरम, पांव को गरम, सिर को रखो ठंडा।' जो पेट को नरम रखता है, सिर को ठंडा रखता है यानी गुस्सा नहीं करता है और पांव को गरम रखता है अर्थात रक्तसंचार को नियमित रखता है उसे कभी भी डॉक्टर के पास जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। आजकल लोग पेट को नरम और लाइट रखने के बदले टाईट रखने लगे हैं। भूख के बिना भी दिनभर खाते रहना, मन की तृप्ति के लिये कुछ न कुछ चबाते रहना, शरीर की आवश्यकता से अधिक भोजन पेट में डालते रहना, पेट को नरम रखने के बजाय कठोर रखने के कार्य हैं। जहाँ पेट नरम नहीं रहता वहाँ पांव गरम और सिर भी ठंडा नहीं रह सकता है क्योंकि रक्तचाप असामान्य हो जाता है।

पेट में ठूंस-ठूंस कर खाद्य पदार्थ डालने से उदर सम्बन्धी कई रोग पैदा हो जाते हैं। हम देखते हैं कि जब व्यक्ति रोगग्रस्त रहता है उस समय उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन, उत्तेजना, आवेग आदि दोष स्वाभाविक रूप से पनपते

हैं, जिससे व्यक्ति का दिमाग हमेशा गरम रहता है। इससे स्पष्ट है कि आहार को संयमित, सात्त्विक एवं मर्यादित मात्रा में ग्रहण करना आवश्यक है।

आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार रात्रिभोजन पूर्ण हानिकारक है, क्योंकि भोजन करने के बाद तीन घंटे तक सोना नहीं चाहिये। जबकि रात्रिभोजी तो अक्सर भोजन के पश्चात शीघ्र ही सो जाते हैं, इससे पर्याप्त पानी नहीं पी पाते हैं। सोने से पाचन तन्त्र मंद होने के कारण भोजन पूर्ण रूप से एवं शीघ्र पच नहीं पाता, उसका रस नहीं बन पाता। अत: रात्रिभोजन से अकारण ही पेट की अनेक व्याधियाँ हो सकती हैं। पेट की व्याधि के कारण आँख, कान, नाक, सिर आदि की बीमारियाँ आने में समय नहीं लगता है।

एक बात यह भी है कि सूर्य के प्रकाश में सूक्ष्मजीवों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सूर्य का प्रकाश सूक्ष्मजीवों के लिये अवरोधक तत्त्व है। इस दृष्टि से बड़े-बड़े ऑपरेशन हमेशा दिन के समय में ही होते हैं।

समाहारत: शारीरिक एवं चिकित्सक दृष्टि से भी रात्रिभोजन करना महान हानिकारक है।

रात्रि में भोजन पकाने सम्बन्धी दोष

रात्रि में भोजन बनाते समय दीवार आदि के सहारे रहे हुए जीवों की हिंसा होती है और ज्योति के प्रकाश में भी अन्य अनेक जीवों की हिंसा होती है। कभी खाना बनाते समय बिजली चली जाये तो अंधेरे आदि में स्वयं को शारीरिक नुकसान भी हो सकता है। उस स्थिति में हम सरकारी अधिकारियों को जैसे-तैसे भी बोल देते हैं, उससे अठारह पापस्थान सम्बन्धी कई पापों का बंधन होता है।

यह अनुभव सिद्ध है कि विद्युत के प्रकाश में छोटे-छोटे जीव जन्तु बिल्कुल दिखाई नहीं देते हैं, किसी चीज को साफ करके बनाना हो तो अंधेरे के कारण उसमें रहे हुए घुन, छोटे सफेद कीड़े आदि ऐसे ही हमारे पेट को कब्रिस्तान बना लेते हैं जिससे शारीरिक एवं मानसिक कई रोग पैदा होते हैं और धार्मिक दृष्टि से घने कर्मों का बन्धन होता है। इसलिये रात्रि में भोजन भी नहीं बनाना चाहिये।

रात्रि में खाने सम्बन्धी दोष

रात्रिभोजन करना प्राय: सभी दृष्टियों से नुकसानदायी है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सूर्य प्रकाश में और दीपक के प्रकाश में बहुत बड़ा अन्तर है। सूर्य के

प्रकाश में अनेक प्रकार के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, जबकि रात के समय दीपक के चारों ओर कीट-पतंगें मंडराने लगते हैं। सूर्य का प्रकाश कीट-पतंगों को दूर भगाता है, तो दीपक का प्रकाश दोनों को नजदीक लाता है इसलिये जीवदया पालन करने वाले अहिंसा प्रेमियों को रात्रिभोजन का त्याग निश्चित रूप से करना चाहिये। रात्रिभोजन में बहुत आरम्भ है और जैन दृष्टि से अत्यधिक आरम्भ-सभारम्भ करने वाला जीव नरकगामी होता है। इसलिए रात्रिभोजन को नरक का प्रथम द्वार कहा गया है। जो मानव अल्प आरम्भी होता है वह नरकगति को प्राप्त नहीं होता। इसलिए पाप से डरने वालों को एवं उत्तम प्रकार के साधकों को कम से कम रात्रि को चौविहार और दिन को नवकारसी का पच्चक्खाण अनिवार्यत: करना चाहिये।

ज्ञातव्य है कि अठारह प्रकार के पाप स्थानों में दसवाँ पापस्थान 'राग' है। आगमों में राग को भी पाप कहा है। रात्रिभोजन में राग की अधिकता होती है। रात्रिभोजन करने वालों को दिन की अपेक्षा रात के भोजन में अधिक आनन्द आता है। वे मजा ले लेकर चावपूर्वक रात का भोजन करते हैं। वे कहते हैं- 'रात को खाओ-पीओ, दिन को आराम करो'। इस प्रकार राग भाव पूर्वक रात्रिभोजन करने से पापकर्मों का निकाचित बंध होता है, जिसका पूरी तरह भुगतान किये बिना कभी छुटकारा नहीं होता।

रात्रिभोजन से अगले जन्म में ही नहीं, इस जन्म में भी दुर्गति होती है। रात्रिभोजों में कई बार जहरीले जीव-जन्तु छिपकली आदि गिर जाने से सारा भोजन जहरीला बन जाता है। उस जहरीले भोजन का सेवन करने वाले सब अस्वस्थ हो जाते हैं और फिर उन्हें अस्पताल में भर्ती होना पड़ता है। ऐसी घटनाएँ आये दिन अखबारों में छपती रहती हैं। जिन्हें अपना जीवन प्रिय हो उन्हें अपने एवं अपने परिवार के लिए ही सही रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

सर्वसामान्य दृष्टि से

यदि हम सामान्य दृष्टि से विचार करते हैं तो रात्रिभोजन त्याग से शरीररक्षा और आत्मरक्षा दोनों ही होती है। काल की दृष्टि से भी रात्रि का अधिकतम काल पापाचरण का माना गया है क्योंकि उस समय भोगी, भोग के रस में लिप्त होते हैं। चोर, चोरी करने में व्यस्त रहते हैं। रात को फिरने वाले उल्लू वगैरह पक्षी

खुद के भक्ष्य की खोज में होते हैं।

शरीरशास्त्रियों का कहना है कि सूर्य अस्त होने पर अपने शरीर में रही हुई ऊर्जा शक्ति कम हो जाती है। ऊर्जा शक्ति की हानि होने से रात्रि में किया गया भोजन किस तरह शक्तिवर्धक हो सकता है?

लौकिक व्यवहार में देखते हैं कि कोई निपुण जौहरी हीरा खरीदता है तो वह उसका परीक्षण दिन के प्राकृतिक प्रकाश में करता है, रात्रि के प्रकाश में नहीं। यह भी अनुभव करते हैं कि लाख पावरवाला बल्ब रहने पर भी कमल सूर्यास्त के बाद विकसित नहीं होता। उसे विकसित करने की ताकत तो सिर्फ सूर्य में ही है। उसी प्रकार शरीर मन एवं आत्मा को स्वस्थ रखने की ताकत दिवसकालीन भोजन में ही है।

ऐसा पढ़ा जाता है कि मांसाहारी पशु दिन को आराम करते हैं और रात को आहार की खोज में घूमते हैं। यदि कोई ऐसा कहे कि आजकल शाकाहारी पशु भी रात को खाते हैं तो यह कहना ठीक नहीं है। कदाचित देश कालगत दुष्प्रभाव से यह संभव हो सकता है, अन्यथा असंभव है।

जंगल में रहने वाले गाय, हिरण आदि पशु भी रात्रिभोजन करते हों ऐसा कहीं भी देखा-सुना नहीं गया है। यदि कोई ऐसा कहे कि रात में नहीं खाने से दूसरे दिन तक 14-15 घंटे का अंतर हो जाता है। जबकि सुबह और शाम के भोजन के बीच बहुत अंतर नहीं है। इस कारण रात्रिभोजन का त्याग वैज्ञानिक ढंग वाला नहीं है तो वह सत्य बात से अज्ञात है। सुबह में खाने के बाद जितना परिश्रम किया जाता है उससे बहुत कम परिश्रम रात में खाने के बाद किया जाता है। अत: रात्रिभोजन करना महापाप है।

जैन रामायण की एक छोटी सी घटना इस बात का समर्थन करती है। वह इस प्रकार है कि राम-लक्ष्मण ने वनवास स्वीकार करके वनगमन किया। महासती सीता भी उनके साथ थी। वे दक्षिण में भ्रमण करते-करते कुबेर नगरी में पहुँचे। वहाँ के राजा ने उन सबका आदर-सत्कार किया और अपनी पुत्री वनमाला का विवाह लक्ष्मण के साथ किया। फिर लक्ष्मण राम के साथ आगे बढ़े और वनमाला को पिता के घर ही रहना पड़ा। तब वनमाला ने लक्ष्मण को वापस लौटने की कसम खाने के लिये कहा। तब लक्ष्मण ने प्रण लिया- 'यदि रामचन्दजी को उनके इष्ट स्थान पर छोड़कर वापस न लौटूं तो मुझे पाँच पापों के सेवन का पाप लगे और ऐसे पापी की जो गति होती है, वह गति मेरी हो'

पर वनमाला को इससे संतोष नहीं हुआ। उसने कहा - कि अगर "रात्रिभोजन का पाप लगे" ऐसा कहें तो मैं जाने की आज्ञा देती हूँ अन्यथा नहीं। तब उन्हें आगे बढ़ने की इजाजत दी।[170] यहाँ मार्मिक बात यह है कि प्राणातिपात आदि पापों से जो दुर्गति होती है उससे भी रात्रिभोजन के पाप से बहुत भयंकर दुर्गति होती है।

रात्रि के दोषों को जानकर जो भव्यात्मा सूर्योदय और सूर्यास्त की दो-दो घड़ी छोड़कर भोजन करते हैं (सूर्योदय के बाद दो घड़ी और सूर्यास्त के पहले दो घड़ी छोड़कर) वे पुण्यशाली हैं।[171]

पूर्वाचार्यों ने कहा है कि

चिड़ी कमेड़ी कागला, रात चुगन नहिं जाय।
नरदेहधारी मानवा, रात पड्या क्यूँ खाय।।

रात में फिरे और खावे, मनुज वे निशिचर कहलावे।
निशाचर रावण के भाई, नहीं रघुवर के अनुयायी।।

आज हमें जैनत्व की मूल गरिमा को वापस दृढ़ता से टिकाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। कई भाई-बहन तर्क देते हैं कि कार्य की व्यस्तता एवं महानगरों में दूरियों के कारण रात्रिभोजन त्याग नहीं निभ सकता, यदि गंभीरता से मानसिकता बनायें तो जैसे विदेशी भाई अपनी पानी की बोतल साथ रखते हैं, हम यात्रा में अपना भोजन साथ रखते हैं, ठीक इसी प्रकार दूर जाने वाले कामकाजी भाई-बहनों को शाम का भोजन अपने साथ ले जाना चाहिये। आजकल तो ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिससे लम्बे समय तक भोजन गर्म व ताजा बना रह सकता है। कई भाई-बहन रात्रिभोजन का त्याग तो करते हैं, लेकिन कुछ दिन छूट रखते हैं तथा उन दिनों का उपयोग सामूहिक भोज में करते हैं, यह बिल्कुल अनुचित है। हमें चाहिये कि सामूहिक भोज में तो किसी भी मूल्य पर रात को भोजन नहीं करें, ताकि दूसरों पर गलत छाप नहीं पड़े और जैनत्व बदनाम न हो।

सार रूप में कहा जा सकता है कि रात्रिभोजन त्याग से आहारसंज्ञा पर नियन्त्रण होता है, लोभकषाय पर विजय प्राप्त होती है, भावनात्मक जगत निर्मल बनता है और रात्रिभुक्त त्यागी सद्गति का सर्जन करते हुए चरम लक्ष्य को पा लेता है। यही रात्रिभोजनविरणम-व्रत की प्रासंगिक उपादेयता है।

उपस्थापना व्रतारोपण विधि का ऐतिहासिक विकास क्रम

जैन धर्म में संन्यास (संयम) प्रवेश के दो मार्ग कहे गये हैं। पहला मार्ग श्रमण जीवन में प्रवेश करने से सम्बन्धित है और दूसरा श्रमण समुदाय में सम्मिलित होने सम्बन्धी है। प्रव्रज्या ग्रहण पहला मार्ग है और उपस्थापना स्वीकार दूसरा मार्ग है। प्रव्रज्या के माध्यम से यावज्जीवन सामायिक व्रत में स्थिर रहने का संकल्प किया जाता है और उपस्थापना के माध्यम से यावज्जीवन पंचमहाव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा की जाती है। अत: नवदीक्षित (प्रव्रजित) शिष्य को पंचमहाव्रत पर आरूढ़ करना अथवा स्थापित करना उपस्थापना है। यह संस्कार-विधि श्रमण समुदाय में प्रवेश देने एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र अंगीकार करने हेतु की जाती है। इस अनुष्ठान के द्वारा यह सुनिश्चित हो जाता है कि अमुक श्रमण संयमधर्म के सर्व नियमों का परिपालन करने में योग्य हो चुका है और आवश्यक आचार-विधि का सम्यक् ज्ञाता बन चुका है। साथ ही सर्वविरतिचारित्र पालन के लिए स्वयं को योग्य सिद्ध कर चुका है और श्रमण संघ के साथ प्रतिक्रमण, स्वाध्यायादि करने की अनुमति भी प्राप्त कर चुका है।

बौद्ध-परम्परा में भी संन्यास प्रवेश के दो मार्गों का कथन है 1. श्रामणेर और 2. उपसम्पदा। श्रामणेर दीक्षा जैन धर्म की प्रव्रज्या के समकक्ष है और उपसम्पदा, उपस्थापना के तुल्य है। इनमें यह विशेष निर्देश है कि 8 वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को श्रामणेर दीक्षा तथा 20 वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को उपसम्पदा नहीं देनी चाहिए।[172] यह निर्देश श्रमण-दीक्षा की अयोग्यता से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार की विचारणा जैन-परम्परा में भी है। वैदिक-परम्परा में संन्यास जीवन का विशेष महत्त्व नहीं है। यद्यपि उनमें गृहत्यागी के लिए वानप्रस्थ और संन्यास ऐसी दो व्यवस्थाएँ हैं।

उपस्थापना विधि किस ऐतिहासिक क्रम में विकसित हुई, यह बताना कठिन है। जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है वहाँ एतद् विषयक कोई विवेचन लगभग प्राप्त नहीं होता है, केवल तत्सम्बन्धी कुछ तत्त्वों पर संकेत ही मिलते हैं। यह माना जाता है कि मध्यवर्ती 22 तीर्थङ्करों के काल में मात्र सामायिक चारित्र प्रदान किया जाता है, अलग से उपस्थापना नहीं होती थी। आचारचूला (आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध) में शिष्य की उपस्थापना हेतु पाँच महाव्रतों एवं उसकी पच्चीस भावनाओं का स्वरूप मात्र बताया गया है, किन्तु महाव्रत किस विधिपूर्वक स्वीकार करवाये जाते हैं इसका कोई सूचन नहीं है।

ध्यातव्य है कि आचारांगसूत्र में वर्णित आचार विधियाँ मूलभूत हैं जबकि उत्तरवर्ती सूत्रों में वर्णित आचार मर्यादाएँ परिवर्धित है। आचारचूला में भी आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा आचारसंहिताओं में परिवर्तन देखा जाता है। मूलत: तद्युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर पूर्ववर्ती आचार्यों ने उत्सर्ग और अपवाद के सिद्धान्तों की स्थापना और उसके आधार पर विधि-विधानों का निर्माण किया है। आचारचूला उसी शृंखला की प्रथम कड़ी है।[173]

इसी तरह समवायांगसूत्र[174] एवं प्रश्नव्याकरणसूत्र[175] में पंचमहाव्रतों की पच्चीस भावनाओं का सम्यक् वर्णन किया गया है। उत्तराध्ययन[176] आदि सूत्रों में पंचमहाव्रत के नामों का स्पष्ट उल्लेख है। दशवैकालिकसूत्र[177] में पंचमहाव्रत के आलापक पाठ दिये गये हैं। इसमें छठा रात्रिभोजनविरमणव्रत का आलापक पाठ भी निर्दिष्ट है। इसी प्रकार स्थानांगसूत्र[178] एवं व्यवहारसूत्र[179] में उपस्थापना योग्य तीन भूमियों का वर्णन है। किन्तु इन सभी में महाव्रत स्वीकार करवाने की विधि को लेकर कुछ भी चर्चा नहीं की गई है।

जहाँ तक टीका साहित्य का प्रश्न है वहाँ बृहत्कल्पभाष्य में यह उल्लेख है कि जो गुरु सूत्रार्थ की दृष्टि से अप्राप्त, अकथित, अनभिगत और परीक्षित शिष्य की उपस्थापना करता है वह चतुर्गुरु प्रायश्चित्त का अधिकारी बनता है।[180] निशीथभाष्य में यह कहा गया है कि जो शिष्य नवपदार्थों को सुनकर या जानकर उन पर श्रद्धा नहीं करता है उसे उपस्थापित करने पर आज्ञाभंगादि दोष उत्पन्न होते हैं।[181] निशीथभाष्य में वयादि की अपेक्षा उपस्थापना करने का भी सूचन किया गया है।[182] इसमें उपस्थापना विधि की संक्षिप्त चर्चा करते हुए इतना मात्र उल्लेख है कि 'आचार्य उपस्थापनीय शिष्य को अपने वामपार्श्व में खड़ा करें, फिर महाव्रत आरोपण के निमित्त लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करवायें, फिर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलकर पंचमहाव्रतों का उच्चारण (स्वीकार) करवायें।' इसमें उपस्थापना विधि सम्पन्न करने के लिए प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-तारा-चन्द्रबल आदि देखने का भी निर्देश किया है।[183] इसके सिवाय आवश्यकचूर्णि,[184] दशवैकालिक की अगस्त्य चूर्णि आदि में पाँच भावनाओं एवं तत्सम्बन्धी विषयों का सम्यक् विवेचन है। इस टीका साहित्य के अध्ययन से यह निर्णीत होता है कि उपस्थापना की प्रारम्भिक चर्चा निशीथभाष्य में

अवश्य है, किन्तु अतिसंक्षेप में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमिक टीका साहित्य भी उपस्थापना-विधि का सम्यक् प्रतिपादन नहीं करता है।

जहाँ तक मध्यवर्ती जैन साहित्य का सवाल है वहाँ इस विधि का प्रारम्भिक एवं परिवर्धित स्वरूप हरिभद्रसूरिकृत पंचवस्तुक में परिलक्षित होता है।[185] इसमें उपस्थापना-विधि समुचित रूप से उल्लिखित है।

तदनन्तर इस विधि का परिष्कृत एवं विकसित स्वरूप तिलकाचार्य सामाचारी,[186] सुबोधासामाचारी,[187] सामाचारीप्रकरण,[188] विधिमार्गप्रपा,[189] आचारदिनकर[190] आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इनमें यत्किञ्चिद् सामाचारी भिन्नता के साथ यह विधि मूलरूप से विवेचित है। यहाँ परम्परा एवं ग्रन्थ वैशिष्ट्य का ध्यान रखते हुए विधिमार्गप्रपा के अनुसार इस विधि को प्रस्तुत करेंगे।

उपस्थापना योग्य शिष्य की परीक्षा विधि

पूर्वाचार्यों के मन्तव्यानुसार नवदीक्षित शिष्य उपस्थापना के पूर्ण योग्य हो जाये, तब भी परम्परागत आचरणवश उसकी योग्यता-अयोग्यता की परीक्षा करनी चाहिए। वह परीक्षा-विधि इस प्रकार है[191]—

सर्वप्रथम गीतार्थगुरु शिष्य की मनोभूमिका परखने हेतु स्वयं के मल-मूत्रादि का विसर्जन जीव-जन्तु युक्त भूमि पर करें। स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि सभी प्रवृत्तियाँ जानबूझकर सचित्त, पृथ्वी आदि पर करें। शरीर शुद्धि के लिए सचित्त जल का उपयोग करें। स्थण्डिल आदि के लिए अग्नि वाले प्रदेश में जायें। पंखे आदि से हवा करें। तृणादि वनस्पति पर चलें, बैठें, खड़े रहें। इसी प्रकार गोचरी के समय सचित्त आहार, सचित्त हाथादि से ग्रहण करें, आहार-सम्बन्धी बयालीस दोषों का उपयोग न रखें। ये सभी क्रियाएँ उपस्थापना योग्य शिष्य के समक्ष करें। यदि उस समय इन दोषयुक्त क्रियाओं को देखकर शिष्य स्वयं वैसा आचरण न करे या गुरु को वैसा न करने का निवेदन करे या संघाटक साधु को 'यह करना अनुचित है' आदि प्रेरणा देने वाले वचन कहें तो समझना चाहिए कि यह शिष्य उपस्थापना के योग्य है। इस प्रकार परीक्षा विधि में सफल हो जाने के पश्चात ही गुरु शिष्य की उपस्थापना करें।

उपस्थापना की मौलिक विधि

खरतरगच्छीय विधिमार्गप्रपा[192] के निर्देशानुसार सर्वप्रथम श्रेष्ठ योग में समवसरण (नन्दि) की रचना करवायें। तत्पश्चात गुरु उपस्थापना योग्य शिष्य को स्वयं की बायीं ओर बिठाएं। उसके बाद उस शिष्य से मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करवाकर द्वादशावर्त्तवन्दन दिलवायें। फिर देववन्दन के लिए उपस्थापनाग्राही शिष्य एक खमासमणसूत्र पूर्वक निवेदन करे – 'हे भगवन्! आपकी इच्छा से मुझे पंचमहाव्रत एवं छठा रात्रिभोजनविरमणव्रत का स्वीकार करने के लिए चैत्यवन्दन (देववन्दन) करवायें।' तब गुरु देववन्दन करवाने की स्वीकृति प्रदान करें। तत्पश्चात गुरु शिष्य के उत्तमांग (मस्तक) पर वासचूर्ण का निक्षेपण कर 18 स्तुतियों पूर्वक देववन्दन करवायें। इसमें स्तवन के स्थान पर 'अरिहाणादि स्तोत्र' कहें।

कायोत्सर्ग – उसके बाद गुरु-शिष्य को खमासमण पूर्वक वन्दन करवाकर, पंचमहाव्रतों की प्रतिज्ञा करवाने के लिए सत्ताईस श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग करवाकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। फिर समवसरण में विराजित जिनबिम्ब के चरणों में वासचूर्ण डालें।

पंचमहाव्रत आरोपण – तदनन्तर गुरु तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलकर पंचमहाव्रतों एवं छठे रात्रिभोजनविरमणव्रत के दण्डक पाठों (आलापकों) को तीन-तीन बार उच्चरित करवायें अर्थात महाव्रत ग्रहण करवायें। महाव्रत स्वीकार करते समय शिष्य गुरु के बायीं ओर खड़े होकर हाथ की दोनों कोहनियों से चोलपट्ट को दबाकर रखे, बायें हाथ की अनामिका अंगुली से मुखवस्त्रिका को लटकाते हुए ग्रहण करे, दोनों हाथों को गजाग्र दांतों के समान उन्नत कर उससे रजोहरण पकड़कर रखे तथा हृदयशुद्धिपूर्वक नमस्कार मन्त्र का तीन बार स्मरण कर प्रत्येक व्रतालापक को तीन-तीन बार अवधारित करे। तत्पश्चात शुभ लग्न का इष्ट समय आने पर **'इच्चेयाइं पंचमहव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि'** इतना पाठ गुरु तीन बार कहें और शिष्य उस पाठार्थ को तीन बार ग्रहण करे।

पंचमहाव्रत एवं रात्रिभोजनविरमणव्रत के आलापक निम्न हैं –

अहिंसामहाव्रत – 'पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा,

नेव सयं पाणे अइवाइज्जा, नेवन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्नं न समणुजाणामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।'

सत्यमहाव्रत – 'अहावरे दुच्चे भंते! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं सव्वं भंते! मुसावायं पच्चक्खामि, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेवसयं मुसं वइज्जा, नेवन्नेहिं मुसं वायाविज्जा, मुसं वयंते वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए ...... (शेष पूर्ववत), दुच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं।'

अचौर्यमहाव्रत – 'अहावरे तच्चे भंते! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं सव्वं भंते! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थुलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए .... (शेष पूर्ववत), तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं।'

ब्रह्मचर्यमहाव्रत – 'अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भंते। मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्ख जोणिअं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा, नेवन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए .... (शेष पूर्ववत), चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।'

अपरिग्रहमहाव्रत – 'अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थुलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा, नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा, परिग्गहं परिगिण्हंतेवि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए .... (शेष पूर्ववत), पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।'

रात्रिभोजनविरमणव्रत – 'अहावरे छट्ठे भंते! वए राइभोअणाओ वेरमणं सव्वं भंते! राइभोअणं पच्चक्खामि, से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजेज्जा, नेवन्नेहिं राइं भुजाविज्जा, राइं भुजंते

वि अन्नं न समणुजाणामि जावज्जीवाए .... (शेष पूर्ववत), छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइभोअणाओ वेरमणं।'

वास अभिमन्त्रण एवं वास निक्षेपण – पंचमहाव्रतों का आरोपण करने के पश्चात गुरु वास एवं अक्षत को अभिमन्त्रित करें। फिर जिनबिम्ब के चरणों में वास का क्षेपण करें। तत्पश्चात अभिमन्त्रित वास-अक्षत सकल संघ को प्रदान करें।

सप्त खमासमण एवं प्रवेदन – तदनन्तर पूर्ववत सप्त खमासमण-विधि सम्पन्न करें। प्रथम खमासमणसूत्र के द्वारा पंचमहाव्रत सह रात्रिभोजनविरमण व्रत को आरोपित करने की पुष्टि हेतु निवेदन करें। दूसरा खमासमण देकर गुरु द्वारा आरोपित पंचमहाव्रतादि को अन्यों से निवेदन करने की रीति पूछें। तीसरे खमासमणसूत्र के द्वारा 'मुझ पर पंचमहाव्रतादि का आरोपण इच्छापूर्वक किया गया है ?' इस विषय का निर्णय करें। इसके अनन्तर गुरु-शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालते हुए 'मैंने इच्छापूर्वक तुम में पंचमहाव्रतादि का आरोपण किया है' ऐसा तीन बार कहें। इसके साथ ही 'पूर्वाचार्यों के द्वारा कथित सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ के द्वारा पंचमहाव्रतादि को सम्यक् प्रकार से धारण करना, इनका चिरकाल तक पालन करना, संसार सागर से पार पहुँचना और गुरु गुणों का अनुसरण करते हुए मोक्ष मार्ग में आगे बढ़ना' यह आशीर्वाद प्रदान करें।

चौथे खमासमण के द्वारा 'मैंने पंचमहाव्रतादि स्वीकार किये हैं' ऐसा श्रमण समुदाय को सूचित करने की अनुमति प्राप्त करे।

पांचवाँ खमासमण देकर सकल संघ को सूचित करने हेतु नमस्कारमन्त्र का उच्चारण करते हुए समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। प्रदक्षिणा के समय उपस्थित सकल संघ उपस्थापनाग्राही मुनि के ऊपर वास-अक्षत उछालते हुए तीन बार बधायें।

छट्ठा खमासमण देकर महाव्रतादि स्वीकार किये जाने के निमित्त कायोत्सर्ग करने की अनुज्ञा प्राप्त करें। सातवाँ खमासमण देकर पंचमहाव्रतादि आरोपण निमित्त सत्ताईस श्वासोच्छ्वास (सागरवरगंभीरा तक लोगस्ससूत्र) का कायोत्सर्ग करें।

तदनन्तर एक खमासमणसूत्र के द्वारा पंचमहाव्रतादि में स्थिर होने के लिए कायोत्सर्ग करवाने का निवेदन करें। गुरु अन्नत्थसूत्र पूर्वक (सागरवरगम्भीरा तक) लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करवायें।

नामस्थापन – तत्पश्चात उपस्थापित शिष्य एक खमासमण देकर कहे – 'हे भगवन्! आप अपनी इच्छा से मेरा नया नामकरण करिए।' तब गुरु-शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालते हुए यथोचित नामकरण करते हैं। उसके बाद उपस्थापित शिष्य सभी ज्येष्ठ साधुओं को वन्दन करें। उपस्थित साध्वियाँ, श्रावक एवं श्राविकाएँ उपस्थापित शिष्य को वन्दन करें।

दिशाबन्ध – तदनन्तर उपस्थापित शिष्य एक खमासमण देकर गुरु महाराज से 'दिशाबन्ध' करने का अनुनय करें। तब गुरु चन्द्रकुल, कोटिकगण, वज्र शाखा, अमुक आचार्य और अमुक उपाध्याय का नाम लेकर दिशाबन्ध करें। यदि साध्वी की उपस्थापना हो तो अमुक प्रवर्तिनी का नाम भी लें। यह प्रक्रिया उच्चारण पूर्वक तीन बार की जाती है। प्रचलित परम्परा में दिशाबन्ध और नामस्थापना दोनों विधियाँ एक साथ सम्पन्न होती हैं। इसमें दिशाबन्ध पूर्वक नामकरण किया जाता है।

उपस्थापन के दिन शिष्य को आयंबिल या उपवास करवाया जाता है। वर्तमान में उपवास करवाने की परिपाटी है।

धर्मदेशना – तत्पश्चात गुरु उपस्थित संघ को धर्मदेशना दें। इस देशना में शास्त्र प्रसिद्ध रोहिणी का दृष्टान्त कहें।

तपागच्छ परम्परा में उपस्थापना विधि का स्वरूप लगभग खरतरगच्छ परम्परा के अनुसार ही जानना चाहिए। इसमें क्रम एवं विधि सम्बन्धी भिन्नता इस प्रकार है – 1. यहाँ बृहद नन्दीसूत्र सुनाने की परम्परा है जबकि खरतरगच्छ आम्नाय में लघु नन्दी सुनाते हैं। 2. नन्दीसूत्र सुनाने के पूर्व एवं पश्चात कायोत्सर्ग करने की परिपाटी है। 3. आलापक पाठ सम्बन्धी शब्दों में कुछ हेरफेर है। 4. प्रारम्भिक आलापक पाठों में 'नन्दी करावणी' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। 5. इस परम्परा में उपस्थापना की विधि का यह क्रम है– सर्वप्रथम गुरु शिष्य पर वासनिक्षेप करते हैं, फिर आठ स्तुतियों सहित देववन्दन करवाते हैं, फिर स्थापनाचार्य को वन्दन करवाते हैं, फिर कायोत्सर्ग करवाते हैं, फिर एक नमस्कार मन्त्र के उच्चारणपूर्वक तीन बार नन्दीसूत्र सुनाते हैं। पुनः नन्दी निमित्त कायोत्सर्ग करवाते हैं, फिर महाव्रत के दण्डक का उच्चारण करवाते हैं, फिर सात खमासमण के साथ प्रवेदन विधि करवाते हैं, फिर दिशाबन्ध, नामकरण, प्रत्याख्यान और धर्मदेशना आदि की विधि करते हैं।[193] इसमें गुरु-शिष्य के आलापक पाठ पूर्ववत समझें।

अचलगच्छ परम्परा में उपस्थापना विधि तपागच्छ आम्नाय के अनुसार की जाती है।[194] आचार्य गुणसागरसूरीश्वरजी म.सा. के अनुसार

1. इनमें बड़ी दीक्षा (उपस्थापना) के लिए एक महीने के योग लगातार करवाते हैं। इस योग में नमक वाला आयंबिल तप करवाया जाता है, नीवि तप नहीं होता है।

2. यदि योग चल रहे हों तो बड़ी दीक्षा के दिन भी आयंबिल करवाने की परिपाटी है, उपवास करना अनिवार्य नहीं है।

3. इस परम्परा में उपस्थापित शिष्य को बधाने हेतु वासदान का प्रयोग करते हैं।

पायच्छन्दगच्छीय प्रवर्तिनी ॐकार श्रीजी म.सा. की सुशिष्या साध्वी सिद्धान्तरसा जी के द्वारा प्राप्त सूचना के अनुसार इस परम्परा में उपस्थापना-विधि तपागच्छ सामाचारी के समान करवायी जाती है। इस परम्परा से सम्बन्धित कोई कृति प्राप्त नहीं हो पायी है।

त्रिस्तुतिक परम्परा की सुप्रसिद्ध साध्वी मयूरकला श्रीजी द्वारा निर्दिष्ट जानकारी के अनुसार इस परम्परा में भी उपस्थापना-विधि पूर्ववत ही सम्पन्न की जाती है। इनमें प्राय: लघुदीक्षा से लेकर छह माह के भीतर उपस्थापना कर देते हैं। इनकी परम्परा में साध्वी लघुदीक्षा प्रदान नहीं कर सकती हैं।

स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्पराओं में उपस्थापना की विधि सरल एवं कर्मकाण्ड से रहित है। डॉ. सागरमल जैन के अनुसार लघु दीक्षा से सातवें या आठवें दिन उपस्थापना करने की परिपाटी है। इस विधि में तीन बार वन्दना करवायी जाती है और पांच महाव्रतों सहित रात्रिभोजनविरमण व्रत का आरोपण करवाया जाता है। इनमें पूर्वोक्त दशवैकालिकसूत्र के ही आलापक पाठ बोले जाते हैं। इस दिन विशेष तप करने का कोई विधान नहीं है। इनमें श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्पराओं की भांति दशवैकालिकसूत्र एवं सात मांडली के योग करवाने की सामाचारी भी नहीं है, किन्तु मुनि प्रतिक्रमण एवं दशवैकालिकसूत्र के चार अध्ययनों का अर्थबोध सहित ज्ञान आवश्यक है।

दिगम्बर कृतियों के आधार पर इतना अवगत हो पाया है कि इस परम्परा में दीक्षित पक्ष (जिस पक्ष में लघु दीक्षा हुई है) में अथवा द्वितीय पक्ष में शुभमुहूर्त्त देखकर व्रतारोपण किया जाता है। उस दिन उपस्थापित शिष्य द्वारा रत्नत्रय की पूजा करवाकर उससे पाक्षिक प्रतिक्रमण का पाठ बुलवाया जाता है।

पाक्षिक नियम ग्रहण करने के पूर्व 'यदावदसमिदिः' के व्रतालापक द्वारा व्रत दिलवाते हैं। पाक्षिक नियम ग्रहण करते समय उसे एक तप की प्रतिज्ञा करवायी जाती है। दीक्षादान की अनुमति देने वाले श्रावकों के द्वारा भी कोई एक-एक तप किया जाता है, इसी प्रकार अन्य मुनियों के द्वारा भी तप किया जाता है।

इस दिन मुखशुद्धि करने की परिपाटी भी है। इसमें तेरह, पांच या तीन लवंग-इलायची-सुपारी आदि को कच्चोलिका (पात्रविशेष) में डालकर उस पात्र को मुनि के आगे स्थापित किया जाता है। फिर 'मुखशुद्धिमुक्तकरणं पाठक्रियायां' इतना उच्चरित कर तथा सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, शान्तिभक्ति एवं समाधिभक्ति को पढ़कर मुखशुद्धि हेतु उक्त वस्तुओं को ग्रहण किया जाता है।[195]

अन्य दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में (पर्व 38/78) उन्नीसवीं जिनरूपता नामक क्रिया का उल्लेख है, उसे उपस्थापना के सदृश कहा जा सकता है। यद्यपि परवर्ती संकलित कृतियों में इसे बृहद्दीक्षा-विधि के नाम से उल्लिखित किया गया है।

अनागारधर्मामृत (9/90) में उपस्थापना का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– सावद्य योग के प्रत्याख्यान रूप एक महाव्रत के ही भेद हैं और पाँचसमिति आदि उसी के परिकर रूप में शेष मूलगुण हैं। ये निर्विकल्प सामायिक संयम के ही भेद हैं। जब कोई मुनि दीक्षा लेता है तो निर्विकल्प सामायिक संयम ही ग्रहण करता है, किन्तु अभ्यास न होने के कारण जब व्रतच्युत होता है तब वह भेदरूप व्रतों को धारण करता है और छेदोपस्थापक कहलाता है।

इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि दिगम्बर-परम्परा में बड़ी दीक्षा के दिन उपवास या आयंबिल तप करने की सामाचारी नहीं है। साथ ही श्वेताम्बर सामाचारी के सदृश आवश्यक सूत्रों एवं मांडली के योग करवाने की प्रणाली भी नहीं है। तुलना की दृष्टि से कहें तो श्वेताम्बरों की अपेक्षा दिगम्बर की उपस्थापना-विधि कुछ भिन्न है।

बौद्ध धर्म में उपस्थापना को 'उपसम्पदा' कहा गया है। यहाँ दीक्षित को श्रामणेर और उपसम्पदा धारक को भिक्षु कहते हैं। ये दो कर्म प्रमुख संस्कार के रूप में मान्य हैं। प्रव्रज्या संस्कार अल्पकाल के लिए और उपसम्पदा यावज्जीवन के लिए होती है। सामान्यतः उपसम्पदा संस्कार प्रव्रज्या के पांच वर्ष पश्चात

लगभग बीस वर्ष की आयु में किया जाता है। नियम से उपसम्पदा के बाद ही वह भिक्षु संघ का सदस्य समझा जाता है।[196]

यह उपसम्पदा संघ के विशिष्ट योग्यता प्राप्त भिक्षुओं के समक्ष स्वीकार की जाती है। उपसम्पदा ग्रहण की विधि इस प्रकार है[197]— सर्वप्रथम उपसम्पदापेक्षी भिक्षु संघ में से उपाध्याय (गुरु) का चयन कर संघ से उपसम्पदा की याचना करता है। फिर संघ के पास जाकर दाहिने कन्धे को खोलकर, बांये कन्धे पर उत्तरासंग धारण कर, भिक्षुओं के चरणों में वन्दना करता है। पश्चात उकड़ूमुद्रा में हाथ जोड़कर तीन बार कहता है – भंते! संघ से उपसम्पदा पाने की इच्छा करता हूँ, भन्ते! संघ दया करके मेरा उद्धार करे। तत्पश्चात संघ का एक भिक्षु उपसम्पदापेक्षी श्रमण का परिचय देते हुए संघ को सम्बोधित कर कहता है – भन्ते! संघ मेरी सुने। अमुक् नामवाला, अमुक् नामवाले भिक्षु को उपाध्याय बना, अमुक् नामवाले आयुष्मान का शिष्य, अमुक् नामवाला यह पुरुष उपसम्पदा चाहता है। यदि संघ उचित समझे तो अमुक नाम के उपाध्याय के नेतृत्व में अमुक व्यक्ति की उपसम्पदा करे। तब संघ के श्रेष्ठ भिक्षु उपसम्पदापेक्षी से तेरह प्रकार के प्रश्न पूछते हैं – क्या तुम इन तेरह बीमारियों से मुक्त हो ? 1. कोढ़, 2. गण्ड- एक प्रकार का फोड़ा, 3. विलास- एक प्रकार का चर्मरोग, 4. शोथ, 5. मिरगी, 6. तूं मनुष्य है, 7. तूं पुरुष है, 8. तूं स्वतन्त्र है, 9. तूं उऋण है, 10. तूं राजनैतिक नहीं है, 11. तुझे माता-पिता से अनुमति प्राप्त है, 12. तूं पूरे बीस वर्ष का है, और 13. तेरे पास पात्र-चीवर पूर्ण है। साथ ही तेरा नाम क्या है ? तेरे उपाध्याय का नाम क्या है ? आदि प्रश्न भी पूछते हैं। यदि श्रामणेर इन तेरह दोषों से रहित हो तो उपसम्पदा संस्कार कर दिया जाता है। इतनी विधि पूर्ण होने के बाद ही संघ द्वारा नवशिष्य की उपसम्पदा करने का निर्णय किया जाता है।

उपसम्पदा प्राप्त बौद्ध भिक्षु के लिए कुछ नियमों का पालन करना भी आवश्यक कहा गया है, भिक्षा मांगना, जीर्ण वस्त्र धारण करना, वृक्ष के पादमूल में निवास करना, गौमूत्र को औषधि के रूप में प्रयुक्त करना, आदि।[198] इनके अतिरिक्त चार अकरणीय कर्म बतलाये गये हैं – 1. मैथुन से दूर रहना 2. अदत्त वस्तु ग्रहण न करना 3. हिंसा नहीं करना 4. स्वयं को दिव्यशक्तिमान सिद्ध नहीं करना।

उपस्थापना व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों के रहस्य

उपस्थापना काल में सम्पादित किये जाने वाले विधि-विधानों के कुछ प्रयोजन निम्न हैं–

दिग्बन्धन क्यों?

जिस शिष्य को पाँच महाव्रतों में उपस्थापित किया जाता है उस शिष्य का नया नामकरण और दिग्बन्धन करते हैं। यह विधि उपस्थापना के अन्तिम चरणों में सम्पन्न होती है।

दिग्बन्धन का सामान्य अर्थ है– दिशाओं का बन्धन। व्यवहारसूत्र की टीका में दिग्बन्ध के दो अर्थ किये गये हैं – प्रथम अर्थ के अनुसार नवदीक्षित मुनि या साध्वी के आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्त्तिनी की नियुक्ति करना दिग्बन्ध कहलाता है।[199] द्वितीय अर्थ के अनुसार प्रव्रज्याकाल या उपास्थापनाकाल में किसी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्त्तिनी के अनुसार आदेश-निर्देश में रहने का जो निर्धारण किया जाता है, वह दिग्बन्ध कहलाता है।[200]

प्रस्तुत प्रसंग में दिग्बन्धन का दूसरा अर्थ ग्राह्य है। यह दिग्बन्धन मुनि जीवन को संयमित एवं अनुशासित बनाने के उद्देश्य से किया जाता है। इस विधान के माध्यम से अमुक मुनि या अमुक साध्वी की दीक्षा यानी मर्यादा निश्चित कर दी जाती है कि यह अमुक आचार्य के आदेश-निर्देश में है। जीवन व्यवहार का समुचित ढंग से निर्वहन करने के लिए समुदाय आदि की व्यवस्था बनाये रखना अत्यन्त जरूरी है। दिग्बन्धन के द्वारा प्रत्येक श्रमण या श्रमणी की एक सामुदायिक व्यवस्था निर्मित की जाती है। साथ ही अमुक आचार्य या उपाध्याय के नेतृत्व में उनकी अनुमतिपूर्वक सब कुछ करने का निर्धारण किया जाता है। दिग्बन्धन पूर्वक दीक्षित होने वाला शिष्य भी इस सम्बन्ध में निश्चिन्त रहता है कि मुझे अमुक आचार्य या अमुक उपाध्याय के निर्देशानुसार आत्मसाधना रत रहना है, उनका मार्गदर्शन मेरे संयमी जीवन का आधार है। अत: मुझे सर्वविकल्पों से रहित हो जाना चाहिए।

दिशाबन्ध एक तरह से लक्ष्मण रेखा का कार्य करता है। इससे स्वच्छन्द वृत्ति समाप्त हो आत्मस्वतन्त्रता का मार्ग प्राप्त होता है। दिग्बन्धन का एक प्रयोजन यह माना गया है कि जिस प्रकार किसी मकान को बेचते या खरीदते समय उसके सम्बन्ध में दस्तावेज लिखा जाता है। उस दस्तावेज में मकान के

आस-पास और आगे-पीछे यानि चारों दिशाओं में आये हुए या रहे हुए अन्य मकानादि एवं मार्गादि की जानकारी भी लिखी जाती है, क्योंकि किसी कारणवश खरीदे हुए या बेचे हुए मकान के लिए कोई इन्कार न कर दें। अतः आस-पास की पूरी जानकारी लिखी जाती है उसी प्रकार शिष्य की नामस्थापना करते समय कुल, गण, आचार्य आदि का नाम दस्तावेज के रूप में चतुर्विध संघ के समक्ष तीन बार सुनाया जाता है, क्योंकि मोहवश किसी शिष्य के लिए गुरु या गच्छ परिवर्तन का प्रसंग उपस्थित न हो जाये, अतः कुल, गण एवं आचार्यादि के नाम का दिग्बन्धन किया जाता है।

दिग्बन्धन का तीसरा कारण यह कहा जा सकता है कि इसके निर्वहन से शिष्य गुरु का आज्ञापालक बनता है तथा गुरु और समुदाय के मुनि भी उस शिष्य की प्रकृति को समझकर उसको चारित्र में पुष्ट करते हैं इससे पारस्परिक उपकारक भाव की वृद्धि होती है। निःसन्देह दिग्बन्धन एक शास्त्रोक्त एवं सोद्देश्य प्रक्रिया है।

गजदन्त मुद्रा में महाव्रतों का स्वीकार क्यों ?

पूर्वाचार्यों की मान्यतानुसार जब नवदीक्षित मुनि को महाव्रतों का आरोपण करवाया जाता है उस समय वह शिष्य गजदन्त की भाँति ईषत प्रणत होकर महाव्रतों को स्वीकार करता है। इस मुद्रा में व्रत स्वीकार करने के पीछे यह प्रेरणा दी जाती है कि जैसे हाथी के दाँत बाहर आने के बाद पुनः भीतर नहीं जाते वैसे ही पाँच महाव्रतों को अंगीकार करने के बाद पुनः संसार मार्ग की ओर प्रवृत्त मत होना। यथावत मुद्रा से भाव सुस्थिर बनते हैं।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपस्थापना संस्कार की प्रासंगिकता

नव दीक्षित मुनि में पाँच महाव्रतों का आरोपण करना अथवा उसे चारित्र धर्म में स्थापित करना उपस्थापना कहलाता है। यह विधि-प्रक्रिया कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। यदि हम इस संस्कार विधि का मनोवैज्ञानिक प्रभाव देखें तो यह है कि जहाँ प्रव्रज्या के द्वारा संयमी जीवन की पूर्व ट्रेनिंग दी जाती है वहाँ उपस्थापना के बाद आवश्यक नियमों का तद्रूप पालन करना होता है इससे संयम पालन में दृढ़ता एवं सत्कार्यों के प्रति उत्तरोत्तर अध्यात्म रूचि का प्रादुर्भाव होता है। सम-विषम स्थितियों में समत्वयोग का अभ्यास होता है तथा मनोबल एवं आत्मबल विकसित होता है।

अस्थायी (Temporary) नौकरी स्थायी (Permanent) होने पर जो मानसिक अनुभूतियाँ होती है वही इसके विषय में भी जाननी चाहिए। समस्त विश्व के प्रति हित एवं कल्याण की भावना के कारण सम्पर्क में आने वाले लोगों में भी यही भाव निर्मित होते हैं। वैचारिक प्रदूषण घटता है। जीवन में असत्य, हिंसा आदि के लिए अवकाश ही नहीं रहने से उसमें होने वाले व्यर्थ के मानसिक श्रम की बचत होती है।

वैयक्तिक स्तर पर उपस्थापना संस्कार से संकल्पशक्ति सर्जित होती है। पंचमहाव्रतों एवं तत्सम्बन्धी नियमों के श्रवण से मुनि को स्वमर्यादा का ज्ञान होता है। मुनि धर्म की आवश्यक क्रियाओं के प्रति सजगता बढ़ती है। स्वयं को परिस्थिति एवं समुदाय के अनुकूल बनाने हेतु अहंकार का दमन एवं कषायों का उपशमन कर दुर्गुणों को दूर करने का प्रयास होता है। समुदाय में पूर्णरूपेण सम्मिलित होने से तज्जनित कार्यों में भी सहर्ष रूप से सम्मिलित हो सकता है। अन्य कार्यों में प्रवृत्ति न होने से आध्यात्मिक विकास में अग्रसर हो सकता है। गुरु एवं गीतार्थ समुदाय के सम्पर्क में रहने से स्वयं किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त रह सकता है।

यदि सामाजिक स्तर पर उपस्थापना-विधि की मूल्यवत्ता देखें तो निम्न लाभ परिलक्षित होते हैं – सामान्य गृहस्थ को साधु जीवन की कठिनता एवं उनके नियमों का ज्ञान होता है जिससे संयमी जीवन के प्रति अनुमोदना के भाव जागृत होते हैं। स्व कर्त्तव्यों का भान होता है। सामान्य जन संयम की ओर प्रवृत्त होते हैं। किसी भव्य जीव को संयम ग्रहण की प्रेरणा मिल सकती है तथा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि जो उपस्थापना हेतु पधारे हैं उनकी सेवा एवं वाणी श्रवण का लाभ संघ समाज को मिल सकता है।

यदि उपस्थापना विधि का प्रबन्धन के सन्दर्भ में विचार किया जाए तो उपस्थापना में व्यक्ति प्रबन्धन से लेकर समाज प्रबन्धन आदि में सहयोगी कई सूत्र उपलब्ध होते हैं। उपस्थापना के माध्यम से साधक वैयक्तिक साधना को स्वीकार करते हुए समूह से जुड़ता है। अपनी प्रत्येक इन्द्रिय चेष्टा को नियन्त्रित करते हुए मन, वाणी, भाषा एवं कायिक क्रियाओं आदि पर सम्पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है जिससे स्वशक्ति एवं वीर्य में संवर्धन होता है। सामूहिक रूप में किस प्रकार एक-दूसरे के साथ सामञ्जस्य बिठाकर चलना अथवा नियोजन पूर्वक रहना आदि की विशेष कला का ज्ञान होता है। गुरु के द्वारा शिष्यों के

हितार्थ उन पर अनुशासन करना, उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें उस क्षेत्र में प्रवृत्त करना तथा योग्यता न होने पर शिष्य में आवश्यक कलाओं को विकसित करना आदि सामूहिक प्रबन्धन के लिए सर्वश्रेष्ठ सूत्र हैं। सामाजिक एवं सामुदायिक कार्यभार अधिक होने पर भी गुरु किस प्रकार प्रत्येक कार्य को सम्यक् रूप से संचालित करते हुए आत्मसाधना में निमग्न एवं प्रसन्नचित्त रहते हैं इस तरह की प्रवृत्तियाँ देखने से तनाव मुक्ति के उपाय हासिल होते हैं। निश्रावर्ती शिष्यों और लघु गुरुभ्राताओं आदि में आध्यात्मिक साधना का विकास एवं अनुशासन आदि की व्यवस्था का ज्ञान होता है। इस प्रकार उपस्थापना के माध्यम से वैयक्तिक, सामुदायिक, व्यावहारिक, वाणी आदि कई प्रबन्धनों के रहस्यों को अनुभूत किया जा सकता है। हम साधु जीवन को प्रबन्धन की पाठशाला (स्कूल ऑफ मैनेजमेण्ट) की उपमा दे सकते हैं।

उपस्थापना के दौरान सत्य वाणी का प्रयोग करने से शिष्य की वृत्तियाँ एवं प्रवृत्तियाँ कूट-कपट, दम्भ-माया, निन्दा-कलह, परपीड़न आदि से रहित होकर कल्याणकारी तथा कार्य सफलता में सहायक होती हैं। इस प्रकार वाणी, कषाय, जीवन आदि के प्रबन्धन का समुचित विकास होता है।

उपस्थापना संस्कार की उपयोगिता को आधुनिक समस्याओं के सन्दर्भ में देखा जाए तो इससे वैयक्तिक समस्याएँ जैसे मान-अपमान, ज्ञान दम्भ, अज्ञानता के कारण हीन भाव, स्पर्धात्मक मानसिकता के कारण घटती सुख शान्ति एवं आत्महत्या के हेतुभूत पारिवारिक कलह का निवारण हो सकता है, क्योंकि मुनि तो प्रत्येक स्थिति को समभाव से सहन करता है जिससे तनाव आदि उत्पन्न ही नहीं होता तथा अपरिग्रह, अचौर्य आदि वृत्तियों के माध्यम से इच्छाओं पर भी नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है।

नव दीक्षित जिस समुदाय या मण्डली में परिवार सदृश अपनत्व से रहता है वहाँ गुर्वाज्ञा एवं सहवर्ती मुनियों के सेवाभाव को प्रमुखता देने से सामुदायिक क्लेश आदि उत्पन्न नहीं होते। समाज में नैतिकता एवं धर्म की स्थापना होती है। उपस्थापित मुनियों के सत्संग में रहने से सामाजिक समस्याएँ जैसे– साम्प्रदायिक उन्माद, पाश्चात्य संस्कृति का बढ़ता प्रभाव, आधुनिक भोगवाद, पूज्यों के प्रति घटता सम्मान आदि समस्याएँ स्वत: तिरोहित हो जाती हैं। गृहस्थ व्यक्ति फिर भी अपने परिवार में बंटवारा कर अलग रह जाता है, किन्तु साधु समुदाय में सब कुछ गुर्वाज्ञा पर आधारित होता है। यदि शिष्य गुरु से पृथक् हो

जाये तो उसका मूल्य घट जाता है। अत: सामाजिक समस्याओं के निराकरण में उपस्थापना जीवन्त आदर्श प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार उपस्थापना यानी सर्वविरति चारित्र का अंगीकार इस युग में अत्यन्त प्रासंगिक है।

तुलनात्मक अध्ययन

नवदीक्षित शिष्य को सर्वविरति धर्म में सुनियोजित एवं सुस्थिर करना उपस्थापना का मूल अभिप्रेत है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में इस विधि से सन्दर्भित कुछ प्रामाणिक ग्रन्थ देखे जाते हैं जो भिन्न-भिन्न सामाचारियों से प्रतिबद्ध होकर रचे गये हैं। यदि तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो पारस्परिक समानताएँ एवं असमानताएँ सुस्पष्ट हो जाती हैं।

नन्दीरचना की अपेक्षा – पंचवस्तुक, तिलकाचार्यसामाचारी, सुबोधा-सामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में यह निर्देश समान रूप से है कि उपस्थापना जिनभवन या प्रशस्त क्षेत्र में जिनबिम्ब की साक्षी में की जानी चाहिए।

नन्दीश्रवण की अपेक्षा – उपस्थापना विधि के अन्तर्गत उपस्थापित शिष्य को नन्दीसूत्र का श्रवण करवाया जाना चाहिए या नहीं? इस सम्बन्ध में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। आचार्य हरिभद्र,[201] तिलकाचार्य,[202] श्रीचन्द्राचार्य,[203] जिनप्रभसूरि[204] ने नन्दीपाठ सुनाने को आवश्यक नहीं माना है, अत: उन्होंने अपने स्वरचित ग्रन्थों में नन्दीपाठ सुनाने का उल्लेख भी नहीं किया है; किन्तु आचार्य वर्धमानसूरि[205] ने इसे अनिवार्य माना है इसलिए इस पाठ को तीन बार सुनाने का निर्देश किया है। इससे निश्चय होता है कि उपस्थापना के दरम्यान नन्दीसूत्र सुनाने की परम्परा परवर्ती है। यह विधि विक्रम की 14वीं शती के पश्चात अस्तित्व में आई और तपागच्छ आदि परम्पराओं में आज भी मौजूद है।

प्रत्याख्यान की अपेक्षा – उपस्थापित शिष्य को उपस्थापना के दिन कौन-सा तप करवाया जाना चाहिए? इस सम्बन्ध में मतान्तर हैं। पंचवस्तुक,[206] सुबोधासामाचारी,[207] सामाचारीप्रकरण,[208] एवं विधिमार्गप्रपा[209] के अनुसार उस दिन आयंबिल या नीवि तप करवाया जाना चाहिए। तिलकाचार्य सामाचारी[210] के मतानुसार आयंबिल तप और आचारदिनकर[211] के निर्देशानुसार उपवास या

आयंबिल तप करवाया जाना चाहिए। सम्प्रति श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में उपवास तप करवाने की परिपाटी प्रचलित है।

वासदान की अपेक्षा – उपस्थापित मुनि को बधाने एवं उसके उज्ज्वल जीवन के लिए मंगलमय भावों को दर्शाने हेतु वास या अक्षत में से किसका प्रयोग किया जाना चाहिए ? इस सम्बन्ध में पंचवस्तुक के रचयिता ने कोई सूचन नहीं किया है। तिलकाचार्य सामाचारी[212] एवं आचारदिनकर[213] में गुरु सहित चतुर्विध संघ के द्वारा वास प्रदान करने का उल्लेख है। सामाचारी प्रकरण[214] में भी वासदान का ही उल्लेख किया गया है, किन्तु चतुर्विध संघ द्वारा किससे बधाया जाना चाहिए, इसका कोई वर्णन नहीं है। सुबोधासामाचारी[215] में वास-अक्षत दोनों को अभिमन्त्रित करने का निर्देश तो है, किन्तु वास द्वारा जिनबिम्ब का पूजन करने का सूचन किया गया है। साथ ही मुनि आदि के द्वारा अक्षतों से बधाने का वर्णन है। विधिमार्गप्रपा[216] के अनुसार वास-अक्षत दोनों से बधाया जाना चाहिए, किन्तु कौन-किससे बधाये? इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है। जबकि वर्तमान में साधु-साध्वी वास चूर्ण से और श्रावक-श्राविका अक्षतों से बधाते हैं।

मन्त्रदान की अपेक्षा – उपस्थापित शिष्य का दिग्बन्धन करने के पश्चात उसे गुरु परम्परागत मन्त्र प्रदान करना चाहिए। यह सूचन आचारदिनकर में प्राप्त होता है।[217] आचार्य वर्धमानसूरि ने लघु दीक्षा एवं बृहद् दीक्षा दोनों में मन्त्र प्रदान करने को आवश्यक माना है और दोनों में एक ही मन्त्र सुनाने का निर्देश किया है। यह सम्प्रदायगत अवधारणा मालूम होती है न कि पूर्वपरम्परागत आचरणा।

विधिचरण की अपेक्षा – उपस्थापना काल में मुख्य रूप से कितने चरण निष्पन्न किये जाते हैं, इसका सामाचारी सम्बन्धी ग्रन्थों में सुस्पष्ट विवेचन नहीं है यद्यपि सामान्य रूप से देववन्दन, कायोत्सर्ग, वासनिक्षेप, व्रतारोपण, सप्तखमासमण, अक्षतवर्धापन, व्रतस्थिरीकरण कायोत्सर्ग, दिग्बन्धन, प्रत्याख्यान, ज्येष्ठवन्दन और धर्मव्याख्यान ऐसे कुल ग्यारह चरणों का विवरण क्रम वैभिन्य के साथ उपलब्ध होता है। सामाचारीप्रकरण में नौ चरणों से सम्बन्धित एक गाथा उद्धृत की गयी है। वह इस प्रकार है—

पदिआइ[1] वास[2] चिइ[3], वय तिअतिअवेला[4] खमासमणसत्त[5]
दिसिबंधो दुविहा[6], तिहा तव[7] देसण[8] मंडलीसत्त।[9]

योगवहन की अपेक्षा – जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में उपस्थापना करने से पूर्व नवदीक्षित शिष्य के लिए आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र के प्रारम्भ के चार अध्ययनों का योग (तपोनुष्ठानपूर्वक सूत्राध्ययन) करना अनिवार्य माना गया है। सामुदायिक मण्डली में प्रवेश करने हेतु सात आयंबिल भी आवश्यक कहे गये हैं।

जहाँ तक आवश्यकसूत्रादि के अध्ययन का सवाल है वहाँ यह वर्णन सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा में दृष्टिगत होता है। तदनन्तर यह चर्चा आचारदिनकर में प्राप्त होती है। पूर्ववर्ती ग्रन्थों में कहीं भी, इन सूत्रों का योग उपस्थापना हेतु किया जाना चाहिए, ऐसा उल्लेख नहीं है। इस सम्बन्ध में इतना जरूर पढ़ने को मिलता है कि प्राचीनकाल में आचारांगसूत्र का शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन पढ़ाया जाता था। दशवैकालिकसूत्र की रचना होने के अनन्तर इसके चार अध्ययनों को विधिपूर्वक पढ़ने-पढ़ाने की परम्परा प्रचलित हुई जो आज भी अस्तित्व में है।

जहाँ तक मंडली योग का प्रश्न है वहाँ पंचवस्तुक, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधासामाचारी, आचारदिनकर आदि में उपस्थापना करने के बाद मण्डली तप करने का निर्देश है। इन ग्रन्थों में सात मण्डली की गाथा भी दी गयी है। इससे सिद्ध है कि मण्डली तप की अवधारणा विक्रम की 8वीं शती से पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। आज कुछ परम्पराओं में आवश्यकसूत्र एवं मण्डली के सात आयंबिल करवाकर उपस्थापना कर देते हैं। यदि इन योगतप के मध्य शुभदिन आ रहा हो, तो अच्छे मुहूर्त्त में उपस्थापना भी कर देते हैं। फिर शेष योग उसी क्रम में पूर्ण करवाते हैं। कुछ परम्पराओं में एक महीने के योग (तप) करवाने के पश्चात उपस्थापना करते हैं। इसमें दशवैकालिकसूत्र के योग में पन्द्रह दिन, आवश्यकसूत्र के योग में सात दिन एवं मंडली के योग में सात दिन इस प्रकार कुल तीस दिन लगते हैं।

स्थानकवासी, तेरापंथी एवं दिगम्बर इन सम्प्रदायों में मंडली या सूत्रादि योग की परम्परा नहीं है।

यदि दिगम्बर परम्परा से तुलना की जाए तो अवगत होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में इस क्रिया का अधिकारी आचार्य, उपाध्याय आदि पदवीधर मुनि या बीस वर्ष की संयमपर्याय वाला मुनि माना गया है। दिगम्बर-परम्परा

(आदिपुराण, पर्व 39, पृ. 276) में उत्कृष्ट चारित्रवान मुनि को इस विधान का योग्याधिकारी माना है।

श्वेताम्बर परम्परा में उपस्थापना करते समय पाँच महाव्रतों एवं छठे रात्रि भोजन-त्यागव्रत की प्रतिज्ञा दिलवायी जाती है। जबकि दिगम्बर परम्परागत आदिपुराण (पर्व 39, पृ. 276) के निर्देशानुसार प्रव्रज्या इच्छुक को लिंगदान के पश्चात पंचमहाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का नियन्त्रण, भू-शयन आदि उत्तरगुणों का भी आरोपण करवाया जाता है।

यदि उपस्थापना विधि की तुलना बौद्ध-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में की जाये तो उनके वहाँ मान्य दस भिक्षु शील जैन-परम्परा के पंचमहाव्रतों के अत्यधिक निकट हैं। वे दस शील हैं – 1. प्राणातिपात विरमण, 2. अदत्तादान विरमण, 3. अब्रह्मचर्य या कामेसु मिच्छाचार विरमण, 4. मूसावाद (मृषावाद) विरमण, 5. सुरामेरयमद्य (मादकद्रव्य) विरमण, 6. विकाल भोजन विरमण, 7. नृत्यगीतवादिंत्र विरमण, 8. माल्यधारण, गन्धविलेपन विरमण, 9. उच्चशय्या, महाशय्या विरमण, 10. स्वर्ण-रजत ग्रहण विरमण।[218]

इनमें से छह शील पंचमहाव्रत और रात्रिभोजन परित्याग के रूप में जैन-परम्परा में भी स्वीकृत हैं। शेष चार भिक्षु शील भी जैन-परम्परा में स्वीकृत हैं यद्यपि महाव्रत के रूप में इनका उल्लेख नहीं है तथापि भिक्षु के लिए मद्यपान, माल्य धारण, गन्ध विलेपन, नृत्यगीतवादिंत्र एवं उच्चशय्या का वर्जन किया गया है।

यदि थोड़ी गहराई से दोनों परम्पराओं की समरूपता को देखने का प्रयास किया जाय तो यह कहना होगा कि जैन-परम्परा के महाव्रतों और बौद्ध-परम्परा के भिक्षु-शीलों में न केवल बाह्य शाब्दिक समानता है वरन् दोनों की मूलभूत भावना भी समान है।

यदि उपस्थापना विधि का तुलनात्मक पक्ष वैदिक परम्परा के सन्दर्भ में उजागर किया जाये तो जैन परम्परा के पंचमहाव्रत के समान ही वैदिक-परम्परा में पंचयम स्वीकार किये गये हैं। पातञ्जल योगसूत्र में निम्न पंच यम माने गये हैं–[219] 1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय, 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह। इन्हें महाव्रत भी कहा गया है।

जिस प्रकार जैन परम्परा में सर्वविरति चारित्र की प्राप्ति हेतु पंचमहाव्रत

एवं कुछ नियमोपनियमों का पालन करना आवश्यक माना गया है उसी प्रकार वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिए अहिंसा आदि पंचयम का स्वीकार करना जरूरी कहा गया है।

इस सम्बन्ध में कुछ गहनता से विचार करें तो जहाँ तक अहिंसा-महाव्रत का प्रश्न है, जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराएँ त्रस और स्थावर की हिंसा को निषिद्ध मानती हैं। फिर भी वैदिक परम्परा में जल, अग्नि, वायु आदि में जीवन का अभाव माना गया है। इसलिए उनकी हिंसा से बचने का कोई निर्देश उपलब्ध नहीं है।

सत्य महाव्रत के सन्दर्भ में वैदिक-परम्परा में भी काफी गहराई से विचार किया गया है। इसमें प्रिय-सत्य बोलने का विधान है और अप्रिय-सत्य बोलने का निषेध है। महाभारत के अनुसार सत्य बोलना अच्छा है; किन्तु सत्य भी ऐसा बोलना चाहिए, जिससे सब प्राणियों का हित हो।[220] ब्रह्मचर्य महाव्रत के सन्दर्भ में भी वैदिक-परम्परा में स्वीकृत मैथुन के आठ अंग जैन-परम्परा में बतायी गयी ब्रह्मचर्य की नव बाड़ों से काफी अधिक निकटता रखते हैं।

इस प्रकार पंचमहाव्रत को लेकर जैन-बौद्ध और वैदिक-परम्परा का दृष्टिकोण काफी समान है।

उपसंहार

जैन अवधारणा में अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह इन पांच नियमों को यावज्जीवन के लिए स्वीकार करना महाव्रत कहलाता है, इसी का अपरनाम उपस्थापना है। इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र भी कहते हैं। यह व्रतारोपण संस्कार नवदीक्षित मुनि को श्रमण समुदाय में प्रवेश देने हेतु एवं सामायिक चारित्र से छेदोपस्थापना चारित्र अंगीकार करवाने हेतु किया जाता है। जैन मुनि की संयम पर्याय उपस्थापना के बाद से ही मानी जाती है।

जैन ग्रन्थों में उपस्थापना की भूमिका को प्राप्त करने वाले मुनि के लिए कुछ सूत्रों का विधिपूर्वक अध्ययन किया जाना आवश्यक माना गया है। वे सूत्र दैनिक आचार विधि एवं निर्दोष संयम पालन की विधि से सम्बन्धित हैं। यह परिपाटी श्वेताम्बर सम्प्रदायों में ही देखी जाती है।

आचारदिनकर (पृ. 85) के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अरिहन्त परमात्मा सामायिक चारित्र ही ग्रहण करते हैं। पंचमहाव्रत रूप छेदोपस्थापना

चारित्र स्वीकार नहीं करते हैं। अत: उनके लिए आवश्यकादि सूत्रों को योगपूर्वक पढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसमें यह भी उल्लेख है कि अजितनाथ प्रभु से लेकर पार्श्वनाथ प्रभु तक बीच के बाईस तीर्थङ्करों के साधु-साध्वी के लिए भी उपस्थापना हेतु षडावश्यक सूत्रों का विधिपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रथम एवं अन्तिम तीर्थङ्कर के साधु-साध्वी को मण्डली प्रवेश के पूर्व आवश्यकसूत्र एवं दशवैकालिकसूत्र का योगोद्वहन करना चाहिए।

यदि उक्त कथन पर समीक्षात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाये तो उन साधुओं की ऋजुप्राज्ञ भूमिका को देखते हुए ग्रन्थकार का मन्तव्य समीचीन लगता है। चूंकि बाईस तीर्थङ्कर के साधु-साध्वी ऋजुप्राज्ञ (सरल एवं बुद्धिमान्) होने से किसी भी स्थिति को शीघ्र समझ लेते हैं अत: उन्हें पुन:-पुन: कहने या अभ्यास की जरूरत नहीं रहती। इसी कारण उनके लिए दैनिक प्रतिक्रमण का भी विधान नहीं है।

पूर्वोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चरम तीर्थाधिपति भगवान महावीर के साधु-साध्वियों के लिए पंचमहाव्रत स्वीकार करने से पूर्व आवश्यकसूत्रादि के योगोद्वहन करना अत्यावश्यक है। यहाँ यह जान लेना भी जरूरी है कि भगवान महावीर के शासन में भी आर्य शय्यम्भव के द्वारा की गयी दशवैकालिकसूत्र की रचना के पूर्व तक उपस्थापना हेतु आचारांग के प्रथम अध्ययन का ज्ञान आवश्यक माना जाता था।

उपस्थापना विधान के माध्यम से साधु में साधुत्व गुण का आरोपण किया जाता है। एक अभ्यासी या learning साधु को मुनि जीवन में प्रवेश करने का License मिल जाता है। इसी कारण इसे मुनि जीवन का महत्त्वपूर्ण विधान माना गया है। प्रस्तुत अध्याय में मुनि जीवन के व्रतों की चर्चा करते हुए जनमानस को उससे परिचित करवाने का प्रयास किया है।

सन्दर्भ सूची

1. पाइयसद्दमहण्णवो, पृ. 1745

2. उपस्थाप्यन्ते व्रतान्यारोप्यन्ते यस्यां सा उपस्थापना।
अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 911

3. चारित्र विशेषे, धर्मसंग्रह, दूसरा अधिकार

4. व्रतेषु स्थापनायाम् उपस्थापना। अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.2, पृ. 911

5. *वयट्ठवणमुवट्ठवणा।*

   (क) पंचकल्पभाष्य

   (ख) पंचाशकवृत्ति-उद्धृत वही, पृ. 911

6. *एगविहो पुण सो संजमो त्ति, अज्झत्थ-बाहिरो य दुहा।*
   मण - वयण - काय तिविहो, चउव्हिो चाउजामो उ।।
   पंच य महव्वयाइं, तु पंचहा राइभोयणे छट्ठा।
   सीलंगसहस्साणि य, आयारस्सप्पवीभागा।।

   आचारांगनिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक) 313-314

७. *(क) अनुयोगद्वार, संपा. मधुकरमुनि, सू. 472, पृ. 381*
   (ख) तत्त्वार्थसूत्र, 9/18
   (ग) उत्तराध्ययनसूत्र, 28/32-33

8. *(क) विशेषावश्यकभाष्य, मल्लधारी- हेमचन्द्राचार्यवृत्ति, गा. 1263-1264*
   (ख) पंचाशकटीका, 11/3, पृ. 177

9. *(क) वही, गा. 1268-69*
   (ख) पंचाशकटीका, पृ. 177

10. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1270*
11. *वही, गा. 1273*
12. *वही, गा. 1277*
13. *वही, गा. 1279-80*
14. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/54-55*
15. *वही, 3/2/163*
16. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1257*
17. *दशवैकालिकसूत्र प्रथमचूला, संपा. मधुकरमुनि, 1-18*
18. *आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसंग्रह) गा. 98-100, 1174*
19. *पंचवस्तुक, गा. 613-614*
20. *वही, गा. 615*
21. *(क) वही, गा. 615*
    (ख) धर्मसंग्रह, गा. 108
22. *स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/2/186*

23. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/20
24. व्यवहारभाष्य, अनु. मुनि दुलहराज, गा. 4604-4606
25. पंचवस्तुक, गा. 616-620
26. (क) बृहत्कल्पभाष्य, भा. 1, गा. 412, पृ. 119
(ख) निशीथभाष्य, अमरमुनि, गा. 3764, 3768, 3770
(ग) पंचवस्तुक, गा. 622-623, 633-636
27. मंसंकुरो इव समाणजाइ, रूवंकुरोव लंभाओ।
पुढवी विद्रु मलव, णेवलादओ हुंति सच्चित्ता।।
पंचवस्तुक, गा. 645
28. भूमी खय साभाविअ, संभवओ दुदुरो व जलमुत्तं।
अहवा मच्छोव्व सभाव, वोमसंभूअ पायाओ।।
वही, गा. 646
29. आहाराओ अणलो, विद्धिविगारोवलंभओ जीवो।
अपरप्पेरिअ तिरिआणि अमिअ दिग्गमणओ अनिलो।।
वही, गा. 647
30. जम्मजरा जीवण मरण, रोहणाहार दोहलामयओ।
रोग तिगिच्छाईहि अ, नारिव्व सचेअणा तरवो।।
वही, गा. 648
31. बेइंदियादओ पुण, पसिद्धया किमि पिपीलि भमराई।
कहिऊण तओ पच्छा, वयाइं साहिज्ज विहिणा उ।।
वही, गा. 649
32. दशवैकालिकसूत्र, 4/11
33. वही, 4/11
34. वही, 8/3-13
35. निशीथभाष्य, अमरमुनि, भा. 1, गा. 289 की चूर्णि
36. (क) आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/15/778
(ख) समवायांगसूत्र, 25/1
(ग) प्रवचनसारोद्धार, 72/636
37. पंचवस्तुक, गा. 655

38. दशवैकालिकसूत्र, 4/12
39. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 788
40. सद्भ्यो हितं सत्यम। वही, पृ. 788
41. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत। तत्त्वार्थसूत्र, 5/29
42. सच्चं लोगम्मिसारभूयं। प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/2
43. सच्चं .... पभासकं भवति सव्वभावाणं।

वही, 2/2

44. मनस्येकं वचस्येकं, काये चैकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्, काये चान्यद् दुरात्मनाम्।।

जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 790

45. ऋग्वेद, 7/104-12
46. सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रविः।
सत्येन वायवो वान्ति, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

शिवपुराण (उमासंहिता) 24,27

47. अश्वमेघ सहस्रं च, सत्यं च तुलयाधृतम्।
लक्षाणि क्रतवश्चैव, सत्यमेव विशिष्यते।।

शिवपुराण (उमासंहिता) 29

48. सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।

रामचरितमानस, भा. 2, पृ. 46

49. बृहदारण्यक उपनिषद्, 5/5/1-2
50. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 799
51. वही, पृ. 799
52. सत्यं स्वर्गस्य सोपानं, पारावारस्तु नौरिव।

महाभारत (उद्योगपर्व), 5/33/46

53. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 799
54. (क) प्रज्ञापनासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, भाषापद 11/193
(ख) प्रवचनसारोद्धार, 139/890
55. दशवैकालिकसूत्र, आठवाँ अध्ययन
56. (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, 7/175, पृ. 160

(ख) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/89

(ग) प्रज्ञापनासूत्र, भाषापद, 11/862

(घ) प्रवचनसारोद्धार, 139/891

57. (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, 7/176, पृ. 160

(ख) स्थानांगसूत्र, 10/90

(ग) प्रज्ञापनासूत्र, भाषापद, 11/863

(घ) प्रवचनसारोद्धार, 139/892

58. (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, 7/177

(ख) स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/91

(ग) प्रज्ञापनासूत्र, संपा. मधुकरमुनि, भाषापद 11/865

(घ) प्रवचनसारोद्धार, 893

59. (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, 7/178-79

(ख) जैन भाषा दर्शन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 96

(ग) प्रज्ञापनासूत्र, भाषापद 11/866

(घ) प्रवचनसारोद्धार, 894-895

60. दशवैकालिक हारिभद्रीय टीका, पृ. 147

61. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/3/3/510

62. निशीथचूर्णि, अमरमुनि, 312

63. (क) आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/3/3/510

(ख) समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25/1

(ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. 637

64. पंचवस्तुक, गा. 656

65. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 4/13

66. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 813

67. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/2/48

68. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, आश्रवद्वार

69. तमभिलषति सिद्धिस्तं वृणीते समृद्धिः,
तमभिसरति कीर्तिर् मुंचते तं भवार्त्तिः।
स्पृहयति सुगतिस्तं, नेक्षते दुर्गतिस्तम्,

परिहरति विपत्तियों न गृह्णात्यदत्तम्।।

सिन्दूर प्रकरण, गा. 33

70. अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानं।

योगदर्शनम्, साधनापाद, 2/37

71. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 103
72. प्रश्नव्याकरण, अध्ययन 3
73. दशवैकालिकसूत्र, 6/14-15
74. (क) व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 8/11
75. (क) समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25/1
    (ख) आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/15/784
    (ग) प्रवचनसारोद्धार, गा. 638
76. पंचवस्तुक, गा. 657
77. दशवैकालिकसूत्र, 4/14
78. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसात मेदस्ततोऽस्थि च।
    अस्थ्यो मज्जा ततः शुक्रं ....।।

अष्टांगहृदय, 3/6

79. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 824
80. ब्रह्मचर्येण वै विद्या, अथर्ववेद, 15/5-17
81. सूत्रकृतांगटीका, उद्धृत- जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 829
82. अथर्ववेद संहिता, 111/5/पृ. 266-67
83. देव-दाणव-गन्धव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
    बम्भयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करन्ति तं।।

उत्तराध्ययनसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 16/16

84. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/4/141, पृ. 213
85. ज्ञानार्णव, 11/5
86. वही, 11/10
87. वही, 11/28
88. वही, 11/29-31
89. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/4/142

90. वही, पृ. 219

91. अप्पमत्तो अयं गन्धो, यायं तगरचन्दनी।
य च सीलवतं गन्धो, वाति देवेसु उत्तमो।।
धम्मपदं, राहुल सांकृत्यायन, 4/13

92. सीलगन्धसमो गन्धो, कुतो नाम भविस्सति।
यो समं अनुवाते च, पटिवाते च वायति।।
सग्गारोहणसोपानं, अञ्ञं सीलसमं कुतो।
द्वारं वा पन निब्बान- नगरस्स पवेसने।।
विशुद्धिमार्ग, भिक्षुधर्मरक्षित, भा. 1, परिच्छेद 1, पृ. 12

93. आचारांगनिर्युक्ति, गा. 30 की वृत्ति

94. उत्तराध्ययनसूत्र, 16/1-10

95. मूलाचार, 10/105-106

96. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. 339

97. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 2/4/5

98. वही, 2/4/6

99. वही, 2/4/7

100. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप पर आधारित, पृ. 828

101. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 6/7-12

102. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 5/21

103. बृहत्कल्पसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 6/3

104. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/15/787

105. पंचवस्तुक, गा. 658

106. दशवैकालिकसूत्र, 4/15

107. 'मूर्च्छा परिग्रहः' तत्त्वार्थसूत्र, 7/27

108. न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इदं वुत्तं महेसिणा।।
दशवैकालिकसूत्र, 6/20

109. परि सामस्त्येन ग्रहणं परिग्रहणं ...... मूर्च्छावशेन परिगृह्यते आत्मभावेन ममेति बुद्धया गृह्यते इति परिग्रहः। प्रश्नव्याकरण टीका, 215

110. (क) बृहत्कल्पसूत्र, 1/831
(ख) जैन सिद्धांत बोल संग्रह, भा.5, पृ. 33
111. प्रश्नव्याकरणसूत्र, पृ. 761
112. मूलाचार, 1/14
103. आचारांगसूत्र, 1/2/5/90
114. वही, 1/5/1/141
115. प्रश्नव्याकरणसूत्र, श्रुत. 2, अ. 10
116. उत्तराध्ययनसूत्र, 29/31,34
117. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 8/16
118. निशीथभाष्य, संपा. अमरमुनि, भा. 1, गा. 395 की चूर्णि
119. समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25
120. पंचवस्तुक, गा. 660-661
121. आयारचूला, 15/44-48, 52-55, 58-62, 65-69, 72-76
122. समवायांगसूत्र, 25
123. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार
124. दशवैकालिकसूत्र, 4/16-17
125. उत्तराध्ययनसूत्र, 23/12
126. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/15, पृ0 415
127. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, संवरद्वार
128. दशवैकालिक जिनदासचूर्णि, पृ. 153
129. विशेषावश्यकभाष्य मलयगिरिटीका, गा. 1241-45
130. मूलाचार, 5/296
131. भगवतीआराधना, गा. 1179
132. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, पृ. 870
133. विशेषावश्यकभाष्य, मलयगिरिटीका, गा. 1239, 1243
134. वही, 1240, 1245
135. उत्तराध्ययनसूत्र, 19/31
136. दशवैकालिकसूत्र, 3/2
137. वही, 4/16

138. *वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।*
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं ।।
दशवैकालिकनिर्युक्ति, 268

139. *दशवैकालिकसूत्र, 8/28*

140. *किं रातीभोयणं मूलगुण: उत्तरगुण:? उत्तरगुण एवायं।*
तहावि सव्वमूलगुणरक्खा हेतुत्ति मूलगुणसम्भूतं पढिज्जति ।।
दशवैकालिक अगस्त्यसिहंचूर्णि, पृ. 86

141. *विशेषावश्यकभाष्य, गा. 1247*

142. *योगशास्त्र, 3/48-49*

143. *वही, 3/62, 65-66*

144. *(क) उलूककाकमार्जार, गृद्ध संबरशुकरा: ।*
अहिवृश्चिक गोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात ।।
योगशास्त्र, 3/67

(ख) उमास्वामी, श्रावकाचार, 329

(ग) श्रावकाचार सारोद्धार, 118 उद्धृत-श्रावकाचार संग्रह, भा.3

145. *करोति विरतिं धन्यो, य: सदा निशि भोजनात ।*
सोऽर्द्धं पुरुषायुष्कस्य, स्यादवश्यमुपोषित: ।।
योगशास्त्र, 3/69

146. *रत्नसंचयप्रकरण, 447-451*

147. *सागारधर्मामृत, 4/24*

148. *पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गा. 132-33*

149. *मूलाचार, गा. 296-97*

150. *भगवतीआराधना, 6/1179-1180*

151. *दर्शनसार, पृ. 38*

152. *चारित्रसार, पृ. 13*

153. *आचारसार, 5/70*

154. *सर्वार्थसिद्धि, 7/1 टीका पृ. 343-44*

155. *तत्त्वार्थराजवार्तिक, 7/1 की टीका, भा. 2 पृ. 534*

156. *तत्त्वार्थवार्तिक, 7/1 टी., पृ. 5-458*

157. *तत्त्वार्थवृत्ति, 7/1*

158. *चत्वारो नरकद्वारा, प्रथमं रात्रिभोजनम्।*

परस्त्रीगमनं चैव, सन्धानानन्तकायिके ॥

रात्रिभोजन महापाप, पृ. 25

159. मद्यमांसाशनं रात्रौभोजनं कंदभक्षणम् ।
ये कुर्वन्ति वृथास्तेषां, तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥

महाभारत (ऋषीश्वर भारत)

160. देवैस्तु भुक्तं पूर्वाह्ने, मध्याह्ने ऋषिभिस्तथा ।
अपराह्ने तु पितृभि, सायाह्ने दैत्यदानवैः ॥
संध्यायां यक्षरक्षोभि, सदा भुक्तं कुलोद्वह ।
सर्ववेलां व्यतिक्रम्य, रात्रौ भुक्तम भोजनम् ॥

(क) यजुर्वेद, आह्निक श्लोक 24-19
(ख) श्रावकाचारसारोद्धार, 3/106-7

161. नक्तं न भोजयेद्यस्तु, चातुर्मास्ये विशेषतः ।
सर्वकामानवाप्नोति, इहलोके परत्र च ॥

योगवासिष्ठ पूर्वार्ध श्लोक 108

162. स्कंदपुराण, स्कंध 7/11/235

163. मृते स्वजनमात्रेऽपि, सूतकं जायते ध्रुवम् ।
अस्तंगते दिवानाथे, भोजनं क्रियते कथम् ॥

(क) मार्कण्डेय पुराण
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार, 3/109

164. एकं समयं भगवा कासीसु चारिकं चरति महता भिक्खुसंघेन सद्धिं। तत्र खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि- "अहं खो, भिक्खवे, अञत्रेव रत्तिभोजना भुंजामि। अञत्र खो पनाहं, भिक्खवे, रत्तिभोजना भुंजमानो अप्पाबाधतंच संजानामि अप्पातंकतंच लहुट्ठानंच बलंच फासुविहारंच। एथ, तुम्हेपि, भिक्खवे, अञत्रेव रत्तिभोजना-भुंजथ। अञत्र खो पन, भिक्खवे, तुम्हेपि रत्तिभोजना, भुंजमाना अप्पाबाधतंच संजानिस्सथ लहुट्ठानंच बलंच फासुविहारंचा" ति।

मज्झिमनिकाय-कीटागिरि सुत्तं, 2.2.10

165. ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं, वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य, फलं मासेन जायते ॥

(क) महाभारत, शांतिपर्व 16
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार, 3/108
(ग) उमास्वामी श्रावकाचार, 325

166. योगशास्त्र, 3/60

167. रात्रिभोजन एक वैज्ञानिक दृष्टि, पृ. 13-14

168. हन्नाभिपद्मसंकोच, चण्डरोचिरपायतः।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥
योगशास्त्र, 3/60

169. (क) योगशास्त्र, 3/50-53
(ख) श्रावकाचार सारोद्धार, 2/98-102
(ग) उमास्वामी श्रावकाचार, 321-24

170. श्रुयते ह्यन्यशपथाननादृत्यैव लक्ष्मणः।
निशाभोजनशपथं, कारितो वनमालया ॥
योगशास्त्र, 3/68

171. अह्नो मुखेऽवसाने च, यो द्वे द्वे घटिके त्यजन्।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥
वही, 3/63

172. बुद्धिज्म, टी.वी. राइस डेविस, पृ. 159

173. भिक्षु आगम विषय कोश, भूमिका, पृ. 31

174. समवायांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 25.

175. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, संवरद्वार

176. उत्तराध्ययनसूत्र, 21/12

177. दशवैकालिकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, चतुर्थ अध्ययन

178. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 3/2/186

179. व्यवहारसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 10/17

180. बृहत्कल्पभाष्य, गा. 411

181. निशीथभाष्य, गा. 3754

182. वही, गा. 3764, 3768, 3770

183. वही, गा. 3758 की चूर्णि

184. आवश्यकचूर्णि, भा. 2, पृ. 143

185. पंचवस्तुक, गा. 667

186. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 23

187. सुबोधासामाचारी, पृ. 19
188. सामाचारीप्रकरण, पृ. 15-16
189. विधिमार्गप्रपा, पृ. 38-40
190. आचारदिनकर, पृ. 85-88
191. पंचवस्तुक, गा. 663-666
192. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 110-112
193. श्रीप्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ. 39-44
194. दीक्षा बड़ी दीक्षादि विधिसंग्रह, पृ. 43-49
195. हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह (प्र.खं.) पृ. 496
196. विनयपिटक, पृ. 106
197. वही, पृ. 132
198. वही, पृ. 125-129
199. व्यवहारभाष्य, अनु. मुनि दुलहराज, 1303 वृत्ति
200. दिशेति व्यवदेशः। प्रव्राजनकाले उपस्थापनाकाले वा। यो आचार्य उपाध्यायो वा व्यपदिश्यते सा तस्य दिशा इत्यर्थः॥
निशीथसूत्र, 10/11 की चूर्णि
201. पंचवस्तुक, गा. 668-674
202. सामाचारी, पृ. 23
203. सुबोधासामाचारी, पृ. 15
204. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 109.112
205. आचारदिनकर, पृ. 85
206. पंचवस्तुक, गा. 673
207. सुबोधासामाचारी, पृ. 15
208. सामाचारीप्रकरण, पृ. 15
209. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 112
210. सामाचारी, पृ. 24
211. आचारदिनकर, पृ. 87
212. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 23
213. आचारदिनकर, पृ. 87

214. सामाचारीप्रकरण, पृ. 15

215. सुबोधासामाचारी, पृ. 15

216. विधिमार्गप्रपा, पृ. 110

217. आचारदिनकर, पृ. 87

218. पाणातिपातावेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी, अब्रह्मचरिया वेरमणी, मुसावादा वेरमणी, सुरामेरयमज्जपमादट्ठाना वेरमणी, विकालभोजना वेरमणी, नच्चगीतवांदित-विसूकदस्सना वेरमणी, मालागन्धविलेपनधारण-मण्डनविभूसनट्ठाना वेरमणी, उच्चासयनमहासयना वेरमणी, जातरूपरजतपटिग्गहणा वेरमणी।

विनयपिटक महावग्गपालि, पृ. 106

219. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।

योगदर्शनम्, 2/30.

220. महाभारत शान्तिपर्व, 326/13

●

सहायक ग्रन्थ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अनगार धर्मामृत	पं. आशाधर	माणकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	1977
2.	अनगार धर्मामृत	संपा. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1977
3.	अमरकोश	कविराज अमरसिंह	निर्णय सागर मुद्रालय, बम्बई	1921
4.	अन्तकृतदशासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
5.	अथर्ववेद	संपा. आर. रॉथ और डब्लू डी. ह्वटने	बर्लिन	1856
6.	अथर्ववेद संहिता	अग्निमहर्षि रचित	हरयाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल, रोहतक	वि.सं. 2041
7.	अभिधान राजेन्द्र कोश (भा.4)	आचार्य राजेन्द्रसूरि	अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद	1986
8.	अनुयोगद्वार	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति ब्यावर	
9.	अनुत्तरोपपातिक सूत्र (अंगसुत्तणि)	संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
10.	अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1981

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
11.	आवश्यकनिर्युक्ति (भा. 1-2)	आचार्य हरिभद्रसूरि रचित	भैंरूलाल कन्हैलाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई	वि.सं. 2038
12.	आवश्यकनिर्युक्ति (निर्युक्ति संग्रह)	आचार्य भद्रबाहु स्वामी	हर्षपुष्पामृत जदैन ग्रन्थमाला लाखावाबल, शान्तिपुरी	1989
13.	आवश्यकचूर्णि (भा.2)	जिनदासगणि महत्तर	श्री ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वे. संस्था, रतलाभ	1928
14.	आचारसार	वीरनन्दी रचित	मणिकचंद्र ग्रन्थमाला, मुंबई	1917
15.	आचारदिनकर (भा.1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णय सागर मुद्रालय, मुम्बई	1922
16.	आचारदिनकर(भा. 1-2)	संपा.जसवंतलाल शाह	दोशीवाडानी पोल, अहमदाबाद	1981
17.	आचारचूला (अंगसुत्ताणि भा. 1)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1974
18.	आचारांगसूत्र	संपा. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1989
19.	आचारांगनिर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)	संपा. आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारतीय, लाडनूं	1999
20.	आदिपुराण	अनु. डॉ. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	2000
21.	उत्तराध्ययनसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
22.	उमास्वामी श्रावकाचार (श्रावकाचार संग्रह)	पं. हीरालाल जैन	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1988
23.	उपधान स्मारिका			
24.	उपासकदशासूत्र (अंगसुत्तणि)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
25.	ऋग्वेद संहिता (भा. 1)	संपा.श्रीराम शर्मा आचार्य	ब्रह्मवर्चस शांतिकुंज, हरिद्वार	वि.सं. 2056
26.	कल्पसूत्र	संपा. विनयसागर	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	1984
27.	गणिविद्या	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	
28.	चारित्रसार	चामुण्डराय रचित	भा.दि. जैन ग्रंथमाला, मुंबई	1974
29.	जिणधम्मो			
30.	जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप	आचार्य देवेन्द्र मुनि	तारक गुरु जैन ग्रंथालय, उदयपुर	1982
31.	जैन भाषा दर्शन	डॉ. सागरमल	भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली	1986
32.	जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ	डॉ. अरुण प्रताप सिंह	पार्श्वनाथ विद्यापीठ,बनारस	1986
33.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भा. 2)	डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ,बनारस	1982

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
34.	जैन एवं बौद्ध शिक्षा दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. विजय कुमार	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	2003
35.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (भा. 2)	जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1993
36.	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र (अंगसुत्ताणि)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारतीय, लाडनूं	वि.सं. 2049
37.	ज्ञानार्णव	शुभचन्द्राचार्य रचित	परमश्रुत प्रभावक मंडल, राजचन्द्र, आश्रम अगास	1981
38.	योगदर्शनम्	स्वामी सत्यपति परिव्राजक	दर्शनयोग महाविद्यालय, सागपुर	2001
39.	यजुर्वेद संहिता	अनु. आर.टी.एच. ग्रिफीथ	लाजरस, बनारस	1999
40.	योगवासिष्ठ	वाल्मीकि	तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी	1988
41.	योगशास्त्र (हिन्दी अनुवाद)	संपा. मुनि नेमिचन्द्र	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली	1975
42.	रामचरित मानस (भा.2)	आचार्य राजयश सूरि टीका.पं. विजयानन्द त्रिपाठी	मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी	
43.	रात्रिभोजन महापाप			
44.	रात्रिभोजन एक वैज्ञानिक दृष्टि	मुनि निर्भय सागरजी	निर्भय निर्ग्रन्थ वाणी प्रकाशन, दिल्ली	

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
45.	विनयपिटक	अनु.राहुल सांस्कृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी	1935
46.	विनयपिटक (विनयसंग्रह अट्ठकथा)	भदन्त सारिपुत्त	विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी	1998
47.	विनयपिटक (महावग्गपालि)	भदन्त सारिपुत्त	विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी	1998
48.	विपाक सूत्र(अंगसुत्ताणि)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
49.	विधिमार्गप्रपा	रचित जिनप्रभसूरि	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
50.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	अनु.साध्वी सौम्यगुणा श्री	श्री महावीर स्वामी जैन, देशसर पायधुनी, मुंबई	2006
51.	विशुद्धिमार्ग (भा. 1)	अनु. भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा सारनाथ, वाराणसी	1956
52.	विशेषावश्यक भाष्य (भा. 1-2)	संपा.राजेन्द्र विजयजी	बाइ समरथ जैन श्वे. ज्ञानोद्धार ट्रस्ट, अहमदाबाद	वि.सं. 2489
53.	विशेषावश्यक भाष्य भाषांतर (भा.1) (मल्लधारी हेमचन्द्राचार्य वृत्ति)	संपा. गणि वज्रसेन विजय	भद्रंकर प्रकाशन शाही बाग, अहमदाबाद,	वि.सं. 2053
54.	व्यवहार सूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
55.	शिवपुराण (भा. 1-2)	पं. श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली	1988
56.	श्रमणाचार	संपा. पं. लाडली प्रसाद जैन	ताराचन्द जी अजमेरा कृष्णानगर, दिल्ली	1989
57.	श्रावकाचार संग्रह (भा.3)	पं. हीरालाल जैन	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1988
58.	षोडशक प्रकरण (भा.2)	आचार्य हरिभद्रसूरि रचित	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2052
59.	समवायांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1990
60.	सागार धर्मामृत	अनु. पं. कैलाशचन्द शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	1944
61.	सानुवाद व्यवहार भाष्य	मुनि दुलहराज	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2004
62.	सामाचारी	तिलकाचार्य रचित	डाह्याभाई मोकमचंद, पांजरापोल, अहमदाबाद	वि.सं 1990
63.	सामाचारी संग्रह	संकलित		
64.	सामाचारी प्रकरण	संकलित		
65.	सुबोधा सामाचारी	श्रीमद् चन्द्राचार्य रचित	जीवनचन्द्र साकरचन्द्र जवेरी बाजार, मुंबई	वि.सं. 1990
66.	सिन्दूर प्रकरण	मुनि कल्याण विजय	भूपेन्द्रसूरि जैन साहित्य प्रकाशन समिति, आहोर	1997

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
67.	स्थानांगसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
68.	स्थानांग टीका	टीका. अभयदेवसूरि	रायबहादुर धनपतसिंह, बनारस	1880
69.	स्कंद पुराण			
70.	संवेग रंगशाला	आचार्य जिनचन्द्रसूरि रचित	पं. बाबूभाई सवचन्द्र मनसुखभाई पोल, कालुपुर, अहमदाबाद	
71.	संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1966
72.	संस्तारक प्रकीर्णक	अनु. डॉ. सुरेश सिसोदिया	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1995
73.	हरिवंश पुराण	आचार्य जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1962
74.	हुम्बुज श्रमण भक्ति संग्रह (भा. 1)		श्री दिगम्बर जैन दिव्य ध्वनि प्रकाशन, जयपुर	वि.सं. 2521
75.	तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति रचित		
76.	तत्त्वार्थ राजवार्तिक (भा. 1-2)	आचार्य अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	1953 1957
77.	तत्त्वार्थ वृत्ति	वृत्तिकार सिद्धसेनगणि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, मुंबई	1982
78.	तिलोयपण्णत्ति (भा. 1)	संपा. डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी	केन्द्रीय साहित्य भंडार, कोटा	

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
79.	दशवैकालिक सूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1993
80.	दशवैकालिक निर्युक्ति	मुनि पुण्यविजय	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद	2003
81.	दशवैकालिक वृत्ति	आचार्य हरिभद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, बंबई	1918
82.	दशवैकालिक चूर्णि	जिनदासगणि	ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम	1933
83.	दशवैकालिक चूर्णि	अगस्त्यसिंह	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद	2003
84.	दक्ष स्मृति (20स्मृतियाँ)	संपा. पं. श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली	1966
85.	दशाश्रुतस्कन्ध(नवसुत्तणि)		जैन विश्व भारती, लाडनूं	1987
86.	दीक्षा बड़ी दीक्षादि विधि संग्रह	संकलित पूर्णचन्द्र सूरि	जैन श्वे. संघ, वासरडा	
87.	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका	टीका. यशोविजय उपा. जी	दिव्य दर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2051
88.	धर्मसंग्रह (भा. 3)	संपा. मुनिचन्द्र विजय	जिनशासन आराधना ट्रस्ट, भूलेश्वर, बम्बई	1984
89.	धर्मसंग्रह (भा. 3)	उपाध्याय मानविजय जी	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ	1994
90.	धर्मशास्त्र का इतिहास	डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे	उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ	1992

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
91.	धम्मपद	अनु.राहुल सांकृत्यायन	भिक्षु प्रज्ञानन्द बुद्ध विहार, लखनऊ	1957
92.	नन्दीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
93.	नन्दीसूत्र (हारिभद्रीय टीका)	संपा. मुनि पुण्यविजय	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी	1966
94.	निशीथभाष्य (भा.1-4)	संपा. अमर मुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
95.	निशीथचूर्णि	संपा. अमर मुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1982
96.	पाइयसद्दमहण्णवो	पं. हरगोविन्ददास	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1986
97.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	अनु. गंभीरचन्द	दुलीचन्द जैन ग्रन्थमाला सोनगढ़	वि.सं. 2029
98.	प्रव्रज्यायोगादिविधि संग्रह			
99.	प्रज्ञापनासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1993
100.	प्रवचन सारोद्धार (भा. 1-2)	नेमिचन्द्र सूरि रचित	जीवनचन्द्र साकरचन्द जवेरी, बम्बई	1926
101.	प्रवचन सारोद्धार (भा.1-2)	अनु. हेमप्रभा श्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2000
102.	प्राचीन सामाचारी	पूर्वाचार्य संकलित		

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
103.	प्रश्नव्याकरण सूत्र (अंगसुत्ताणि)	संपा.युवाचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
104.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	संपा. मधुकर मुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
105.	पंचवस्तुक (भा. 1-2)	अनु. राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट भिवंडी, बम्बई	वि.सं. 2060
106.	पंचाशक प्रकरण	अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1997
107.	पंचाशक टीका	टीका. अभयदेवसूरि	निर्णय सागर प्रेस, कोलभाट लेन, मुंबई	1912
108.	बाल दीक्षा समर्थन विशेषांक		सन्मार्ग प्रकाशन रीलिफ रोड, अहमदाबाद	2008
109.	बुद्धिज्म	टी.वी. राइस डेविस	इण्डोलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली	1973
110.	बृहत्कल्पभाष्य	संपा. मुनि पुण्यविजय	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	1936
111.	बृहत्कल्प सूत्र (त्रीणि छेद सूत्राणि)	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
112.	बृहदारण्यक उपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 1995
113.	भगवतीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
114.	भगवतीसूत्र	संपा. पं. बेचरदास जी	श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई	1974
115.	भगवती आराधना	ले. अपराजित सूरि	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा	1935
116.	भिक्षु आगम विषय कोश (भा. 1)	संपा. आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारतीय, लाडनूं	1996
117.	मज्झिमनिकाय-कीटागिरि सुत्तं			
118.	महाभारत (खं. 6)	अनु.पं.रामनारायणदत्त	गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2046
119.	महापुराण (भा. 2)	अनु.पं.जिनदासशास्त्री	शांतिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, फलटण	1982
120.	मार्कण्डेय पुराण			
121.	मूलाचार (भा. 1-2)	टीका ज्ञानमती माताजी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	वि.सं. 1992

●

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
गुरुवर्य्या	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जन श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन सरिता की सुनहरी लहरें

- वतमान संदर्भों में प्रव्रज्या संस्कार कितना प्रासंगिक?
- दीक्षा दाता एवं दीक्षा ग्राही की Primary qualification?
- नपुंसक, विकलांग आदि दीक्षा के अयोग्य क्यों?
- बाल दीक्षा के विरोध में उठते ज्वलंत प्रश्न एवं उनका शास्त्रोक्त समाधान?
- तीर्थंकरों ने मुनि दीक्षा के उपदेश को प्राथमिकता क्यों दी?
- दीक्षा के लिए अनुमति आवश्यक क्यों?
- दीक्षा सम्बन्धी विधि-विधानों के मार्मिक रहस्य?
- मण्डली तप का वहन मुनि किसलिए करे?
- मुनि के लिए केशलोच की अनिवार्यता क्यों?
- रात्रिभोजन आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, प्राकृतिक एवं शारीरिक दृष्टि से लाभप्रद कैसे?
- मुनि जीवन में पाँच महाव्रतों का आरोपण क्यों करवाया जाता है?

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (IV)